

प्रत्येकबुद्ध बन, जीता कर्म महायुद्ध

(करकण्डू, द्विमुख और नगगति)

आत्म-बंधुओं !

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया है।

पच्चीस बोल के चौदहवें बोल में मोक्ष के चार भेदों का वर्णन आया है। उनमें तीन तो यही हैं और चौथा है—सम्यक् तप।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारों के पूर्व में एक शब्द है—सम्यक्। तात्पर्य यह कि जब तक मिथ्यात्व है, तब तक ज्ञान भी अज्ञान है, दर्शन भी मिथ्या है, चारित्र भी पापरूप है और तप भी बाल या अज्ञान तप है। चाहिए सम्यक्पना, सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टि तभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान बनेगा।

ज्ञानादि चारों साधनों का संयोग एक साथ हो और सम्यक्त्व भी हो तो आत्मा मोक्षमार्गी बनेगी और सिद्ध क्षेत्र की ओर निरन्तर अग्रसर होती रहेगी।

कहाँ है सिद्ध-क्षेत्र ? यह लोक चौदह राजू प्रमाण माना गया है। इस लोक के अग्र भाग पर सिद्धशिला स्थित है। सिद्धशिला के ऊपर से लोकांत तक सिद्ध-क्षेत्र, मुक्तालय, सिद्धालय माना गया है।

□ मोक्ष तो गये पर मुक्त नहीं बने

यह जीव अनेकानेक बार सिद्ध-क्षेत्र में जाकर पुनः लौट आया है; क्योंकि जैसे जाना चाहिए, वैसे नहीं गया। गया तो सिद्ध-क्षेत्र में ही, पर वहाँ जाकर भी वापस आना

पड़ा इसी संसार में, 84 लाख जीवयोनि में। हमें ऐसे वहाँ पर जाना इष्ट नहीं है। हमें तो वहाँ जाना तभी इष्ट है कि पुनः संसार में न आना पड़े। अपने आप में इस तरह का परिवर्तन करके जाने का महत्त्व है कि पुनः किसी परिवर्तन की आवश्यकता ही न पड़े।

जीव के दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। पृथ्वी, अप्, तेऊ, वायु, वनस्पति रूप पाँच स्थावर में प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म—एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें चर्म-चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता। ऐसे सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरे पड़े हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जो इनसे तिल मात्र भी रिक्त हो। पूरे लोक में भरे हैं तो सिद्ध-क्षेत्र में नहीं हैं क्या ? सिद्ध-क्षेत्र लोक में नहीं है क्या ?

बंधुओं ! जीव ने ऐसी कोई योनि शेष नहीं रखी, जिसका उसने स्पर्शन न किया हो। अनेकों बार यह जीव सूक्ष्म—एकेन्द्रिय योनि में गया है। उस अपेक्षा से यदि कहा जाये कि यह जीव सिद्ध-क्षेत्र की यात्रा कर चुका है तो असत्य क्या ? गया है वह, पर वैधानिक रूप में नहीं, पूर्णतः निवास प्राप्त करने नहीं गया। जैसे सूक्ष्म जीव के रूप में यह जीवात्मा सिद्ध-क्षेत्र में जाकर आई है, उसी तरह बादर वायुकाय के रूप में भी इस जीवात्मा ने सिद्ध-क्षेत्र की अनेक बार यात्राएँ की हैं।

□ निष्फल है इस तरह की यात्रा

किसी घर में चोर घुस आया, चोरी की या नहीं की, वापस निकल गया। उसके घर में आने का यह तो अर्थ नहीं कि वह घर का मालिक हो गया। एक राजमहल में राजा, रानी, राजकुमार आदि रहते हैं और उसी राजमहल में सफाई कर्मचारी जाता है तो क्या वह राजमहलवासी या अधिकारी माना जाये ? बंधुओं ! जब तक अष्ट-कर्म-कारा को नष्ट नहीं करते, सिद्ध-क्षेत्र में जाने का कोई अर्थ नहीं, ऐसा जाना व्यर्थ है, निष्फल है।

□ दुःखों से भागना, संसार को बढ़ाना है

यह संसार कर्मबद्ध जीवों का आश्रय-स्थल है। जब तक जीव की अवस्था कर्मबद्ध है, उसे संसार का परिभ्रमण करना ही है। जीव की आदत है संसार के दुःख रूप सुखों

में फँसने और दुःखों से भागते रहने की। आधि-व्याधि, कष्ट, कषायों, रोग-शोक, दारिद्र्य आदि से वह निरन्तर भागता रहता है। उसका यह भागना गलत है। जीव को इनसे भागना नहीं चाहिए। भागकर तो वह संसार परिभ्रमण को, संसार के दुःखों को अपने लिए और अधिक बढ़ा लेता है। अनादिकाल से यह जीव भागता आया है और अज्ञानता रही तो अनन्तकाल तक भागता रहेगा।

□ कैसे मिटेगा जन्म-मरण चक्र ?

जीव को नरक गति मिली। वहाँ की त्रास, दुःख, कष्ट से घबराया। भागा वहाँ से तो तिर्यच गति मिली। यहाँ भी देखा-दुःख ही दुःख। पछताया कि कहाँ आ गया ? घबराया फिर भागा तो मनुष्य गति मिली। वहाँ भी दुःख ही दुःख, हाय-त्राय, रोग-शोक, फिर घबराया तो देवगति में चला गया। सुख ही सुख, वैभव ही वैभव, पर सच्चा सुख वहाँ भी नहीं। चारों संज्ञाओं-चारों गतियों में महाकष्टकारी दुःख। वहाँ भी जीव ने घबराहट अनुभव की तो पुनः तिर्यञ्च या मनुष्य गति में। जन्म-जन्मान्तरों से यही चक्र चल रहा है। मिटाना है इस चक्र को। कैसे मिटेगा ? यह सिखाती है जिनवाणी।

□ भागो नहीं, संघर्ष करो

विवेकानन्द विदेश से स्वदेश लौटे तो सोचा-‘चलूँ, पवित्र नगरी अयोध्या का भ्रमण कर लूँ।’ गये वहाँ तो किसी ने कह दिया-“आप वहाँ जायें तो सबसे पहले हनुमानजी के मन्दिर में जायें, बड़ी शान्ति मिलेगी।”

विवेकानन्द चले गये हनुमानजी के मन्दिर। उनको क्या पता कि हनुमानजी के मन्दिर में उनके इतने भक्त हैं कि वे दर्शनार्थ आये भक्तगणों को घेरकर उनकी दुर्दशा तक कर डालते हैं। उन्हें कुछ न कुछ भेंट-पूजा देकर ही दुर्दशा से बचा जा सकता है और मन्दिर के भीतर पहुँचकर हनुमानजी के दर्शन किये जा सकते हैं। वे यूँ ही पहुँच गये वहाँ तो उन हनुमान भक्त बीसियों बन्दरों ने उन्हें कुछ पाने की दृष्टि से घेर लिया। अब विवेकानन्द घबराये और भागे। वे आगे, बन्दर पीछे।

विवेकानन्द का भागना और उनके पीछे वानर-दल का भागना लोगों के लिए तमाशा हो गया। लोग तमाशा देखते रहे पर छुड़ाने कोई नहीं आया। आते भी कैसे ?

उन्हें छुड़ायें और स्वयं फँस जायें तो ? इधर वानर उनके पीछे ऐसे दौड़ रहे थे, जैसे वे उनके भक्त बनना चाहते हों। विवेकानन्द की हालत बुरी थी, वे पसीना-पसीना हो गये, इतने थक गये कि अब आगे दौड़ पाना भी उनके लिए मुश्किल हो गया। तभी एक संन्यासी की नजर उन पर पड़ी। जोर से बोला—“ भागो मत, मुकाबला करो और भगा दो। ”

विवेकानन्द रुक गये, पीछे मुड़े तो देखा दौड़ते आ रहे बन्दर भी अब रुक गये थे। स्वामी जी ने उनको डराया, भगाने का उपक्रम किया तो जरा से प्रयत्न से सभी बन्दर वहाँ से तितर-बितर, नौ दो ग्यारह।

□ ज्यों-ज्यों दौड़ मिटेगी, संसार परित्त होगा

बंधुओं ! आठ कर्मरूप बन्दर जीव को भी भगा रहे हैं, नचा रहे हैं इस संसार में। चार कषाएँ, इच्छाएँ, वासनाएँ, लालसाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ भी वानररूप ही हैं। जीव दौड़ रहा है—धन के लिए, परिवार के लिए, स्वार्थ के लिए, प्रातः से सायं तक, जन्म से मरण तक, एक भव से दूसरे भव तक उसकी दौड़-भाग निरन्तर चल रही है।

जिस दिन धर्म-गुरु का उपदेश अन्तर् में लग गया और भागना-दौड़ना छोड़कर, एक जगह रुककर आपने इन कर्मों का, कषायों का, विषयों और विकारों का, लालसाओं का मुकाबला शुरू कर दिया, उस दिन ये दौड़ेंगे और आपका दौड़ना मिट जायेगा। ज्यों-ज्यों ये आपसे दूर होते जायेंगे, त्यों-त्यों दौड़ सिमटती जायेगी, संसार-परिभ्रमण कम होता जायेगा।

बनाइये ऐसा चिन्तन, भागना छोड़ रुकना सीख जाइये फिर संसार में कहीं भी किसी से भी भयभीत नहीं हो सकेंगे। जिन्होंने संघर्ष किया रुककर, वे अन्त में मोक्ष के अधिकारी बने।

□ मुक्ति केवल मानव-भव से

आपमें सामर्थ्य है रुकने और संघर्ष करने का। बाकी सभी गतियों के जीवों में वह सामर्थ्य, वह शक्ति, वह पुरुषार्थ नहीं है। प्रभु ने मनुष्य गति के जीवों के सम्मुख

ज्ञान की, सम्यग्ज्ञान की वह मशाल प्रज्वलित की है, जिसे अपने निकट स्थान देकर मानव अपना मिथ्यात्वरूप अंधकार मिटा सकता है, सम्यक्त्वरूप उद्योत प्रकट कर सकता है और साधना कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन सकता है।

□ मशाल तो बुझ गई, डण्डा हाथ में रह गया

प्रभु महावीर की यह ज्ञान-मशाल आचार्यों ने हमें दी और हमसे आप तक पहुँची। हुआ यह कि ज्ञान-मशाल तो बुझ गई और केवल डण्डा पकड़ में रह गया।

एक गुरु ने अपने शिष्यों को वर्षों तक ज्ञान दिया। अन्त में उनसे कहा—“वत्स ! आप सभी मेरे द्वारा दिये गये ज्ञान को चिर-स्थायी बनाना, सुरक्षित रखना, खोना मत उसे।” शिष्यों को गुरु ने प्रतीक रूप में एक प्रज्वलित मशाल भी दी, जिसे सुरक्षित रखना उनका दायित्व बताया।

शिष्यों ने मशाल ले ली। कालान्तर में उसका तेल समाप्त हुआ तो ज्योति मंद होते-होते बुझ गई। शिष्यों ने उसमें तेल डालकर जलाये रखना आवश्यक नहीं समझा। वे तो यही समझते रहे कि मशाल सुरक्षित है, चाहे वह बुझी हुई हो, डण्डा मात्र हो। क्या वहाँ डण्डा प्रकाश दे सकता है ?

□ पकड़ को त्यागो

यही बात ज्ञान के साथ है। ज्ञान यदि सुरक्षित रखना है तो मत, परम्परा, सम्प्रदाय, संघ की पकड़ को त्यागना होगा। डण्डा पकड़े रखा तो सिद्धि सम्भव नहीं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन को धारण करना है, तभी साधना सिद्ध होगी, तभी चारित्र का फल मिलेगा, तभी तप से कर्मनिर्जरा होगी।

‘बड़ी साधु वन्दना’ में चल रहा है ऐसी ही महान् विरल भव्यात्माओं का प्रसंग जिन्होंने सरल मन से, उत्कृष्ट परिणामों से, शुद्ध भावों से आत्मा को भावित किया।

करकण्डू प्रमुख, चारे प्रत्येकबुद्ध।
मुनि मुक्ति पहुंच्या, जीत्या कर्म महाजुद्ध॥ २२॥

चार प्रत्येकबुद्ध मुनि कर्मरूप महायुद्ध को जीतकर मोक्ष में पहुँचे, जिनमें करकण्डू मुख्य थे। शेष तीन के नाम काव्य में नहीं हैं। वे तीन हैं—नमि-राजर्षि, द्विमुख और नगगति।

□ कौन होता है प्रत्येकबुद्ध ?

काव्य में एक शब्द आया है—प्रत्येकबुद्ध। आपमें से कइयों ने सुना होगा यह शब्द कई बार। स्मृति पर जरा जोर डालिए। प्रतिक्रमण में पाँच पदों की भाव वन्दना में सिद्धों को जब भाव वन्दना देते हैं तो बोलते हैं, सुनते हैं—“दूसरे पद श्री सिद्ध भगवंत महाराज, आठ कर्मों को क्षय करके मोक्ष पहुँचे हैं। चउदह प्रकारे, पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध हुए।” इन्हीं पन्द्रह भेदों में है एक—प्रत्येकबुद्ध सिद्ध। किसे कहते हैं प्रत्येकबुद्ध सिद्ध ? जिन भव्य जीवों ने किसी निमित्त को पाकर बोध प्राप्त किया और मोक्ष गये। ऐसी चार भव्यात्माओं में से नमि-राजर्षि को सुना कुछ दिन पूर्व आपने। आज वर्णन चलेगा—राजा करकण्डू आदि का।

□ महारानी पद्मावती का दोहद : हस्ति पर उद्यान-भ्रमण

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप इन अढ़ाई द्वीप के लक्षाधिक देशों एवं अनेक क्षेत्रों में से जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के ३२ हजार देशों में केवल साढ़े पच्चीस देश ऐसे हैं जहाँ धर्म-कर्म की उत्तम प्रवृत्ति होती है। इन साढ़े पच्चीस देशों में कलिंग देश के एक राजा हुए दधिवाहन और उनकी पट्टमहिषी थी पद्मावती। एक बार महारानी पद्मावती गर्भवती हुई और उनके मन में गर्भस्थ बालक के कारण एक दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं विविध तरह के मूल्यवान वस्त्राभूषण पहन, मणि-माणिक-रत्नजटित स्वर्ण-आभूषण धारण कर राज्य के पट्टहस्ति पर आसीन हो छत्र धारण कर राजोद्यान में भ्रमण करूँ।

महारानी ने अपनी अभिलाषा महाराज के सम्मुख प्रकट की तो महाराज ने कहा—“प्रिये ! यह कोई बड़ी बात नहीं है। न तुम्हारे पास मूल्यवान वस्त्रों की कमी है और न जड़ाऊ स्वर्णाभूषणों की। पट्टहस्ति भी तुम्हारी सेवा में हाजिर कर दिया जायेगा। राजोद्यान में तुम्हारे भ्रमण की सारी व्यवस्थाएँ कर दी जायेंगी। इतना ही नहीं, यह आपका अनुरागी

कलिंग-नरेश भी आपकी अभिलाषा-पूर्ति के क्षणों में पूरे समय आपके साथ रहकर आनन्द की अनुभूति करेगा।”

हस्तिशाला से ‘जयकुञ्जर’ नामक विशिष्ट हस्ति को अलंकृत कर राजमहलों में लाया गया। महाराज दधिवाहन स्वयं महारानी पद्मावती के साथ गजारूढ़ हो राजोद्यान में गये। प्रधान हस्ति अपनी ही मस्ती से उद्यान में महावत के संकेतानुसार चलते हुए महाराज व महारानी को उद्यान की सैर कराने लगा। वसन्त का मादक मौसम, हर तरह के पुष्प उस उद्यान में बहुतायत से खिले हुए। मंद-मंद बह रहे समीर में अनेक तरह की सुरभित-पुष्प-सुर्गंध ने उद्यान के कण-कण को सौरभयुक्त बना दिया था।

□ हस्ति निरंकुश हुआ

अचानक एक विचित्र-सी गंध, अनेक तरह के फूलों की सम्मिलित सुगंध हाथी को मदमस्त बना गई। हाथी महावत के अंकुश से बाहर, उद्वण्ड हो, दिशाहीन बन भागा। महावत ने उसे वश में करने का पूरा प्रयत्न किया तो हाथी ने उसे सूँड़ में लेकर एक ओर गिरा दिया।

अब हाथी पर महाराज थे और थीं गर्भवती महारानी। हाथी नियंत्रण से बाहर, बेकाबू, निरंकुश वन में बेतहाशा भागा जा रहा था। रानी भयातुर हो गई। महाराज भी घबराये और महारानी को भयभीत देख उनकी और स्वयं अपने प्राणों की रक्षा के लिए चिन्तित हो उठे। रानी को अपने से अधिक गर्भस्थ शिशु की चिन्ता थी और राजा को गर्भवती महारानी की।

□ बचने का एक ही तरीका

पुरुष पुरुष होता है। आपात्काल में जो धैर्य, साहस और विश्वास खो देता है, वह कैसा पुरुष ? फिर दधिवाहन केवल पुरुष ही नहीं, नरपति, नरेश, नराधिप थे। उन्होंने धैर्य का साथ नहीं छोड़ा, साहस का सम्बल देते हुए वे महारानी से बोले—“देवी ! समय विकट है। हम मौत के मुँह की ओर दौड़े जा रहे हैं। ऐसे समय में धैर्य ही हमारे जीवन की रक्षा कर सकता है। मेरी बात को ध्यान से सुनिये। इस महाजंगल में अनेक महाविटप हैं। इस बार ज्यों ही किसी विशाल वट-वृक्ष के नीचे से यह हस्ति भागता

हुआ निकले, आप और हम, उस वट-वृक्ष की किसी शाखा को मजबूती से पकड़कर लटक जायेंगे, सुरक्षित बचे रहने का अब यही एक मात्र तरीका है।”

□ महाराज तो वट-वृक्ष की शाखा पर, महारानी हस्ति पर ही

वट-वृक्ष आया। महाराज ने तो उसकी शाखा मजबूती से पकड़ ली, पर मारे घबराहट के महारानी ऐसा न कर पाईं। अब हाथी के हौदे पर केवल महारानी थीं और उनके गर्भ में था वह शिशु, जिसे अभी संसार देखना था। जन्म से पूर्व ही शिशु माँ के पेट में रहते हुए मदमस्त हाथी की पवनवेग चाल के साथ अदृष्ट और अनजान क्षेत्र की ओर जा रहा था। महारण्य में भागते मदान्ध गजराज को एक सरोवर दिखाई दिया तो उसे अपनी प्यास की याद हो आई। वह पानी पीने के लिए वहाँ रुक गया।

□ हस्ति रुका, महारानी वन में

अब उचित अवसर देख महारानी हाथी से नीचे उतर गईं। भयंकर वन, जंगली-हिंसक व्याघ्रादि पशु, अकेली महारानी और फिर गर्भवती। दोहद कितना सुखद था, पर कर्म किस दुःखद परिस्थिति में ले आये उसे। राज्य, राजमहल, राजा सभी बिछुड़ गये। आदमी की सूरत भी जहाँ दिखनी असम्भव प्रायः ऐसा वन और सगर्भा।

□ इष्ट केवल एक : नमस्कार मंत्र

दुःख में सुमिरण सब करें, सुख में करे न कोय।

जो सुख में सुमिरण करें, तो दुःख काहे को होय॥

महारानी भी दुःख में थीं, भयभीत थीं, संभ्रान्त थीं, चिन्तित थीं। ऐसे में ही इष्ट की याद आती है। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योग में सभी अपने-अपने इष्ट-देव को स्मरण करते देखे जा सकते हैं। आप तो जानते ही होंगे। क्या होता है इष्ट ? क्या लाभ है इष्ट के स्मरण से ? किसी भी शास्त्र को उठाकर देख लीजिए, आधार वहाँ इष्ट ही का मिलेगा। उदाहरण के लिए—किसी ज्योतिषी के पास जाइये। उसे पूछिये कि कब आपका अभीष्ट सिद्ध होगा ? वह आपसे आपका जन्म समय पूछेगा और उसी के आधार पर आपके लिए इष्ट समय निकालेगा।

बंधुओं ! आप सभी का कोई न कोई इष्ट अवश्य होगा। मैं यहाँ सांसारिक दृष्टि से इष्ट किसी वस्तु या व्यक्ति की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा तात्पर्य आपके इष्ट-देवता से है। यह तो शाश्वत बात है कि यदि इष्ट नहीं हो तो व्यक्ति धर्म पर श्रद्धा भी नहीं रख पायेगा। इस लोक में सर्वोत्तम, सर्वहितैषी, समदृष्टि वाला इष्ट कौन ? वह है—‘नमस्कार सूत्र’। सबके लिए, बिना किसी भेदभाव, पक्ष आदि के, एक ऐसा इष्ट जिसमें श्रेष्ठ धर्म, सर्वजातीय समीकरण, सर्व-साम्प्रदायिक सिद्धान्त सम्मिलित हैं।

□ महामंत्र-जाप से भय नष्ट

महारानी ने उस विपद् काल में, भय और चिन्ता निवारण के लिए, दुःखों से मुक्ति के लिए ‘महामंत्र’ का स्मरण प्रारम्भ किया। स्मरण के साथ ही भय भाग गया, मन में साहस का संचरण हुआ। महारानी ने भयानक अरण्य में अपने कदम बढ़ाये। पैर पथ पर अग्रसर, जिह्वा नाम-स्मरण, महामंत्र-जाप में मगन। जाप में मन ऐसा तल्लीन हुआ कि वन के हिंसक जानवरों की बात ही स्मृति से उतर गई। भूत से भी ज्यादा डर होता है भूत की कल्पना और चिन्तन का। स्मृति से उतर गई जो चीज फिर उसका भय कैसा ?

□ तापस द्वारा सहायता

महारानी जंगल में पैदल चली जा रही हैं कि उन्हें एक तापस दिखाई देता है। रानी के आत्म-विश्वास में वृद्धि होती है। वह तापस के निकट जाकर अपनी दुःख-भरी गाथा उसे सुनाती हैं। आपत्ति में उलझी उस भद्र महिला को देख तापस उसकी बीती घटना सुनता है और उसे धैर्य बंधाता है। उसे खाने के लिए सुमधुर, शक्तिवर्धक फल देता है और शीतल जल पिलाता है। वह उसके साथ हो जाता है, महारण्य को पार करा भद्रपुर नगरी में पहुँचा देता है। भद्रपुर पहुँचकर तापस उससे कहता है—“मैं तो यहाँ से वापस जाऊँगा। आपको दंतपुर का रास्ता बता देता हूँ, वहाँ से आप चम्पापुरी (कलिंग की राजधानी) सरलतापूर्वक जा सकेंगी।”

□ धर्मोद्बोधन महारानी पद्मावती को

दंतपुर का मार्ग बता, तापस तो जिस रास्ते से आया, उसी रास्ते से पुनः चला जाता है। महारानी विवश अकेली ही भद्रपुर से दंतपुर के लिए चल देती हैं। दंतपुर पहुँचने

पर संयोगवश उसे वहाँ विचरण करते हुए साध्वी श्री गुणमाला जी के दर्शन का सौभाग्य मिलता है। दर्शन-वन्दन के पश्चात् महारानी साध्वी जी को भी अपना दुःख-दर्द सुनाती हैं। साध्वी जी उसे धैर्य बँधाती हैं और उद्बोधन देते हुए कहती हैं—“संसार एक विशाल रंगमंच है। जीव मात्र इस रंगमंच पर हो रहे नाटक के पात्र हैं। कर्म इन पात्रों को नचाता, हँसाता, रुलाता, अभिनय कराता है। तुम्हारा दुःख तो कुछ भी दुःख नहीं है। संसार के अनेक व्यक्ति तुमसे भी अधिक भयंकर और संत्रास देने वाले दुःखों को भोग रहे हैं। जन्म, जरा, मरण, रोग आदि के दुःख कितने भयंकर हैं। यह दुनिया, यहाँ के पदार्थ, काम-भोग, स्वजन-परिजन सभी नश्वर हैं, क्षणिक हैं, जल के बुदबुदे हैं। अज्ञानी जीव मोहवश, माया के चक्कर में फँसा इस संसार के चक्र में घाणी के बैल की भाँति चक्कर लगाता रहता है। जब तक कर्मों से बँधे-जकड़े रहते हैं जीव, तब तक मुक्ति संभव नहीं। दुःखों से बचना है तो संयम-साधना स्वीकार करो।”

□ गर्भ की बात छिपाकर महारानी श्रमणी बनीं

वाणी में ओज था और शब्दों में प्रभाव। महारानी पद्मावती को संसार से विरक्ति हो गई। गर्भवती होने की बात उन्होंने साध्वी जी से छिपाई। गुप्त गर्भ था। अतः लक्षण दिखते नहीं थे। गर्भ की बात के अतिरिक्त सारी कथा बताकर दीक्षा देने की प्रार्थना की। साध्वी जी ने उन्हें दीक्षा-मंत्र देकर श्रमणी-धर्म प्रदान किया।

कुछ समय बाद गर्भ के लक्षण दृष्टिगोचर हुए, अन्य साध्वियों को भी बात ज्ञात हुई, साध्वी पद्मावती ने भी गुरुणी जी से विनयपूर्वक अपने गर्भ की बात प्रकट कर दी और गर्भ की बात पूर्व में छिपाने की भूल के लिए क्षमा-याचना की।

साध्वी जी ने बात का बतंगड़ नहीं बनाया, बात को इधर-उधर फैलाया नहीं, साध्वी ने पद्मावती को बुरा-भला भी नहीं कहा। उन्हें संघ व संघाड़े से निष्कासित भी नहीं किया। वे समझ रही थीं कि साध्वी सच्ची हैं, दीक्षार्थ बात छिपा ली है, अन्य कोई दोष नहीं है।

□ गोपनीय रूप से प्रसव-प्रबन्ध

संघपति को अकेले में बुलाकर सम्पूर्ण बात बताते हुए कहा—“साध्वी को तो मैं प्रायश्चित्त-दण्ड, जो भी देना है दूँगी, पर इस समय तो समस्या से निदान पाना है।

आप संघपति हैं। विचारपूर्वक वर्तमान को सुधारिए और विवेक के साथ सारे कार्य पूर्ण करिए।”

संघपति का पद बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण पद है। अनेक तरह की चतुर्विध-संघ सम्बन्धी समस्याओं का हल संघपति को ठण्डे दिल-दिमाग से संघ-हित का ध्यान रखते हुए निकालना पड़ता है। संघपति धीर गंभीर एवं सूझबूझ से युक्त होता है। अपनी तथा संघ की गरिमा का भलीभाँति रक्षण करता है।

□ पुत्रोत्पत्ति, चांडाल ने पाला उस राज-पुत्र को

संघपति ने सारी व्यवस्था उचित और गुप्त रीति से कर दी। प्रसव हुआ, साध्वी महारानी ने एक पुत्र को जन्म दिया और नवजात शिशु को श्मशान में एक सुरक्षित स्थान पर ले जाकर रख दिया। वे स्वयं एक ओट में छिपकर खड़ी हो गईं और प्रतीक्षा करने लगीं यह जानने की कि बालक को कौन ले जाता है। ध्यान भी रखना था, कोई जंगली पशु-पक्षी नवजात शिशु को हानि न पहुँचा दे, उठाकर न ले जाय या प्राणरहित न कर दे। माँसभक्षी पशु-पक्षी उसे खा भी सकते थे।

बालक रो रहा था, जैसे पुकार-पुकार कर कह रहा हो कि यह मेरे योग्य स्थान नहीं है। यहाँ तो उनके लिए स्थान है जिनका जीवन समाप्त हो चुका हो, मेरा तो जीवन अभी प्रारम्भ हुआ है। श्मशान तो सुनसान था। वहाँ उसकी पुकार, उसका रोना कौन सुनता ? साध्वी के मन में बच्चे के प्रति कोई रागभाव नहीं, केवल बालक के हित का चिन्तन कर वे वहीं छिपी देखती रहीं कि कोई हिंसक प्राणी इस नवजात शिशु को हानि नहीं पहुँचा दे या इसका भक्षण नहीं कर ले। समय शनैः-शनैः बीतता जा रहा था।

तभी करुणाभाव धारण किये खड़ी उन साध्वी जी ने देखा कि श्मशान का रक्षक, व्यवस्थापक, चौकीदार चाण्डाल उधर आ रहा है। रोने की आवाज उसके कानों में भी पड़ती है। कान चौकत्रे हो जाते हैं। नवजात शिशु के रुदन का स्वर ! कहाँ से आ रहा है ? ध्यान दिया, देखा, उस दिशा में आगे बढ़ा तो एक नन्हा बच्चा हाथ-पाँव मारते हुए रो रहा था। चाण्डाल उसके निकट गया, नवजात शिशु देख वह चौंक पड़ा। इधर-उधर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया। पुकारा—“किसका है यह बच्चा ? अरे है

कोई इसकी माँ ? है कहीं इसका बाप ?” पर कोई नहीं आया। बच्चा जोर-जोर से रोने लगा। चाण्डाल निस्संतान था, कुछ देर इन्तजार किया, पर किसी को न आते देख धड़कते हृदय से उसे उठाया, गोद में लिया, वक्षस्थल से लगाया उसे। बच्चा चुप हो गया।

चाण्डाल ने वहीं खड़े-खड़े कुछ देर और प्रतीक्षा की, पर कोई होता तो वहाँ आता ! साध्वी जी थीं, पर उनको तो प्रत्यक्ष में आना नहीं था। वे एक मर्यादा में बँधी थीं और मर्यादा, व्रत, नियम पालन के लिए दृढ़ मनोबल लिए थीं। चाण्डाल अब उस शिशु को लेकर उत्साह, उमंग के साथ अपने घर की ओर चल दिया। साध्वी जी भी अपने स्थान पर आ, गुरुणी जी को वन्दन-नमस्कार कर, सारा वृत्तान्त सुना, प्रायश्चित्त के लिए याचना करने लगीं।

उधर चाण्डाल अपने घर पहुँचा। पत्नी को पुकारा और कहा—“देख तो सही भाग्यवान ! आज मैं तेरे लिए क्या लेकर आया हूँ ?”

पत्नी ने पति की गोद में एक नवजात शिशु देखा तो चकित रह गई। पूछा—“कहाँ से उठा लाये हो ?”

चाण्डाल ने कहा—“हमारे संतान नहीं थी न, अतः भगवान ने भेजा है उसे हमारे लिए।” उसने शिशु के श्मशान-घाट में मिलने की पूरी बात कह सुनायी।

चाण्डाल-पत्नी ने प्रसन्नता से बालक को अपनी गोद में ले लिया। कहने लगी—“भगवान की लीला भी अपरम्पार है। गर्भ से जन्म देकर नहीं भेजा तो इस तरह भेज दिया।”

□ नामकरण : करकण्डू

वह शिशु वहीं पलने लगा। कुल चाण्डाल का था, पर माता-पिता का उसे पूरा प्यार मिल रहा था। कुछ बड़ा हुआ। ‘क्या नाम रखें ?’ सोच रहे थे पालक-पिता कि बालक के अशुभ कर्म का उदय हुआ। उसके हाथ में सूखी खाज हो गई। हाथ को कहते हैं कर, सूखी खाज को कहते हैं—कण्डू। उस सूखी खाज के कारण पालक माता-पिता ने उसका नाम रख दिया—करकण्डू।

करकण्डू बड़ा होने लगा। शरीर हृष्ट-पुष्ट और उसमें यथेष्ट शक्ति। उसके खेलने-कूदने, घूमने-फिरने, दौड़ने-भागने की सीमा थी चाण्डाल का घर और उसका वह श्मशान।

□ राज-योग

एक दिन वह श्मशान के बाहर स्थित घरों से श्मशान की तरफ आए किसी ब्राह्मण बालक के साथ खेल रहा था। तभी दो मुनियों को मुँहपत्ति लगाए, श्वेत वस्त्र पहने, रजोहरण लिए आते देखा। दोनों मुनि ईर्यापथिकी पालनापूर्वक चल रहे थे। उनमें से एक मुनि जो वृद्ध थे, चारित्र-सम्पन्न और लब्धि-सम्पन्न थे, साथ वाले कनिष्ठ मुनि से बोले—“वत्स ! रास्ते के किनारे यह जो बेंत की लकड़ी पड़ी है, उसे यहाँ से लेकर जो अपने पास रखेगा, उसको राजलाभ मिलेगा। वह एक दिन राज-पाट का सुख भोगेगा, राजा बनेगा।” साथ में खेल रहे ब्राह्मण-बालक और करकण्डू, दोनों ने मुनि के मुँह से उच्चरित बात सुनी।

दोनों ही बालक इतनी समझ तो रखते ही थे कि मुनिश्री की बात को समझ सकें। वे दोनों दौड़े और बेंत प्राप्त करने हेतु दौड़ने लगे। ब्राह्मण-बालक कृशकाय था। अतः शीघ्रता से दौड़कर बेंत की लकड़ी उसने प्राप्त कर ली, पर करकण्डू बलवान था, उसने बेंत उससे छीन ली। ब्रह्म-बाल दुर्बल था, पर राज-लोभ। अतः विवाद हुआ, झगड़ा हुआ पर जीत बलवान की हुई। और वही कहावत चरितार्थ हो गई—“Might is right” या “जिसकी लाठी उसकी भैंस।”

□ राजा का न्याय

ब्राह्मण का लड़का घर गया और अपने पिता से सारी बात कही। उसके पिता ने सौ-पचास ब्राह्मणों को एकत्रित किया। चाण्डाल को मालूम हुआ तो उसने भी सौ-पचास चाण्डालों को बुलावा भेज दिया। बात राजा तक पहुँची। उसने सभी चाण्डालों व ब्राह्मणों को बुलाया। दोनों बच्चों की बात सुनी। राजा ने कहा—“यह बेंत की लकड़ी चूँकि श्मशान में उत्पन्न हुई। अतः इसका मालिक तो यह चाण्डाल का लड़का ही होगा, पर जब इसे राज्य मिल जाये और यह लड़का राजा बन जाये तो तुम इसके राज्य से एक गाँव के हकदार हो सकोगे।” राजा ने करकण्डू को समझा दिया कि राज्य मिलने पर इस ब्राह्मण-लड़के को एक गाँव अवश्य दें।

□ करकण्डू राजा बना

राजा का न्याय था। कौन कुछ कहता ? पर ब्राह्मण-जाति में अन्दर-ही-अन्दर असन्तोष एवं रोष व्याप्त हो गया। सम्पूर्ण ब्रह्म-समाज ने मिलकर निर्णय लिया कि जैसे भी हो, चाण्डाल-बालक करकण्डू को मार दिया जाये।

चाण्डाल-दम्पति को किसी तरह उक्त निर्णय का पता लग गया। उन्होंने बालक करकण्डू की जान खतरे में देख, उसकी रक्षा के लिए उसे कांचनपुर अपने सम्बन्धियों के पास भेज दिया। इधर करकण्डू कांचनपुर पहुँचा, उधर कांचनपुर के रुग्ण राजा स्वर्ग सिधार गये। निस्संतान था राजा। अतः उस समय की प्रथा, परम्परा, रिवाज के अनुसार राजा का चुनाव अथवा चयन करने का निर्णय लिया गया। पट्टहस्ति को सजाकर उसकी सूँड़ में ताजा खिले पुष्पों का एक हार दे दिया गया और उसे खुला छोड़ दिया गया। लोग भी सड़कों, डोलियों, वीथियों के किनारे खड़े हो गये। शायद हस्ति उनके ही गले में माला डाल दे। राजा कौन नहीं बनना चाहता ? मन-ही-मन इष्ट को याद करने लगे सभी। सच्चे मन से प्रार्थना करने लगे कि माला हमारे ही गले में पड़े। कभी इष्ट का स्मरण न करने वाले भी आज इष्ट का ध्यान कर रहे थे। प्रतिपल पवन-वेग से अधिक गतिमान् चंचल मन आज सैकड़ों-हजारों के थोक संख्यांक में एक ही चिन्तन पर स्थिर, एकाग्र था कि—“माला मेरे गले में पड़े।”

करकण्डू भी भीड़ के बीच खड़ा था। बेंत की वह लकड़ी उसके हाथ में थी। मुनि के वचन मिथ्या नहीं जाते। घूमते हुए हाथी ने उसके निकट पहुँच माला उसके गले में डाल दी और सूँड़ उठाये ही खड़ा रह गया जैसे करकण्डू का राजा के रूप में अभिवादन, वन्दन, स्वागत कर रहा हो।

देखी आपने कर्मों की विचित्र लीला। बन्धुओं ! ‘कर्मगति टारै नाहिं टरे।’—शिशु राजकुल का। लालन-पालन चाण्डाल-कुल में, क्यों ? अशुभ कर्मोदय के परिणामस्वरूप और आज...? आज राज-सिंहासन पर, शुभ कर्मों का पुनः उदय हो चुका था उस राजकुमार करकण्डू के। नगर में प्रजा ने हर्ष से राज्याभिषेक का उत्सव मनाया। राजा का लड़का आखिर राजा बन ही गया।

□ ब्राह्मण-बालक का बख्शीश में एक गाँव माँगना

उस ब्राह्मण-युवक को यह पता लगा कि मेरा खेल का साथी, बेंत की लकड़ी पाने वाला करकण्डू राजा बन गया है। उसे एक गाँव की याद आई। वह चल पड़ा कांचनपुर की ओर, एक गाँव बख्शीश में पाने। आकर याद दिलाया तो करकण्डू राजा ने कहा—“मैं तुम्हारे राजा को लिख देता हूँ, वह तुम्हें वहीं एक गाँव दे देगा तो तुम आराम से अपने परिवार-सम्बन्धी जनों के निकट जीवन व्यतीत कर सकोगे। ब्राह्मण-युवक भला क्यों आपत्ति करता ?”

□ महाराज दधिवाहन को आदेश-पत्र

करकण्डू ने एक राज-मुद्रांकित पत्र उसे दिया। ब्राह्मण-युवक उस पत्र को लेकर राजा दधिवाहन के पास पहुँचा। दधिवाहन ने पत्र पढ़ा, उसे पत्र की भाषा आदेशात्मक लगी। सोचा—‘मैं हूँ अपने राज्य का स्वामी ! यह मुझे आदेश देने वाला कौन ?’ दधिवाहन ने खोजबीन कर पता लगाया तो आग-बबूला हो उठा—‘कल का छोकरा, न जात का पता न पाँत का पता और आदेश ऐसा लिखा है, जैसे मेरा मालिक हो।’ क्रोध की चिनगारी ने ज्वाला का रूप धारण कर लिया। आदेश के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और ब्राह्मण-युवक को दुत्कार कर भगा दिया।

□ पिता-पुत्र युद्ध को सन्नद्ध

करकण्डू ने सुना तो अत्यन्त कुपित हुआ। युद्ध की घोषणा कर दी। सेनाओं को सजाकर चल पड़ा कलिंग पर आक्रमण करने। दधिवाहन को सूचना मिली तो उसकी सेनाएँ भी युद्ध के लिए तत्पर हो युद्ध-मैदान में आ गईं। दोनों सेनाएँ आमने-सामने थीं। टकराव की स्थिति निश्चित थी। सहस्रों निर्दोष सैनिकों का हताहत होना तय था। शहर में विराजित साध्वी पद्मावती जी को जनचर्चा के माध्यम से पूरे घटना-क्रम का पता चला। सोचा—‘बाप और बेटे का युद्ध होगा, न बेटे को पता कि दधिवाहन ही उसके पिता हैं और न पिता को पता कि करकण्डू राजा ही उनका पुत्र है। भेद केवल मैं जानती हूँ। बाकी सारे ही इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं। युद्ध प्रारम्भ हो गया तो अनर्थ तो होगा ही, हिंसा का ताण्डव नृत्य भी होगा।’

□ साध्वी पद्मावती द्वारा रहस्योद्घाटन

गुरुणी जी को समस्त प्रसंग बता, उनकी आज्ञा लेकर साध्वी जी आती हैं रणक्षेत्र में। युद्ध के लिए तत्पर नरेश एक साध्वी को रणक्षेत्र में आते देख विस्मित होते हैं। समीप जाकर वन्दन करते हैं। साध्वी दधिवाहन की ओर उन्मुख होकर कहती हैं—“राजन् ! जिनानुयायी हैं आप फिर यह खून-खराबा, निरपराध सैनिकों का घमासान !”

राजा उत्तर देना चाहता है, पर आवाज सुनते ही भूतकाल के ख्यालों में खो जाता है। साध्वी कहती हैं—“मैं ही पद्मावती हूँ, आपकी सांसारिक पत्नी और अब साध्वी। आप जिससे युद्ध करने के लिए तत्पर हैं, वह आपका ही खून है।” इतना कहकर सारी बातें, पिछली सारी घटित घटनाएँ उन्हें बताती हैं। साध्वी पद्मावती उधर करकण्डू की सेना में पहुँची, उसे सविस्तार सारी बात बतायी कि दधिवाहन कोई और नहीं अपितु तुम्हारे पिता हैं। इनसे यह युद्ध कैसा?

□ पुत्र-पिता का स्नेह-मिलन, दधिवाहन दीक्षित

राजा करकण्डू सुनता है साध्वी पद्मावती की बात। दोनों के खून में स्नेह का, वात्सल्य का, प्रेम का उफान आता है। पिता-पुत्र का मिलन होता है। पुत्र चरण-स्पर्श कर पिता से अपने अविनय के लिए क्षमा माँगता है।

इस प्रसंग से दधिवाहन को संसार का यथार्थ स्वरूप-दर्शन होता है और विरक्ति के भाव आते हैं। वे अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर स्वयं दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। करकण्डू अब कांचनपुर के साथ कर्लिंग देश की राजधानी चम्पापुरी का भी स्वामी बन जाता है। दो-दो राज्य, अपार वैभव, सुख-भोग की सारी सामग्री, सारे साधन ! भोग रहा है करकण्डू अपने पुण्याई के उस शुभ फल को। मगन है वह राज-सुख, परिवार-सुख, वैभव-सुख में। राजा करकण्डू उस ब्राह्मण के पुत्र को बुलाकर अपने राज्य का एक ग्राम उसे बख्शीश में दे देता है।

□ करकण्डू को भी वैराग्य

एक दिन करकण्डू नरेश अपने राजमहल के किसी झरोखे में बैठ नगरी का विहंगम-अवलोकन कर रहा था। अनेकानेक दृश्यों को देखते हुए अचानक उनकी दृष्टि गाय के

एक नवजात बछड़े पर पड़ी। बछड़ा उसे इतना सुन्दर, इतना मनभावन लगा कि उसने अपने अनुचरों को आदेश दे दिया—“फलां-फलां बछड़े और उसकी माता गाय को राजकीय गौशाला में पहुँचा दो। गाय के मालिक को बछड़े व गाय का मूल्य दे दो। गौ-पालकों से कह दो कि इस बछड़े को उसकी माँ के स्तनों का पूरा-पूरा दूध पीने दिया जाये। इसे हृष्ट-पुष्ट बनाने हेतु उत्तम-पौष्टिक आहार दिया जाये। इसके स्वास्थ्य की सुरक्षा एवं शारीरिक शक्ति-वृद्धि के लिए सभी प्रयत्न किये जायें।”

राजाज्ञा का पालन हुआ। बछड़ा धीरे-धीरे साँड बना। वह शरीर से ताकतवर दिखने लगा, सुदर्शनीय बन गया, नजर लगे जैसा हो गया उसका डीलडौल। चिन्ता न हो, खाने-पीने को खूब मिले, सार-सँभाल अच्छी हो तो शरीर पुष्ट बनेगा ही। राजा को उससे कुछ ऐसा लगाव हो गया कि वह नित्य अपनी गौशाला में जाता, नित्य उस बछड़े/साँड को देखता।

राजा राजा होता है। जब तक किसी कार्य की धुन, तब तक तो ठीक। किसी अन्य कार्य में उलझा कि पिछली बात स्मृति से बाहर। यही यहाँ भी हुआ। आवश्यक राजकीय कारणवश राजा करकण्डू को कुछ दिन नगर से बाहर जाना पड़ा। बाहर से आया तो विभिन्न राज्य-कार्यों में उलझ गया। लम्बे समय तक वह अपनी गौशाला में नहीं जा सका। अवस्थानुरूप उसका प्रिय बछड़ा/साँड अब वृद्ध हो गया था। दुर्बल और अशक्त मालूम पड़ता था। उसके झुर्रियाँ पड़ चुकी थीं। आँखों में मैल निकलने लगा था।

एक दिन नरेश को अचानक उधर जाना पड़ा तो उसे गौशाला व उस साँड की याद हो आई। गये गौशाला, नजर पसारी इधर-उधर, पर कहीं भी वह सुदर्शन साँड, वह सुरूपवान हृष्ट-पुष्ट साँड दिखाई नहीं दिया। पूछा तो ज्ञात हुआ कि अब वह वैसा नहीं है, जैसा था। राजा ने उसे अब जिस रूप में देखा, विश्वास नहीं हुआ कि यह वही है। इतना बदरूप ! इतना असुन्दर !! इतना अदर्शनीय !!!

□ धर्मध्यान में लग जाइये

बंधुओं ! प्रत्येक जीव की यह स्वाभाविक परिणति है। जन्म, बाल, तरुण, युवा, प्रौढ़, वृद्ध और फिर मृत्यु ! आपके साथ भी यही होना है, विगत पीढ़ी के साथ भी यही हुआ और आने वाली पीढ़ी के साथ भी यही होगा। अब भी समय है, आत्मा को जगाकर धर्मध्यान में लग जाइये। पूर्वभव की पुण्याई साथ थी अतः आनन्द से जीवन

बिताया, अब आने वाले भव के लिए भी कुछ पूँजी साथ ले जाइये। आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में प्रभु ने कहा है—

“वओ अच्छेति जोव्वणं चा।” (आचारांग १/२/१/६६)

“अणभिव्वकंतं च खलु वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए !”

(आचारांग १/२/१/७८)

अर्थात् आयु और यौवन प्रति क्षण बीता जा रहा है। हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन को लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख। पण्डित वही है, जो समय को, समय के मूल्य को समझे।

इसी तरह सूत्रकृतांगसूत्र में भी प्रभु का ऐसा ही सन्देश है—

“सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयम्मि तुट्टई।” (१/२/१ गाथा २)

“णो सुलहा सुगई वि पेच्चओ।” (१/२/१ गाथा ३)

“मा पच्छ असाहुया भवे अच्छेही अणुसास अप्पगं।” (१/२/३ गाथा ७)

अर्थात् एक ही झपाटे में बाज जैसे बटेर को मार डालता है, वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी जीवन को हर लेती है। मरने के बाद सुगति मिलना अत्यन्त मुश्किल है (अतः सत्कर्म यहीं करना है।) भविष्य में तुम्हें कष्ट न भोगना पड़े, इसलिए अभी से अपने को विषय-वासना से दूर रखकर धर्म से अनुशासित करो।

□ प्रतिबुद्ध करकण्डू का दीक्षा अंगीकार कर मुक्ति प्राप्त करना

करकण्डू राजा ने भी देखा साँड का वह रूप। उनका चिन्तन प्रवाहित हो उठा—क्या यही है वह ? क्या यही गति होती है रूप-सौन्दर्य की ? क्या यही होता है हर शरीर के साथ ? क्या एक दिन मेरा भी ऐसा ही रूप, स्वरूप, स्वास्थ्य, शरीर होगा ? इसकी ऐसी दुर्दशा ! क्या मेरी भी ऐसी ही दुर्दशा होगी ? इसी तरह के चिन्तन में उसे बोध प्राप्त हो जाता है। उसे लगता है कि मुझे अब धर्म-कार्यों में लग जाना चाहिए, देर करना अब उचित नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्ययन की छब्बीसवीं गाथा के भाव की तरह ही उसका चिन्तन जाग उठा। इस गाथा में प्रभु महावीर गणधर गौतम से कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्व-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए॥

अर्थात् तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पककर सफेद हो चले हैं। शरीर का समस्त बल अब क्षीण हो रहा है। अतएव हे गौतम ! धर्म-कार्य में समय मात्र का भी प्रमाद मतकर।

प्रतिबुद्ध नरेश करकण्डू राजमहल, सिंहासन, राज्य-वैभव छोड़ मुनि बन जाते हैं।
राजर्षि करकण्डू अप्रतिबुद्ध विहारी बन अनेक वर्षों तक तपाराधना करते हैं और अन्त में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन मोक्ष गति के अधिकारी बनते हैं।

प्रत्येकबुद्ध द्विमुखराय

पांचाल देश में काम्पिल्यपुर नगर। नगर के राजा का नाम था जयवर्मा। उनकी रानी का नाम था गुणमाला। एक दिन नगर-नरेश का दरबार जुड़ा था। राजसभा में अनेक देशों के दूत भी आये हुए थे। राजा ने एक विदेशी दूत से पूछा—“हमारे राज्य में दूसरे देशों की तुलना में किस विशिष्टता की कमी है ?”

दूत ने कहा—“आपके राज्य में चित्रशाला नहीं है।”

□ जयवर्मा से द्विमुखराय

राजा ने चित्रकारों एवं शिल्पियों को बुलाकर एक भव्य चित्रशाला बनाने का आदेश दिया। चित्रशाला-निर्माण के लिए स्थान का चयन हुआ, नीवें खोदी गईं। नीव खोदते समय खुदाई में एक अत्यन्त चमकता हुआ रत्नजड़ित-स्वर्ण-मुकुट मिला।

अब राजा जयवर्मा जब भी राज-सिंहासन पर बैठता तो उसी चमकते मुकुट को सिर पर धारण करता। जब भी नरेश के सिर पर वह मुकुट होता, दरबारियों व दर्शकों को उनके दो-दो मुख दिखाई देते। अतः उनका ‘द्विमुखराय’ नाम पड़ गया और यही नाम लोगों में प्रसिद्धि प्राप्त कर गया।

द्विमुख के सात पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री सुन्दर, रूपवती थी। नाम था—मदनमंजरी। ब्याही गई थी — उज्जयिनी-नरेश चण्डप्रद्योतन को।

□ इन्द्र-महोत्सव आयोजन

काम्पिल्यपुर में एक बार इन्द्र-महोत्सव का भव्य आयोजन किया गया। इस अवसर पर शहर के मध्य भाग में एक विशाल, सजे-धजे, सुन्दर इन्द्र-ध्वज की स्थापना की गई। पुष्पमालाओं, मणि-माणिक्य आदि रत्नों एवं रंग-बिरंगे वस्त्रों से सजाया गया वह इन्द्र-ध्वज मन को मोहने वाला लग रहा था। उसी इन्द्र-ध्वज के नीचे नृत्य, वाद्य, गीत आदि मनोरंजन के अनेक कार्यक्रम सम्पन्न किये गये। आठ दिन तक उत्सव चला। उत्सव की समाप्ति पर इन्द्र-ध्वज के वस्त्र, आभूषण, मणि-माणिक्य आदि जिनके थे, उन्होंने ले लिये। सभी अपने-अपने घर चले गये। पीछे रह गया केवल वह सूखा टूँठ, जिसे इन्द्र-ध्वज के रूप में सजाया गया था।

□ इन्द्र-ध्वज वैराग्य का कारण बना

नागरिकों ने इन्द्र-ध्वजरूप उस टूँठ को उखाड़कर गिरा दिया। सन्ध्या को द्विमुखराय उधर से किसी कार्यवश निकला तो इन्द्र-ध्वज को टूँठ के रूप में गिरा हुआ, धूल से सना, कुस्थान पर डाला हुआ देखा। बच्चों द्वारा घसीटा जाता हुआ देख वह आश्चर्यान्वित हुआ। सोचा-‘क्या था यह और क्या हो गया ? कैसी दुर्दशा में पड़ गया ? उत्थान की पराकाष्ठा के बाद पतन की यह स्थिति ! यही इन्द्र-ध्वज कल तक सारी प्रजा के आनन्द, उल्लास और उत्सवी-हलचल का कारण बना था, आज यही कैसी विडम्बना का कारण बन गया है ! संसार के सभी पदार्थों, प्राणियों की यही दशा होती है। धन, जन, महल, मकान, राज्य सभी दुर्दशा को प्राप्त होंगे, नष्ट होंगे, छोड़ने पड़ेंगे। इनमें आसक्ति रखना उचित कैसे हो सकता है ? दुर्दशा की स्थिति में पहुँच जाने वाले मुझे इन समस्त पदार्थों-धन, वैभव, राज्य-सम्पदा का परित्याग कर देना ही उचित है। अब तो मेरा ध्येय एकान्त श्रेयांसकारिणी मोक्ष-राज्य-लक्ष्मी के वरण का होना चाहिए।’

□ द्विमुखराय बने द्विमुख राजर्षि, साधना से सिद्धि मिली

विशिष्ट पुरुष हर कार्य में विशिष्ट ही रहते हैं। विचारों के आने की ही देरी थी, पर उसके बाद कोई देरी नहीं हुई। द्विमुखराय ने राज्य, रानियाँ, वैभव आदि समस्त

परिग्रह का त्यागकर अणगार धर्म अंगीकार कर लिया। इस तरह प्रत्येकबुद्ध बने राजर्षि द्विमुख ने वीतराग धर्म का प्रचार करते हुए कर्मक्षय कर मुक्ति की प्राप्ति की।

प्रत्येकबुद्ध राजा नगति

भरतक्षेत्र में क्षिति प्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु ने चित्रकार चित्रांगद की कन्या कनकमंजरी की वाक्चातुरी से प्रभावित होकर उससे विवाह किया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। राजा और रानी ने विमलचन्द्राचार्य से श्रावक व्रत ग्रहण किये। चिरकाल तक व्रतों का पालन करके वे दोनों देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यवकर कनकमंजरी का जीव वैताद्वयतोरणपुर में दृढ़शक्ति राजा की गुणमाला रानी से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया कनकमाला। वासव नामक विद्याधर उसका अपहरण करके वैताद्वयपर्वत पर ले आया। कनकमाला के बड़े भाई कनकतेज को पता लगा तो वह वहाँ जा पहुँचा। वासव के साथ उसका युद्ध हुआ। उसमें दोनों ही मारे गए। इसी समय एक व्यन्तरदेव आया, उसने भाई के शोक से ग्रस्त कनकमाला को आश्वासन देते हुए कहा कि 'तुम मेरी पुत्री हो।' इतने में कनकमाला का पिता दृढ़शक्ति भी वहाँ आ गया। व्यन्तरदेव ने कनकमाला को मृततुल्य दिखाया, जिससे उसे संसार से विरक्ति हो गई। दृढ़शक्ति ने स्वयं मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। कनकमाला तथा उस देव ने उन्हें वन्दना की। अपना वृत्तान्त सुनाया। मुनिराज से व्यन्तरदेव ने क्षमा-याचना की। जातिस्मरण ज्ञान से कनकमाला ने व्यन्तरदेव को अपना पूर्वजन्म का पिता जानकर उससे अपने भावी पति के विषय में पूछा तो उसने कहा—“तुम्हारा पूर्वभव का पति जितशत्रु, देवलोक से च्यवकर दृढ़सिंह राजा के यहाँ सिंहरथ नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। वही तुम्हारा इस जन्म में भी पति होगा।” तदनुसार कनकमाला का विवाह सिंहरथ के साथ सम्पन्न हुआ। सिंहरथ को बार-बार अपने नगर जाना और वापस इस पर्वत पर आना होता था, इस कारण वह 'नगति' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उक्त व्यन्तरदेव (कनकमाला का पिता) विदा लेकर उक्त पर्वत से चला गया, तब सिंहरथ राजा ने कनकमाला को अपने पिता के वियोग का दुःखानुभव न हो, इस विचार से वहीं एक नया नगर बसाया। एक बार राजा कार्तिकी पूर्णिमा के दिन नगर से बाहर

चतुर्विध सैन्य सहित गए। वहीं वन में एक स्थान पर पड़ाव डाला। राजा ने वहाँ एक आम्रवृक्ष देखा जो नये पत्तों और मंजरियों से सुशोभित एवं गोलाकार प्रतीत हो रहा था। राजा ने मंगलार्थ उस वृक्ष की एक मंजरी तोड़ ली। इसे देखकर समस्त सैनिकों ने उस वृक्ष की मंजरी व पत्ते आदि तोड़कर उसे टूँट-सा बना दिया। राजा जब वन में घूमकर वापस लौटा तो वहाँ हराभरा आम्रवृक्ष न देखकर पूछा—“मंत्रिप्रवर ! यहाँ जो आम का वृक्ष था, वह कहाँ गया ?” मंत्री ने कहा—“महाराज ! इस समय यहाँ जो टूँट के रूप में मौजूद है, यही वह आम्रवृक्ष है।” सारा वृत्तान्त सुनकर, पूर्व के श्रीसम्पन्न आम्रवृक्ष को अब श्रीरहित देखकर संसार की प्रत्येक श्रीसम्पन्न वस्तु पर विचार करते-करते नगगति राजा को संसार से विरक्ति हो गई। प्रत्येकबुद्ध बने राजा ने दीक्षा ग्रहण की। मुनि बनकर तप-संयम का पालन करते हुए समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग करके अन्त में सिद्ध गति पाई।

मोक्ष जाना है तो बोध प्राप्त करना होगा। स्वयंबोध उत्कृष्ट है, प्रत्येकबुद्ध होना उत्तम है और बुद्धबोधित होना भी मोक्ष का कारण है। आपको मिल रहा है जिनवाणी का योग, जिस दिन बोध प्राप्त हो जायेगा, मुक्ति का सुयोग भी निश्चित हो जायेगा।

आनंद ही आनंद !



खिण लाखीणी जाय... (1)

(मृगापुत्र)

तू तो अब के बचा ले थारो जीव,
फंसण दे मत ना फंद में॥टेर॥
पुद्गल ऊभो पारधी रे, जाल विषय री लेय।
सावधान रहिजे सदा रे, इण में ही है थारो श्रेया॥
फंसण दे मत ना....

जिनानुयायियों !

गुरुदेव आचार्यप्रवर श्री लालचन्द जी म. सा. ने जीव को फंदे से बचने की बात कही है। फंदे से बच जाना बहुत बड़ी बात है। हर कोई नहीं बच सकता। बचने के लिए धर्म की शरण और गुरु के चरणों में जाना पड़ता है। जीव अर्थात् आत्मा, हम सभी की यह आत्मा अभी तक फंदे में पड़ी है। कुछ छूटने के प्रयत्न में हैं तो कुछ जानबूझकर इसमें फँसे हुए हैं और कुछ नासमझ भी हैं, जो इन्हीं घातक फंदों को अपना सुख मान रहे हैं।

हमारी यह आत्मा नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव गति में अनादिकाल से भ्रमण कर रही है। सभी योनियों में, सभी स्थानों में कई-कई बार जा चुकी है और देख चुकी है वहाँ के नजारे, भोग चुकी है दुःख भी और सुख भी, पर फंदा तो फंदा ही है, वह चाहे रेशम का हो या तांत का। पिंजरा तो पिंजरा ही है, वह चाहे लकड़ी का हो, लोहे का हो या सोने का। बात तो बचने की है, पर यह जीव बच नहीं पा रहा है। कारण, बचने की कोशिश नहीं की जाती। जो कोशिश करते हैं, वे ढंग से नहीं करते, पूर्णतः समर्पित भाव से नहीं करते, उनमें कहीं कोई कमी रह जाती है।

□ क्या है फंदा, कौन है पारधी और किसका है जाल ?

सवाल यह है कि फंदा, जाल या पिंजरा क्या है ? पहले ज्ञान होगा तभी बचने का प्रयत्न होगा। वह फंदा है विषय एवं विकारों का; मोह, माया, लोभ का; कषाय-चतुष्क का। जाल बिछाने वाला पारधी अर्थात् शिकारी है पुद्गल। फँसने वाले हैं पशु-पक्षी, नर-नारी आदि प्राणी। इस जाल में निर्बल भी फँसते हैं और बलवान भी, हिंसक भी फँसते हैं और विध्वंसक भी, कुछ पुण्यात्मा भी फँसते हैं और पापात्मा भी, सभी फँसते हैं।

□ सांसारिक सुख के साधन ही दुःख के कारण

जाल बिछा है—जीव मात्र को आकर्षित कर रहा है। अनेक नये-नये भोगोपभोग के साधन जीवरूपी प्राणी को ललचाने के लिए तैयार हैं। जीव जब समय एवं श्रम-बचत के अति आधुनिक साधनों को देखता है तो अति प्रसन्न हो जाता है। सोचता है—कितना आराम, कितनी सुविधा देते हैं ये साधन ! पर वस्तुतः ये साधन आपकी वैयक्तिकता, शारीरिक सामर्थ्य और मानसिक शक्ति को छीन रहे हैं। जिन्हें आप लोग सुखरूप समझ रहे हैं, वे ही विज्ञान के साधन वस्तुतः दुःखरूप हैं और यह निश्चित जानिए कि जो दुःखरूप हैं, वे कभी सुख दे नहीं सकते।

□ सत्य घटना (वाशिंग मशीन)

मद्रास शहर की एक सत्य घटना है। कपड़े धोने की मशीन जब नई-नई बाजार में आई तो एक समृद्ध व्यक्ति ने 'पत्नी को आराम मिलेगा'—यह सोचकर एक वाशिंग मशीन खरीद ली। अब घर में वाशिंग मशीन आ गई तो गृहिणी को कपड़े धोने की बड़ी सुविधा हो गई। वह अत्यन्त प्रसन्न थी। सोचा उसने—'मेरे पति कितने अच्छे हैं ? वे मेरी सुविधा का, दुःख-दर्द का कितना ध्यान रखते हैं।'

बंधुओं ! तब वह मशीन केवल कपड़े धोती थी। अब तो और भी अधिक सुविधाजनक कर दी गई है। गंदा कपड़ा डालिए, धुलकर-सूखकर बाहर आएगा। सुखाने का झंझट, परिश्रम समाप्त। महिलाओं के लिए कितना आराम ! पर ध्यान रखिए, यह आराम ही हराम है, यह आलस्य ही पापरूप है।

बात चल रही थी मद्रास के उस समृद्ध व्यक्ति की, जिसने अपनी पत्नी की सुख-सुविधा और आराम के लिए एक वाशिंग मशीन खरीदी। उस व्यक्ति के तीन लड़के थे। एक बहुत छोटा सालभर के आसपास, दूसरा चार-पाँच साल का और तीसरा सात-आठ साल का। जब भी बड़ा लड़का और मझला लड़का आपस में झगड़ा करते और मझला लड़का रोता, तंग करता तब माँ उसे डराती कि रोया तो इस मशीन में डाल दूँगी।

एक समय की बात। वह समृद्ध व्यक्ति किसी व्यापारिक कार्य से शहर से बाहर गया हुआ था। पड़ोसी की लड़की की शादी थी। गीतों का बुलावा आया था। अतः उस समृद्ध व्यक्ति की पत्नी पड़ोसी के घर विवाह के मंगल गीत गाने चली गई। अपने सबसे छोटे बच्चे को दोनों बड़े बच्चों की देखरेख में छोड़ गई।

बंधुओं ! औरतें गीत कम गाती हैं, बातें बहुत करती हैं। व्याख्यान हो या विवाह, इन बहनों की बातों का कोई आर-पार नहीं। कुएँ या नल से पानी भरने जाएँगी तो भी बातें और चक्की पर गेहूँ पिसाने जाएँगी तो भी बातें। सिर पर घड़ा रखा है भरा हुआ, घड़े पर एक और छोटा घड़ा है, काँख में बच्चा या कलशी है, पर बातें यदि शुरू हो गईं तो न भार महसूस होगा और न समय का पता चलेगा। घर पहुँची, सासू ने घड़ा उतारने या आटे का बर्तन उतारने में कुछ देर लगा दी तो फिर देखिए नजारा—“कितनी देर हो गई, मर रही हूँ बोझे से, हाथ का काम बाद में कर लिया होता...।”

समृद्ध व्यक्ति की पत्नी भी गीतों में, विशेषकर बातों में उलझ गई। समय व्यतीत होता गया। घर पर उसका छोटा बच्चा रोने लगा। दोनों बड़े बच्चों ने उसे चुप कराने की कोशिश की, पर वह और अधिक जोर से रोया। इस पर बड़े वाले ने माँ की तर्ज पर एक-दो बार कहा—“चुप हो जा भैया, नहीं तो डाल दूँगा मशीन में।” बच्चा फिर भी चुप नहीं हुआ तो बड़े को आया गुस्सा। खोला मशीन का ढक्कन, बच्चे को डाल दिया अंदर। बच्चा और जोर से रोने लगा। नासमझ बड़े ने इस पर बिजली का मशीन वाला बटन दबा दिया। कपड़े की जगह मशीन में बच्चा धुलने लगा, धुलने क्या लगा छिलने-पिसने लगा।

कुछ देर जोर-जोर से, खूब जोर से चिल्लाने की आवाज आई और फिर बंधुओं ! आवाज सदा के लिए बंद हो गई। मशीन में खून-ही-खून हो गया। बच्चे की चटनी बन गई। अत्यन्त वीभत्स, अत्यन्त घृणित, अत्यन्त अदर्शनीय दृश्य।

बड़े ने देखा, घबराया। माँ मारेगी, पिता आयेंगे तो डाँटेंगे। उसने मझले का हाथ पकड़ा और घर का दरवाजा खोल बाहर आ गया। गली पार की, सड़क पर आया और मझले का हाथ पकड़े-पकड़े ही दौड़ने लगा। साहूकारपेट का भरा-पूरा बाजार। एक तरफ से तीव्र गति से आ रही गाड़ी के नीचे आ गए वे दोनों। एक हरा-भरा घर उजड़ गया, खिलते-मुस्कराते सुरभि लुटाते तीन नन्हें फूल असमय ही जीवनरहित बन गये।

□ तेरा तुझको अर्पण

बंधुओं ! यही प्रकृति का नियम है। सुख के कृत्रिम साधन जितने अधिक बढ़ेंगे, दुःख उतने-उतने नजदीक आते जाएँगे। सांसारिक सुख क्या हैं ? क्षणिक सुख, सुखाभास। इन सुखों में, भोगोपभोगों में फँसा प्राणी इन क्षणिक सुखों के बदले आने वाले समय में जन्म-जन्मांतर तक अनन्त दुःखों को भोगता हुआ, संसार-भ्रमण करता है। आप ये सब बातें यहाँ प्रवचनों में संत, सती, गुरुजनों के मुख से सुनते हैं, शायद कुछ समय तक विचार भी करते हैं, पर यहाँ से बाहर जाते ही भूल जाते हैं। यहाँ से उठे, आसन झटका तो बस यहाँ का माल यहीं छोड़ गए। गुरु महाराज ! यह आपका धन आपको समर्पित। तेरा तुझको अर्पण।

□ जीवन में उतारें जिनवाणी

अरे महावीर के वीरों ! विरक्ति चर्चा से नहीं आ सकती। विरक्ति के लिए जिन-वचनों को, अमृतवाणी को हृदय में धारण करना होगा, जीवन में उतारना होगा। यह आत्म-कल्याणी वाणी जब व्यवहार में उतरेगी तभी संस्कार परिष्कृत होंगे। आज आवश्यकता इसी बात की है। पुद्गलजनित संस्कारों को त्यागना होगा, मोह और माया से बचना होगा, कषायों और तृष्णा को कम करना होगा। पुद्गल-पारधी के विषय-जाल से बच गए, नहीं पड़े यदि फंदे में, छूट गए यदि फंदे से तो यह लोक भी सुधरेगा और परलोक भी।

□ छूटें फिर फँसें नहीं फंदे में

विषयों के जाल में फँसे हैं यदि आप लोग तो ऐसे समय अपने चिन्तन को ऊर्ध्व धरातल की ओर ले जाएँ। विचार करें कि छूटना है इनसे और एक बार छुटकारा मिल जाए तो दुबारा नहीं फँसना है इनमें। आपकी मजबूरी यह है कि फँसते हैं तो छूटने का प्रयास करते हैं और छूटते हैं तो भूल जाते हैं कि पुनः इन फंदों में नहीं फँसना है, जा पहुँचते हैं पुनः वहीं और फँस ही जाते हैं बार-बार।

□ महर्षि मृगापुत्र

बंधुओं ! चल रहा है उन महापुरुषों का प्रसंग जिन्होंने विषय और कषायों के जाल को तोड़ा, संसार से विरक्त हुए, संयमी जीवन अंगीकार किया और अष्टकर्म को काटकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने। उत्तराध्ययनसूत्र के उन्नीसवें अध्ययन में जिनका वर्णन आया है, आज उन्हीं महर्षि मृगापुत्र का आदर्श-प्रसंग आपके सम्मुख रखा जाएगा। आचार्य श्री जयमलजी महाराज ने 'बड़ी साधु वन्दना' में इस प्रसंग का उल्लेख इस पद में किया है—

धन्य मोटा मुनिवर, मृगापुत्र जगीश।

मुनिवर अनाथी, जीत्या राग ने रीष॥२३॥

इस कड़ी में दो महापुरुषों के नाम आए हैं। अनाथी मुनि का वर्णन आप आगे के प्रवचनों में सुनेंगे। आज मृगापुत्र की बात एकभवावतारी आचार्य श्री जयमलजी म. सा. द्वारा बनाई हुई कड़ियों में—

सुग्रीव नगर सुहामणो जी,

राजा बलभद्र नाम।

तस घर राणी मृगावती जी,

तस नंदन गुणधाम, ए माता ! खिण लाखीणी जाय॥

एक दिन बैठा गोखड़े जी,

राण्यां रे परिवार।

शीश दाझे ने रवि तपे जी,

वे दीठा अणगार, ए माता ! खिण लाखीणी जाय॥

सुग्रीव नाम का समृद्ध, सुन्दर, विशाल नगर था। बलभद्र नामक राजा वहाँ राज्य करता था। राजा की पट्टमहिषी का नाम था मृगावती।

रानी मृगावती की रत्नकुक्षि से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। पुत्र का नाम रखा गया बलश्री, पर माता के गुणों और विशिष्टताओं की बालक में अधिकता देख सभी उसे माँ के नाम से मृगापुत्र ही कहने लगे। मृगापुत्र अपने माता-पिता को ही नहीं, अपितु अन्य राज्याधिकारियों, दास-दासियों तक को भी अत्यन्त प्रिय लगता था।

शिशु से बालक और बालक से किशोर बन युवावस्था की ओर बढ़ रहे मृगापुत्र ने जब सभी तरह की विद्याओं व कलाओं का अध्ययन कर लिया तो महाराज बलभद्र ने उसे 'युवराज' पद से विभूषित किया। अनेक राजकुमारियों के साथ मृगापुत्र का विवाह हुआ और राज-वैभव का भोग करते हुए आनन्द से समय व्यतीत होने लगा।

मणिरयण कुट्टिमतले, पासायालयणट्ठओ।

आलोएइ नगरस्स, चउक्क-तिय-चच्चरे॥

(उत्तराध्ययन १६/४)

एक दिन मृगापुत्र अपने राजमहलों के उस महल में गए, जिसमें बैठकर चारों दिशाओं में आए हुए विशाल भूभाग के नजारे देखे जा सकें। महल का फर्श मणि-माणिक्य एवं रत्नों से जड़ा हुआ था। महल के सर्वोपरि चतुरिका रूप गवाक्ष अर्थात् झरोखे में युवराज बैठ गये और वहाँ से जहाँ तक उनकी नजर पहुँचती थी, वहाँ तक के नगर-भवनों, चौराहों, तिराहों, बाजार आदि के दृश्यों का अवलोकन करने लगे। सामने एक विशाल चौराहे पर उन्हें अनेक नर-नारी दिखाई दिए। वे सभी इतस्ततः आ-जा रहे थे। युवराज इनके हाव-भावों, रंग-बिरंगे परिधानों एवं मंद-तीव्र-बंकिम गति को देखने लगे।

अह तत्थ अइच्छंतं, पासई समण संजयं।

तव-नियम-संजमधरं, सीलड्ढं गुणआगरं॥

(उत्तराध्ययन १६/५)

इसी समय युवराज की नजर राजपथ पर गमन करते हुए संयम-धारक, तपाराधक, ज्ञान-गुणाकर एक श्रमण पर पड़ी। वैशाख-ज्येष्ठ के महीनों की भयंकर गर्मी। आकाश में सूरज अपनी पूर्ण शक्ति के साथ तप रहा था, श्रमण के सिर पर एक भी बाल नहीं था। उनके मुँडित सिर पर पड़ रही तप्त-सूर्य की तीव्र किरणों, उनके

नग्न सिर को जैसे जला डालना चाहती थीं—फिर भी क्षमाश्रमण राजपथ पर आगे बढ़ रहे थे।

युवराज मृगापुत्र ने उन्हें देखा तो देखते ही रहे। अनिमेष, बिना पलक झपकाए, निरन्तर उन्हें देखते हुए वे सोचने लगे—‘मैंने पहले भी कभी इस वेष को, ऐसे श्रमणरूप को कहीं देखा है। स्थिर-दृष्टि, एकाग्र मन। कहाँ देखा है?’—सोचा युवराज ने।

मुनि अपने नंगे पाँव जलती-तपती धरा पर धरते हुए धैर्यपूर्वक चले जा रहे थे। नजर उनकी नीची, पथ पर टिकी थी। मारवाड़ में तो कहते भी हैं कि—

**नीचे जोयां गुणघणां, जीव जन्त टल जाया।
ठोकर भी लागे नहीं, शीलवन्त कहलाय।।**

जीव-जन्तुओं को टालने का नियम तो हर मुनि के होता है। वे ‘प्राणातिपात’ के तीन करण, तीन योग से त्यागी होते हैं। जीव-विराधना, किसी जीव को कष्ट, तकलीफ, बाधा देना तक उनकी जीवनचर्या से सर्वथा विपरीत होता है। वे श्रमण भी नीची नजर किए, जीवों की यतना रखते हुए, ईर्यासमिति का पालन करते हुए चले जा रहे थे। उनके चेहरे पर असीम शांति विराजमान थी।

मृगापुत्र चिन्तन में खो-से गए। ऊहापोह करते-करते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उन्होंने पूर्वभव का स्मरण किया—मैं देवलोक से च्युत होकर मनुष्यभव में आया हूँ। उससे पूर्व मैं भी इन श्रमण की तरह ही संयम-साधक था। संयम-साधना के फलस्वरूप ही देवलोक में उत्पन्न हुआ। अनेक पूर्वजन्मों का अवलोकन जातिस्मरण ज्ञान से होता गया। नरक में गए तब के दृश्य भी देख लिए और तिर्यच गति में अत्यन्त कष्ट भोगे तब के नजारे भी।

पूर्वभवों को देख मृगापुत्र संसार के भोगोपभोग एवं विषयों से विरक्त बन गए। उनका हृदय अब संयम में अनुरक्त हो गया।

**मुनि-भव देखी सांभर्यो जी,
मन बसियो रे वैराग।
हरख धरी ने ऊठिया जी,
पाय माताजी रे लाग, ए माता ! खिण लाखीणी जाय।।**

संसार से विरक्त, संयम में अनुरक्त बन श्रमण बन साधना करने की इच्छा से मृगापुत्र माता-पिता के पास आए और हर्षित तन-मन से दीक्षा के लिए अनुमति माँगी। वे माता-पिता से कहने लगे-

सुयाणि मे पंच महव्वयाणि, नरएसु दुक्खं च तिरिक्ख जोणिसु।
निविण्णकामो मि महण्णवाओ, अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो॥

(उत्तराध्ययन १६/११)

“हे माता ! मैंने अपने पूर्वभव में पंचमहाव्रतरूप श्रमणधर्म का पालन किया है तथा नरक और तिर्यचयोनियों में जो दुःखातिरेक हैं, उनको भी भोगा है। मैं संसाररूप महासागर से काम-विरक्त हो गया हूँ। अतः मुझे श्रामण्यधर्म में दीक्षा की अनुमति दें।”

अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबंध-दुहावहा॥
इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्ख-केसाण भायणं॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ॥

(उत्तराध्ययन १६/१२-१३ एवं २४)

आगे मृगापुत्र कहते हैं-“माता-पिता ! संसार के भोग विषफल के तुल्य दुःखावह हैं, शरीर अनित्य-अपवित्र एवं मल-मूत्र, माँस-मज्जा आदि घृणित पदार्थों से उत्पन्न है। संसार का आवास अशाश्वत है, क्लेश देने वाला है। जीवन पानी का बुलबुला है, रोग-शोक एवं जरा-मरण से ग्रस्त इस संसार में खेत, वास्तु, घर, स्वर्ण, रजत, पुत्र, स्त्री, बंधु सभी को छोड़कर एवं इस शरीर को भी छोड़कर एक दिन यहाँ से जाना होगा। जैसे लम्बी यात्रा का यात्री पाथेय बिना भूख व प्यास से त्रास पाता है, वैसे ही धर्माचरण किए बिना जो परभव में जाता है, वह अनेक व्याधियों से पीड़ित व दुःखी बन जाता है। संसाररूपी दग्ध दावानल से बचने हेतु ही मैं आपकी अनुमति पाकर दीक्षित बनना चाहता हूँ।”

बंधुओं ! मृगापुत्र के माता-पिता भी आप ही की भाँति मोहग्रस्त थे। वे नहीं चाहते थे उनका पुत्र दीक्षा ले। बोले—“पुत्र ! दीक्षा अति दुष्कर है। जीवन-पर्यंत प्राणिमात्र के प्रति समत्व भाव रखना, पंचमहाव्रतों का पालन तीन करण, तीन योग से करना, सूर्यास्त से सूर्योदय काल तक अशनादि चारों आहारों का त्याग करना, बावीस परीषह सहना, केशलुंचन करना अत्यन्त कठिन, महादुष्कर है। हे पुत्र ! तू सुख भोगने-योग्य-वय वाला सुकुमार है। तू श्रमणधर्म-पालन करने, अप्रमत्त बन साधना करने, उग्र तपश्चरण करने में समर्थ नहीं है। अभी तू संसार का भोग कर, मनुष्य सम्बन्धी शब्द, रूपादि पाँच प्रकार के काम-भोगों का भोग कर। जब दुःखानुभूति हो, शरीर वृद्ध हो, रोग आने लगें, निर्बलता व अशक्तता आ जाए, तब विरक्त बन संयम ग्रहण कर लेना।”

तू सुकुमार सुहामणो जी,
भोगो संसार ना भोग।
जोबन वय पाछी पड़े जब,
तुम आदर जो जोग, रे जाया...
तुझ बिन घड़ी रे छः मास॥
चारित्र छे जाया दोहिलो जी,
जिम खांडे री धार।
बिन अपराधे जूझणो जी,
औषध नहीं है लिगार, रे जाया...
तुझ बिन घड़ी रे छः मास॥

मृगापुत्र ने देखा कि माता-पिता मोहग्रस्त हैं, वे दुःखों को ही सुख मानकर चल रहे हैं। अतः अपने जीवनोद्धार के लिये उनसे दीक्षानुमत्यर्थ फिर कहा—“पूज्यवर ! इस लोक से मेरा मन भर चुका है, पिपासा बुझ चुकी है। नरकादि गतियों में मैंने किस-किस प्रकार वेदना भोगी, उसको स्मृति में लाने पर मेरी विरक्ति दृढ़ हो जाती है। मेरे लिए अब संयम दुष्कर नहीं है।”

सारीर-माणसा चेव, वेयणाओ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य॥

(उत्तराध्ययन १६/४६)

मृगापुत्र अपने माता-पिता को कह रहे हैं कि “मैंने शारीरिक और मानसिक भयंकर वेदनाएँ अनन्त बार सहन की हैं तथा अनेक बार दुःखों और भयों का अनुभव किया है।”

बंधुओं ! आप भी अपने स्मृति-पटल पर जोर दें। वर्तमान की वेदनाएँ तो आपके लिए कुछ भी नहीं हैं। इस जीव ने इससे भी कई गुणा अधिक अनन्त बार असह्य वेदनाएँ भोगी हैं। आप अब भी यदि अठारह पापों से निवृत्त नहीं होते हैं तो यही पाप आगे जाकर वेदना के रूप में आपके सामने राक्षसी रूप धारण किये तैयार मिलेंगे। प्रवचन सुनते हैं, सुनने के बाद धारण करते समय आपको घबराने की जरूरत नहीं है। आज इस स्थानक में दो हजार की संख्या में श्रावक-श्राविकाएँ हैं। इनमें से अधिकांश सामायिक में बैठे हैं। केवल कुछ नये आने वाले युवक-श्रावक ही बिना सामायिक लिए बैठे हैं। जैसे स्कूल में भर्ती के बाद एक दिन बिना यूनीफार्म में बैठने दिया जाता है, दूसरे दिन क्या होता है यह आपसे छिपा नहीं है ? पर वैसा व्यवहार मैं आपके साथ नहीं करूँगा। लेकिन हाँ, आप स्वयं ध्यान रखें सामायिक में प्रवचन सुनने से आपको दोहरा लाभ प्राप्त होता है। प्रथम तो स्वाध्याय हो रहा है और दूसरे में आस्रव के द्वार भी बन्द हो जाते हैं।

मृगापुत्र अपनी श्रुति-स्मृति से जान रहा है कि मैंने नरकादि चार गतिरूप जरामरणरूपी भय के आकर (खान), संसाररूपी घोर अरण्य में भयंकर जन्म और मरण के दुःख सहे हैं। मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से पुनः कहा, नरक में मैंने कौन-कौन से कष्ट भोगे हैं, उन्हें आप सुनें—

जहा इहं अगणी उण्हो, एत्तोऽणंतगुणे तहिं।

नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए॥

(उत्तराध्ययन १६/४८)

अर्थात् जैसे अग्नि उष्ण है, लेकिन उससे भी अनन्तगुणी अधिक उष्ण वेदना मैंने नरकों में अनुभव की है।

जिस समय आपको सामायिक पौषध करने के लिए कहा जाता है, तब आप कहते हैं—बहुत गरमी है। लेकिन नरक में यहाँ से अनन्तगुणी अधिक गर्मी इस जीव ने अनेकों

बार न चाहते हुए भी सहन की है। यहाँ की गरमी से बचने के लिए श्रेष्ठ धर्माचरण को छोड़ आप पंखा, कूलर, एयरकण्डीशन आदि की शरण ले लेते हैं। लेकिन नारकी के भव में आपको यहाँ पर की गई इन अप्काय, वायुकाय आदि की विराधना को परमाधार्मिक देव याद करवाकर फल भोगने के लिए मजबूर करेंगे। नरक में केवल गरमी ही गरमी नहीं, शीत वेदना इससे भी बढ़कर है। कहा है—

जहा इमं इहं सीयं, एत्तोऽणंतगुणं तहिं।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए॥

(उत्तराध्ययन १६/४६)

अर्थात् जैसे यहाँ ठण्ड (शीत) है, उससे अनन्तगुणी अधिक असातारूप शीत वेदना मैंने नरकों में अनुभव की है।

यह वेदना केवल मृगापुत्र ने ही सहन नहीं की, अपितु आपने और हमने भी अनेकों बार ऐसी वेदना को भोगा है। यहाँ आप सर्दी आते ही धर्म-साधना कम करना शुरू कर देते हैं। सर्दी से बचने के लिए तरह-तरह के भौतिक साधन उपयोग में लेना शुरू कर देते हैं। लेकिन दूसरे निकाय के जीवों की विराधना करके आप कभी सुखी नहीं बन सकते हैं। भगवान महावीर ने कहा—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं, विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥

(दशवैकालिकसूत्र २/५)

आपको सुखी बनना है तो आप आतापना लो। सर्दी में सर्दी को सहन करो। गरमी में गरमी को समभाव के साथ सहन करो। जो सुकुमालताएँ हैं, उनका त्याग करो। अपनी कामनाओं का निवारण करो। रागभाव को दूर करते हुए अपने दोषों का छेदन करो। इन सब कार्यों से तुम इस संसार में सुखी बन सकते हो।

वर्तमान में आप धर्म-साधना कर रहे हैं, वह कितने अंशों में यथार्थ है, इसका चिन्तन करना है। आज कुछ आधुनिक विचार वाले लोगों ने सामायिक-पौषध में भी पंखा आदि का प्रयोग करना शुरू कर दिया है। जो सामायिक-पौषध, धर्म-साधना पाप की प्रवृत्ति का त्याग करने के लिए करते हैं और आस्रव का द्वार बन्द करने के लिए

करते हैं, यदि उसी में आप आस्रव का सेवन करने लग जाएँ तो आपको धर्म-लाभ होगा या पाप-लाभ ?

संसारी व्यक्ति सांसारिक कार्यों में जो पाप प्रवृत्ति करता है, वह इतनी घातक नहीं है, उससे कई गुणा अधिक घातक है आध्यात्मिक प्रवृत्ति में पाप करना। वहाँ तो व्यक्ति पाप को पाप समझकर अनिच्छापूर्वक करता है, उसे छोड़ने का मानस रखता है। लेकिन धर्म-साधना में पाप और आस्रव की प्रवृत्ति सुविधाभोगी बनकर की जाती है। सुधार करने के बजाय उसे और अधिक बढ़ावा देने के लिए कई बार बड़े-बड़े सम्मेलन तक किये जाते हैं। लेकिन ऐसी प्रवृत्ति से न तो कभी स्वयं का और न ही दूसरों का आत्म-कल्याण हुआ है।

मृगापुत्र भी अपने माता-पिता को कह रहे हैं—मैंने अनेक बार उष्ण-शीत वेदना को भोगा है। अब संयम के अन्दर आने वाला शीत परीषह व उष्ण परीषह मुझे संयम से विचलित नहीं कर सकता। आगे कहता है—केवल मैंने शीत-उष्ण वेदना ही नरक में नहीं भोगी, अपितु मुझे वहाँ और भी अनेक वेदनाओं का अनुभव हुआ है।

कन्दन्तो कंदुकुम्भीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो।

हुयासणे जलंतम्मि, पक्कपुव्वो अणंतसो॥

(उत्तराध्ययन १६/५०)

अर्थात् मैं नरक की कन्दुकुम्भियों में (पकाने के लोह पात्रों में) ऊपर पैर और नीचे सिर करके प्रज्वलित (धधकती हुई) अग्नि में आक्रन्दन करता हुआ अनन्त बार पकाया गया हूँ।

बन्धुओं ! यह वर्णन सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसी स्थिति—ऊपर पैर नीचे सिर और नीचे धधकती हुई अग्नि। तवे के ऊपर जैसे रोटी के समान सेंका गया। कड़ाही में पकौड़े की भाँति तला-भूना गया यह जीव।

यदि आँखों के सामने ऐसा दृश्य आ जाये तो एक क्षण भी उस दृश्य को देखा नहीं जा सकता। पापभीरु व्यक्ति तो वहीं मूर्च्छित-सा हो जाता है। लेकिन निर्दयी कुछ मनुष्य स्वाद के लिए इसी प्रकार जीवित सूअर आदि को अग्नि में तपाते हैं। मुँह से लगाकर गुदा द्वार तक लोहे की सलाका में पिरोकर नीचे अग्नि से तपाते हैं। कैसी

भयंकर वेदना, लेकिन कोई सुनने वाला और बचाने वाला नहीं। ठीक यही दशा नरक में इसी जीव के साथ हुई। एक-दो बार नहीं, अनन्त बार हुई। लेकिन कोई बचाने के लिए नहीं आया। क्या आप वापस उसी नरक में वही वेदना भोगने के लिए जाना चाहेंगे ? (श्रोता-नहीं, कभी नहीं)

आप नरकादि गतियों की वेदना भोगना नहीं चाहते हैं तो बचने का एक मात्र साधन है संयम। आपके सामने विराजे संयम शिरोमणि गुरुदेव श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. साक्षात् तिरण-तारण की जहाज हैं। आपने ११-१२ वर्ष की अल्प उम्र में संयम धारण किया और आगमों के ज्ञाता बनकर उत्कृष्ट चारित्र द्वारा स्व-पर का कल्याण कर रहे हैं। मेरा भी आपने ही कल्याण किया। मैंने भी इसी तरह नरकादि चार गतियों के दुःखों का वर्णन आपश्री के मुखारविन्द से सुना और संयत बनने की भावना बन गई। गुरुदेव यथा नाम तथा गुण हैं। 'पारस' से एक बार संसर्ग हो जाता है तो लोहा भी सोना बन जाता है। जो बन्धु लोहे के समान यानि धर्म से अनजान यदि एक बार गुरुदेवश्री के संसर्ग में पहुँच गये तो स्वर्ण के समान व्रतधारी श्रावक या महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ बन जाते हैं। आप भी सम्यक् प्रकार से संसर्ग में आइये, नहीं तो संसार की चार गति रूप भयंकर वेदना आगे तैयार मिलेगी। मृगापुत्र की भावना त्याग, वैराग्य से ओतप्रोत है। वह अपनी माता से पुनः कहता है—

महादवगिसंकासे, मरुम्मि वड्रवालुए।
कलंबवालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो॥

(उत्तराध्ययन १६/५१)

अर्थात् महादावानल के तुल्य, मरु देश की बालू के समान तथा वज्रबालुका (वज्र के समान कर्कश एवं कँकरीली रेत) में और कलम्बबालुका (नदी के पुलिन) की तपी हुई बालू में अनन्त बार मैं जलाया गया हूँ।

आपने चने के होले (घेघरे), गेहूँ के होले, कच्ची मूँगफली, भुट्टा, शकरकन्द आदि को भूनते हुए देखा है या स्वयं ने इस कार्य को किया है। सचित्त पदार्थों को अग्नि के ताप में सेकने से जो उन जीवों को वेदना होती है, उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता। नारकी में इसी भाँति नैरियों को अति उष्ण बालू में भूना जाता है। यहाँ पर

आप नंगे पाँव तपी धरती पर चलने से घबराते हैं। लेकिन वहाँ तो पूरा शरीर उस तपी हुई रेत में भून दिया जाता है। उस वेदना से कोई बचाने वाला वहाँ नहीं मिल सकता। जो 'पानी आने से पहले पाल बाँधे' उसे समझदार कहते हैं। आप भी पाप प्रवृत्ति से दूर हट निवृत्ति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं तो नरकादि दुर्गतियों से बच सकते हैं।

रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्डं बद्धो अबंधवो।
 करवत्त-करकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणंतसो॥
 अइतिक्खकंटगाइण्णे, तुंगे सिंबलिपायवे।
 खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं॥

(उत्तराध्ययन १६/५२-५३)

अर्थात् बन्धु-जनों से रहित (असहाय) रोता-चिल्लाता हुआ मैं कन्दुकुम्भियों और अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों से व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर पाश से बाँधकर आरे आदि शस्त्रों से अनन्त बार छेदा गया और इधर-उधर खींचतान करके दुःसह कष्ट देकर फेंका गया।

बंधुओं ! आप यहाँ पर प्रसन्नतापूर्वक अनेकानेक जीवों के साथ छेदन-भेदन की क्रिया दिन-रात करते हैं। लेकिन ये सारे पाप उस नरक में जाने पर ब्याज सहित इस जीव को पुनः भोगने पड़ेंगे। व्यक्ति पेट के लिए तो पाप कम करता है, पेट के लिए अधिक। पेट और पेट के साथ चलने वाले नहीं हैं। मृगापुत्र भी इसीलिए अपने माता-पिता से कह रहे हैं—मुझे अब आप संयम की आज्ञा प्रदान करो।

आपके सामने यदि ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाये तो ? यदि आपका पुत्र-पुत्री इसी तरह से संसार के स्वरूप को समझकर विरक्ति की आज्ञा माँगे तो क्या करेंगे ? ऐसे समय में अच्छे-अच्छे जानकार विवेकी श्रावक-श्राविकाओं का भी मोहभाव जाग्रत हो जाता है। अनेक प्रकार से संयम के प्रति भय उत्पन्न करने वाली दलीलें उस साधक को विचलित करने के लिए उसके सामने रख दी जाती हैं। या फिर उसे साधु-सन्तों के निकट जाने से ही रोक दिया जाता है। उपदेश देने वाले गुरु भगवतों के लिये आपके मन में श्रद्धा भाव घट जायेगी। उन से ही द्वेष करने लग जायेंगे और कहेंगे कि महाराज को मेरा ही घर दिखा क्या? और कोई नहीं मिला क्या?

आप स्वयं अपनी आत्मा से पृच्छा कीजिये। संयम मार्ग श्रेष्ठ है या नहीं ? आपकी आत्मा यही गवाही देगी कि यदि संसार में सारभूत है तो एक मात्र संयम ही है। संयम के बिना जीव मोक्ष में जा नहीं सकता। इस जीव को मोक्ष तक पहुँचाने के लिए कभी न कभी संयम अवश्य ही धारण करना पड़ेगा। यदि वर्तमान में आपकी सामर्थ्य नहीं बन रही है तो कम से कम आप दूसरों को तो नहीं रोकें। बाधक बनकर आप ज्ञानावरण, अन्तराय आदि कर्मों का बन्ध तो नहीं करें। यदि आप अन्तःकरण से संयम की दलाली करते हैं तो आगमकार कहते हैं कि इससे भी तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन हो सकता है। जीवन में आपने कुछ भव्य आत्माओं को भी संयम पथ के लिए प्रेरित कर दिया, त्याग-व्रत-प्रत्याख्यान के लिए प्रेरित कर दिया तो उत्कृष्ट पुण्य उपार्जित हो जायेगा। इसी पुण्य के फलस्वरूप आप स्वयं निकट भव में संसार-सागर से पार होने का पथ पा सकते हैं।

मृगापुत्र जिन्होंने विशेष ज्ञान से अपने पूर्वभव को देखा, उससे पहले के भवों को भी देखा, उनमें जो वेदनाएँ उन्होंने भोगीं, उनको माता-पिता के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं और यहाँ पर मैं भगवान महावीर जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं, उनके द्वारा बताये गये आगमसूत्र आपके सामने रख रहा हूँ। उनका विवेचन सुनने के बाद उस पर दृढ़ विश्वास रखते हुए उन्हें जीवन में उतारने की आप कोशिश करें। मृगापुत्र आगे कहते हैं—

**महाजंतेसु उच्छू वा, आरसंतो सुभेरवां।
पीलिओ मि सकम्मेहिं, पाव कम्मो अणंतसो॥**

(उत्तराध्ययन १६/५४)

अर्थात् अतीव भयानक आक्रन्दन करता हुआ मैं पापकर्मा अपने अशुभ कर्मों के कारण गन्ने की तरह बड़े-बड़े महाकाय यंत्रों में अनन्त बार पीला गया हूँ।

एक अंगुली यदि किसी पीलने की मशीन में आ जाती है तो उस व्यक्ति की क्या हालत होती है, देखने वाले व्यक्ति के मुँह से भी आह ! उफ ! निकल पड़ता है। लेकिन दूसरों को इसी तरह पीलते समय आपको कितना आनन्द आता है। गन्ने के रस के शौकीन व्यक्ति गन्ने को पिलवाते हैं। वनस्पतिकाय जन्य जीव उसके आश्रित आदि त्रस जीव भी उसमें पिल जाते हैं। उन जीवों को भयंकर वेदना होती है। लेकिन उनकी

वेदना को पीलने वाला जीव नहीं समझ सकता। यहाँ पर इस प्रकार के पाप यदि आप आसक्तिपूर्वक करते हैं और पाप की प्रवृत्ति करने के बाद प्रसन्न होते हैं तो निकाचित बन्ध हो जाता है। नरकादि गतियों में ऐसे कर्म अत्यन्त घोर वेदना के साथ वापस भोगने पड़ते हैं। मृगापुत्र यही बात अपने माता-पिता को कह रहे हैं कि मुझे नरकों में गन्ने पीलने वाले यन्त्रों के सदृश्य बड़े-बड़े महाकाय यंत्रों में अनन्त बार पीला गया। उस असह्य वेदना को भी मैंने अनेकों बार भोगा है। अतः आप मुझे अब विरक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने की आज्ञा दीजिए ताकि पुनः ऐसी वेदना भोगनी नहीं पड़े।

शेष जिज्ञासाएँ अगले प्रवचन में शान्त हो सकेंगी कि आज्ञा देने में पीछे सरकने वाले माता-पिता कैसे आगे आते हैं ? संयम की राह पर चलने के इच्छुक मृगापुत्र की अभिलाषा कैसे सफल होती है ?

आनंद ही आनंद !



खिण लाखीणी जाय... (2)

(मृगापुत्र)

सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥

(भगवती सूत्र २/५/१११/१)

आत्म-बंधुओं !

अनन्त-अनन्त उपकारी प्रभु महावीर ने भव्य जीवों के कल्याण हेतु जिनवाणी का प्रसाद गौतम गणधर के माध्यम से आप तक पहुँचाया। इस जिनवाणी में वह सामर्थ्य है कि अष्टकर्म-कारा से एक क्षण में आत्मा को विलग कर दे। आत्मा अनादिकाल से संसार की विभिन्न गतियों, योनियों में दुःख व मोह के थपेड़े खाती हुई अपने निज स्वरूप को भूलती रही है।

भगवान महावीर ने कहा—मनुष्य शरीर की प्राप्ति के बिना आत्मा जन्म-मरण से, कर्मों से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकती। मनुष्यगति कितनी दुर्लभ है, उसके लिए आगमकारों ने कहा है—

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥

(उत्तराध्ययन ३/७)

जब अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा पुण्य का संचय करती है, तब कहीं यह मनुष्य की श्रेष्ठ गति प्राप्त करती है।

मनुष्यगति की प्राप्ति के बाद शास्त्रों का श्रवण करना, जिनवाणी को सुनना अति दुर्लभ माना है। क्योंकि जब तक व्यक्ति जिनवाणी के महत्त्व को समझ नहीं लेता, तब

तक उसका मन श्रवण करने का नहीं बनेगा और समझने से पूर्व श्रवण आवश्यक है। शिष्य की इसी तथ्य सत्य को स्पष्ट रूप से समझने के लिए जिज्ञासा बनती है। उस समय वह भगवान से पृच्छा करता है कि प्रभु 'श्रवण' का क्या फल है ?

भगवतीसूत्र में दूसरे शतक के पाँचवें उद्देशक में इसी जिज्ञासा का समाधान दिया हुआ है—

“सवणे गाणे य विण्णाणे……।”

श्रवण करने से ज्ञान होता है और ज्ञान से जीव को विज्ञान की प्राप्ति होती है, अर्थात् विवेचनपूर्वक ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशेष ज्ञान रूप विज्ञान से जीव श्रद्धा भाव में प्रवेश करता है। और तब जीवात्मा के अंतःकरण में नाद स्फुटित होता है।

“तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं।”

भगवन् आपने जो फरमाया है वह यथा तथ्य सत्य है। पदार्थ की आसक्ति के त्याग के सिवाय इस संसरण से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। ऐसे विज्ञान के पश्चात् त्याग—प्रत्याख्यान की ओर साधक अग्रसर होता है। उसका फल यह है कि वह साधक संयत बन जाता है, संयमी बन जाता है। संयम को धारण करने वाला अनास्रवी यानी आस्रवरहित होता है। आस्रव के द्वार को बन्द करने वाला पूर्व में आये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए तप करता है और उस तप से कर्मों को जलाकर नष्ट कर देता है। कर्मों को नष्ट करना वोदाण है और वोदाण का फल अक्रिया है। अक्रिया वाला साधक अयोगी बन सिद्धि को प्राप्त करता है।

मोक्ष की मंजिल पर पहुँचने के लिए प्रथम सीढ़ी पर कदम रखना अनिवार्य है और वह प्रथम सीढ़ी है आगमों का श्रवण, जिनवाणी को सुनना।

सुनने वाला श्रोता कहलाता है लेकिन सभी सुनने वाले श्रोता सुनने के बाद एक समान लाभ प्राप्त नहीं कर सकते।

शास्त्रकारों ने श्रोता के तीन प्रकार बताए हैं—

9. **गर्म तवे के समान**—जिस प्रकार गर्म तवे के ऊपर वर्षा की बूँद पड़ती है तो वह तुरन्त वाष्प बनकर उड़ जाती है, उसी प्रकार सुनने वाले श्रोता के कानों में शास्त्रों

के शब्द पड़ते हैं, तो भीतर जाने के बजाय सुना-अनसुना कर दिया जाता है। ऐसे श्रोता अपने आचरण में परिवर्तन नहीं कर पाते हैं।

२. **कमल के समान**—कमल के पुष्प पर जब वर्षा के बाद जल के बिन्दु गिरते हैं तो उस पर कुछ जलकण ठहर जाते हैं। लेकिन जरा-सी हवा आते ही जल के बिन्दु नीचे गिर जाते हैं। कुछ श्रोता ऐसे होते हैं कि शास्त्रों को सुनने के बाद उसे अपने हृदय में धारण कर लेते हैं। लेकिन जैसे ही शंका, कांक्षादि के रूप में पवन अपना जोर मारता है, वैसे ही वे धारण किये गये त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, सम्यक्त्व आदि से विचलित हो जाते हैं। ऐसे श्रोता के आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेक बार उतार-चढ़ाव आते हैं।

३. **सीप के समान**—स्वाति नक्षत्र में वर्षा की बूँद सीप के मुँह में पड़ने से मोती बन जाती है। कुछ श्रोता भी ऐसे होते हैं जो शास्त्रों को सुनने के बाद उसे अपने जीवन में मोती की भाँति परिवर्तित कर देते हैं। त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान जीवन में धारण करने के बाद परीषह आदि आने पर त्याग, व्रत, सम्यक्त्व आदि से वे विचलित नहीं होते। ऐसे श्रोता ज्ञान से विज्ञान और विज्ञान से प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, वोदाण, अक्रिया, सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार सिद्धगति को प्राप्त करने वाली भव्य आत्माओं का विवेचन आप आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. द्वारा विरचित 'बड़ी साधु वन्दना' के माध्यम से सुन रहे हैं। कल प्रसंग चल रहा था मृगापुत्र का। मृगापुत्र अपने माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा माँग रहे हैं और माता-पिता उसे संयम की कठिनता, उपसर्ग, परिषह आदि का भय बताकर विरक्ति से विरक्त करने की कोशिश कर रहे हैं। जीवन में अनेक बार अनेकों के साथ ऐसा होता है। संसार के मोह-पाश में बाँधने के लिए परिजन अपना पूरा जोर लगा देते हैं। लेकिन जिसका मनोबल-आत्मबल दृढ़ होता है और चारित्रमोह का क्षयोपशम बढ़ जाता है, वह संयम-पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। मृगापुत्र को संयम-साधना से भयभीत करने की परिजन कोशिश करते हैं। माता-पिता मृगापुत्र के समक्ष श्रमणधर्म-पालन में होने वाली कठिनाइयों और कष्ट-कथाओं का वर्णन करते हैं तो मृगापुत्र नरकों में अनुभूत अनन्त वेदनाओं का वर्णन करना प्रारम्भ कर देता है।

आप सोचते हैं वहाँ कौन पीड़ा पहुँचाते हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान हमारे आगमकार देते हुए कहते हैं कि प्रथम तीन नरक पृथ्वियों में परमाधर्मी असुरों द्वारा पीड़ा पहुँचाई जाती है। यद्यपि नरकों में पक्षी, शस्त्रास्त्र, सूअर, कुत्ते, छुरे, कुल्हाड़ी, फरसा, लुहार, सुथार, बाज पक्षी आदि नहीं होते, किन्तु परमाधर्मी असुरों के द्वारा वैक्रिय शक्ति से ये सब बना लिए जाते हैं और नारकीय जीवों को अपने-अपने पूर्वकृत पापकर्मों को याद दिलाकर विविध यंत्रणाएँ दी जाती हैं। ये असुर देव १५ प्रकार के होते हैं—

(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रुद्र, (६) महारुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) बालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर, (१५) महाघोष।

शेष अन्तिम चार नरक-पृथ्वियों में नारकीय जीव स्वयं परस्पर एक-दूसरे की वेदना की उदीरणा करते हैं। इनके अलावा क्षेत्रीय वेदना के अन्तर्गत अनन्तगुणी उष्णता एवं शीत वेदना उन्हें वहाँ मिलती है। नरक लोक में यहाँ की तरह बादर अग्नि-पानी तो नहीं है, किन्तु लोक में अग्नि की जितनी उष्णता है, उससे भी अनन्तगुणी उष्णता के स्पर्श एवं शीत के स्पर्श का अनुभव वहाँ होता है।

मृगापुत्र भी अपने माता-पिता से कह रहे हैं कि मैं पापकर्मों के कारण नरक में जन्मा और वहाँ अलसी के फूलों के सदृश नीले रंग की तीक्ष्ण तलवारों से, भालों से और लोहे के दण्डों से छेदा गया, भेदा गया और टुकड़े-टुकड़े किया गया।

समिला (जुए के छेदों में लगाने की कील) से युक्त जुए वाले जलते लोहमय रथ में विवश करके मैं जोता गया, चाबुक और रास (नाक में बाँधी गई रस्सी) से हाँका गया, फिर रीछ की तरह लकड़ियों से पीट-पीटकर जमीन पर गिराया गया, अनेक बार भैंसे-सूअर की तरह जलती हुई अग्नि में जलाया और पकाया गया, चोंच वाले गिद्ध, ढंक आदि पक्षियों द्वारा मैं रोता-बिलखता बलात् अनन्त बार नोंचा गया। मुझे वहाँ बचाने वाला कोई नहीं मिला।

जब मुझे भयंकर प्यास लगती तो पिपासा से व्याकुल होकर दौड़ता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचता और जल पीऊँगा, यह विचार करता कि सहसा छुरे की धार-सी तीक्ष्ण जल-धारा से मैं चीर दिया जाता। तेजाबी अम्लता से देह को छिन्न-विछिन्न कर दिया जाता।

अत्यधिक गरमी से तप जाने पर मैं छाया से विश्राम के लिए असिपत्र महावन में पहुँचता, किन्तु वहाँ गिरते हुए असिपत्रों की तीक्ष्ण धार से अनेक बार मेरे अंगोपांगों का छेदन हो जाता।

मृगापुत्र अपने माता-पिता को कहते हैं कि हे माता-पिता ! मुझे पूर्वभवों का स्मरण कराकर कि तुझे सुरा और मधु बहुत प्रिय थी, तुमने वहाँ इन सब का बहुत पान किया। अब लो करो उनका आस्वादन, इतना कहकर मुझे जलती हुई, मेरी अपनी ही चर्बी और रक्त को पिलाया गया तथा अनेक बार भयंकर आक्रन्दन करते हुए मुझे कलकलाता-उबलता गर्म ताँबा, लोहा, राँगा और सीसा पिलाया गया।

तुझे टुकड़े-टुकड़े किया हुआ और शूल में पिरोकर पकाया हुआ माँस प्रिय था, यह याद दिलाकर मुझे अपना ही शरीरस्थ माँस काटकर और उसे तपाकर, अग्नि जैसा लाल रंग का बनाकर बार-बार खिलाया गया। भयंकर वेदना होती, पर मुझे उससे मुक्त कराने वाला वहाँ कोई नहीं था।

मैंने सभी जन्मों में असातारूप वेदना का अनुभव किया है। वहाँ निमेष मात्र के अन्तर जितना भी मुझे सुख नहीं मिला।

बन्धुओं ! आप सुन रहे हैं नारकी की घोरतिघोर वेदनाओं के वर्णन को, ये सारी वेदनाएँ मृगापुत्र की आँखों के सामने चलचित्र की भाँति जातिस्मरण ज्ञान से आ रही हैं।

मन ही मन दृढ़ निश्चय करता है मृगापुत्र कि अब दूसरी बार ऐसी वेदना मुझे नहीं भोगनी है। वेदनीय-कर्म से छुटकारा पाने का एकमात्र मार्ग धर्म ही है और उस धर्माचरण का सम्यक् पालन संयम से ही सम्भव है। संयम के बिना मुझे मुक्ति मिल नहीं सकती।

बन्धुओं ! आपको भी यही चिन्तन करना है। ऐसी घोर वेदनाओं को आपने भी अनेकों बार भोगा है। यदि अब नहीं सँभले तो पुनः ऐसी वेदना इस जीव को भोगनी पड़ेगी। समय रहते आप सँभल गये, निवृत्ति के मार्ग से जुड़ गये एवं पाप के पथ से बिछुड़ गये तो ही इन वेदनाओं से छुटकारा मिल सकता है।

आप आज ही संकल्प लीजिए श्रावक के बारह व्रत धारण करने का तथा उससे आगे बढ़ने के मनोरथ का नित्य चिन्तन कीजिए। नित्य अन्तःकरण से किया गया चिन्तन आपको सम्यक् संयम-राह की ओर अग्रसर होने में सहायक बनेगा।

मृगापुत्र ने तिर्यञ्च, मनुष्य आदि गतियों के भोगे हुए दुःखों का भी हृदय-विदारक विवरण माता-पिता को दिया और कहा—

“सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए।
निमेसंतरमित्तं पि, जं साया नत्थि वेयणा॥”

(उत्तराध्ययन १६/७५)

हे माता-पिता ! मैंने पलक झपकने जितने समय के लिए भी कभी सुख नहीं पाया तो मेरे लिए महाव्रत पालन का कष्ट या श्रमणधर्म के पालन का दुःख, परीषह, उपसर्ग भला किस गिनती में आता है ? वस्तुतः संयम का पथ ही मेरे परमानन्द का हेतु है। अतः आप मुझे सहर्ष निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा की आज्ञा दीजिए।

□ धन्य हैं वे माताएँ जो...

बंधुओं ! महादुष्कर है संतान को दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करना, दुष्करातिदुष्कर है मोह को जीतना, स्नेह को त्यागना, आसक्तिभाव का विसर्जन करना। कभी प्रसंग बने तो पता पड़ जाएगा। लड़का या लड़की आपकी कभी आपके सम्मुख आकर यह कह दे कि संसार में, परिवार में, धन में, भोग में सुख नहीं है। सुख तो संयम में है। क्या हालत होगी आपकी ? सोच लीजिए, चिन्तन कर बताइए मुझे ! विशेषकर माताएँ, वात्सल्य की साकार प्रतिमाएँ क्या कभी अपने जिगर के टुकड़ों को मुनि-वेष धारण कर श्रमणधर्म-पालन की आज्ञा दे सकती हैं ? यदि दे सकती हैं तो वे महान् साहसी हैं, वीर माताएँ हैं, रत्न-प्रसविनी हैं पर मैं जानता हूँ कि ऐसी महाभाग्या लाखों में एकाध ही मिल सकेंगी। मोहकर्म को आठों ही कर्मों का राजा ऐसे ही नहीं कहा गया है। केवल एक मोह ही है जो शेष कर्मों से भी आत्मा को बाँधे रखता है। धन्य हैं वे माताएँ जो मोह का त्यागकर अपनी सन्तानों को कर्म तोड़ने के लिए साधना की आज्ञा देती हैं।

मृगापुत्र माता-पिता से कहते हैं कि इस संसार में रहकर धनार्जन करना, परिवार का पालन करना, सभी का सम्बन्ध निभाना और उन्हें साथ लेकर हिल-मिलकर

चलना क्या ये सब कार्य कठिन नहीं हैं ? क्या संयम-पालन इन सांसारिक कार्यों से भी दुष्कर है ?

इस पर माता-पिता कहते हैं कि श्रमण-पर्याय में आधि-व्याधि होने पर सावद्य चिकित्सा नहीं करवाने का जो विधान है वह दुःखरूप है।

मृगापुत्र इसे सत्य मानते हैं, पर कहते हैं कि वन में जो मृगादि पशु-पक्षी रहते हैं, उनकी चिकित्सा कौन करता है ? कौन उनसे सुख-दुःख की बात पूछता है ? कौन उन्हें भोजन-पानी लाकर देता है ? अपने आप स्वस्थ हो जाने पर वे स्वयं मृगचर्या करते हुए जीवन बिताते हैं।

मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता ! जहा सुहं !

अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ, जहाइ उवहिं तओ !!

(उत्तराध्ययन १६/८५)

जब मृगापुत्र कहते हैं कि मैं भी मृगचर्या का आचरण करूँगा तो उनके माता-पिता उन्हें वैराग्य में दृढ़ जानकर दीक्षानुमति प्रदान कर देते हैं।

वन में छै एक मिरगलो जी, कुणकरे उण री सार।

मिरगानी पर विचर सूं जी, एकलड़ो अणगार।

ए माता ! खिण लाखीणी जाय॥

मात-वचन ले नीसर्या जी, मृगापुत्र कुमार।

पंच-महाव्रत आदर्या जी, लीधो संजम भार।

ए माता ! खिण लाखीणी जाय॥

एक मासनी संलेखणा जी, उपन्यो केवलज्ञान।

कर्म खपाय मुगते गया जी, कीजे नित-प्रति ध्यान।

ए माता ! खिण लाखीणी जाय॥

(जय वाणी)

माता-पिता की आज्ञा मिल जाने पर मृगापुत्र उपधि अर्थात् द्रव्यतः गृहस्थोचित वेश, आभरण, वस्त्रादि उपकरणों का एवं भावतः कषाय-विषय, छल-छद्म आदि आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले अवगुणों का त्याग कर मुनि-पर्याय में प्रव्रजित हो जाते

हैं। निरतिचार महाव्रतों का पालन कर अष्ट प्रवचन माता की आराधना कर, बारह प्रकार के बाह्य व आभ्यंतर तपों में उद्यत होकर, समत्व धारण कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप में आत्मा को भावित करते हुए, शुद्ध भावना भाते हुए दीर्घावधि तक श्रामण्य का पालन करते हैं और अंत में एक मास के भक्त-प्रत्याख्यान अनशन-संधारापूर्वक अष्ट कर्मों से रहित हो सिद्धगति में जा विराजते हैं।

बंधुओं ! मृगापुत्र की तरह आप भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधनापूर्वक पंचम गति रूप मुक्ति की तरफ कदम रखने का लक्ष्य बनाते हैं और उस लक्ष्य के अनुरूप सम्यक् पराक्रम फोड़ते हैं तो मोक्ष की मंजिल दूर नहीं है। आपके भीतर जो सोया सिंह है उस वनराज को एक बार जागृत कर दीजिये। मोह-नींद से जागृत होने के बाद आपके लिए न परिवार बाधक बन सकता है, न इष्ट मित्रजन। लेकिन जब तक आपका स्वयं का मन भोगों से, विषय-वासना से निवृत्त नहीं होगा, तब तक समुद्र के किनारे जो हड्ड नाम की वनस्पति हवा के जोर से इधर-उधर डोलने लगती है, वैसी ही दशा आपकी बनी रहेगी।

जिस दिन आप मृगापुत्र की भाँति संयम-पथ पर कदम रखेंगे, उस दिन आपके मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का पथ प्रशस्त बन जाएगा। उसी से आपको शाश्वत सुख मिलेगा।

आनंद ही आनंद !



अनाथ से सनाथ की ओर

(अनाथी मुनि)

आत्म-बंधुओं !

जन से जैन और पुरुष से पुरुषोत्तम बनाने वाली वाणी है, जिनवाणी ! यदि पुरुष में पौरुष है और वह उस पौरुष को संयम-साधना में लगाता है, अर्थात् संयम में पुरुषार्थ करता है, जिनवाणी को सुनकर मनन-चिन्तन द्वारा उसका पान कर जीवन-व्यवहार में उतारता है तो वह पुरुषोत्तम बनने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जिसमें पौरुष ही नहीं तो वह सुनने के बाद भी वांछित फल या लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

□ चित्त के रूप अनेक

पुरुष के व्यक्तित्व के अनेक रूप होते हैं। क्यों होते हैं अनेक रूप ? क्योंकि उसके चित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। अनेक चित्त हैं तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व बदलता दृष्टिगोचर होता है। सुबह वह प्रसन्न है, दोपहर में उदास है, संध्या में क्रोधित है तो रात्रि में शांत है। कभी वह रुदन करता है, कभी खिलखिलाता है, कभी वासना में पागल बन जाता है तो कभी इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हो जाता है। एक पल, एक क्षण में चित्त की वृत्तियों के अनुरूप व्यक्तित्व के अनेक रंग हो सकते हैं तो फिर पूर्ण जीवन की क्या बात की जाए ?

□ चित्त यदि एक बन जाए तो.....

चित्त की यह अनेकता कभी किसी दिन यदि मिट गई, चित्त एकरूप यदि कभी हो गया तो फिर चाहिए ही क्या ? यही तो साधना का सबसे कठिन चरण है। एकचित्त होने का अर्थ है, लक्ष्य की सफलता। लक्ष्य सांसारिक हो या आध्यात्मिक, सफलता के लिए चित्त का केन्द्रीकरण, अर्थात् अनेकता से एकता में आना जरूरी है। एकचित्त

बनने के बाद जहाँ भी ध्यान केन्द्रावस्थित है, वहाँ से क्षण मात्र के लिए भी इधर-उधर नहीं होता।

देखा यह गया है कि व्यक्ति सांसारिक कार्यों में तो फिर भी चित्त को कभी कुछ देर के लिए एक ओर स्थिर बना लेते हैं, पर आध्यात्मिक कार्यों का समय आने पर वे चित्त को अनेकता में डाल देते हैं, प्रयत्न ही नहीं करते कि वह अनेकता से एकता में आ जाए। किसी पत्रिका में एक प्रसंग पढ़ा था।

□ संन्यासी और प्रेमिका का प्रसंग

किसी प्रेमी ने अपनी प्रेमिका को शहर से बाहर बने उद्यान में मिलने का स्थान व समय दिया। निर्धारित समय, अर्थात् संध्या के झुटपुटे में प्रेमिका शहर से बाहर उद्यान में गई। उसने अपने प्रेमी को नियत स्थल पर नहीं पाया। संध्या सरकने लगी, रात्रि पैर पसारने लगी तो उसने उद्यान में इधर-उधर ढूँढ़ना प्रारंभ किया। प्रेमी नहीं मिला तो निराश होकर वह पुनः घर जाने लगी। उद्यान के द्वार बंद हो चुके थे। परकोटे की दीवारें काफी ऊँची थीं। उसने सोचा—‘कोई सहारा मिल जाए, पेड़ आदि दीवार के पास हो तो उस पर चढ़कर दीवार से उस पार कूद जाऊँ।’ ऊँचाई से कूदना आसान होता है, ऊँचाई पर चढ़ना अत्यन्त कठिन। साधना में भी ऊँचाई पर चढ़ने के लिए अथक पुरुषार्थ करना पड़ता है पर नीचे कूदना हो, गिरना हो तो एक क्षण लगता है। प्रेमिका ने देखा इधर-उधर। उस धुँधलाती-गहराती रात में एक जगह उसे एक टूँठ नजर आया। अपने प्रेमी के ध्यान में खोई वह उस टूँठ पर चढ़ी तो टूँठ हिला, शब्द सुनाई दिए—“कौन बदतमीज है ? दिखता नहीं क्या ? मेरा ध्यान भंग कर दिया ?”

प्रेमिका चौंकी, अचकचा गई, हड़बड़ाकर नीचे गिर गई। सँभलकर उठी तो देखा कोई संन्यासी है जिसे उसने उस अंधरे में टूँठ समझ लिया था। बोली—“महात्मन् ! क्षमा करना। मैं अपने बेवफा प्रेमी के ध्यान में इतनी मग्न थी कि मैंने आपकी तरफ पूरा ध्यान ही नहीं दिया।”

प्रेमिका ने तो आसानी से यह कह दिया पर संन्यासी तो उसके शब्दों की गहराई में, भावों की यथार्थता में ऐसा डूबा कि क्रोध, आवेश आदि सभी लुप्त हो गए। चिन्तन की धारा बह निकली, चित्त एक हो गया। वह सोचने लगा—‘सांसारिक वासनामय प्रेम

में इस तरुणी ने अपना भान तक भुला दिया, केवल प्रेमी का ध्यान रहा उसको और मैं ? प्रभु के भजन और ध्यान में लगकर भी मैं अनेक विचारों में घूमता रहा, एकचित्त न बन सका। धिक्कार है मेरी साधना को।’

बंधुओं ! साधना का यही रहस्य है, जिसके पा लेने पर साधक लक्ष्य-प्राप्ति में निश्चित ही सफल होता है। चित्त को एक बनाओ, अनेकों में रमण करते हुए इस चित्त को उसके आत्म-स्वभाव में ध्यानावस्थित करो।

□ आत्मा एक पर भेद अनेक

चित्त का अर्थ है—आत्मा के चैतन्य विशेष रूप परिणाम अर्थात् आत्मा के विकल्प का नाम चित्त है। आत्मा स्वभाव में स्थित हो जाती है तो चित्त एक है और आत्मा अनेक विकल्पों में रमण करती है तो चित्त भी अनेक है। इसलिये भगवतीसूत्र के बारहवें शतक के दसवें उद्देशक में गौतम की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए प्रभु महावीर फरमाते हैं—“उपयोग रूप लक्षण की दृष्टि से आत्मा एक ही है, किन्तु विशिष्ट गुणों अथवा उपाधि को प्रधान मानकर आत्मा के मुख्य आठ भेद किए गए हैं—(१) द्रव्य आत्मा, (२) कषाय आत्मा, (३) योग आत्मा, (४) उपयोग आत्मा, (५) ज्ञान आत्मा, (६) दर्शन आत्मा, (७) चारित्र आत्मा, और (८) वीर्य आत्मा।”

□ द्रव्यादि आत्माएँ : एक विवेचन

मनुष्य, पशु, पक्षी, देव आदि विभिन्न पर्यायों में भूत, भविष्य एवं वर्तमान इन तीनों कालों में जो जीवात्मा साथ रहती है वह असंख्य प्रदेशी द्रव्यरूप आत्मा—द्रव्यात्मा है। प्रत्येक जीव के द्रव्यात्मा होती ही है। सिद्ध होने पर भी द्रव्यात्मा तो रहती ही है।

क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायों तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सादि नोकषायों में जब आत्मा रमण कर रही होती है तो वह आत्मा कषायात्मायुक्त बन जाती है। जो आत्माएँ उपशांत मोहनीय या क्षीण मोहनीय, सयोगी या अयोगी गुणस्थानों में पहुँच जाती हैं, उनके कषायात्मा नहीं होती, कारण ११वें गुणस्थान में कषाय उपशांत हो जाती है। और आगे के गुणस्थानों में कषाय के नहीं होने से इनमें कषायात्मा नहीं होती। इसलिये सिद्धों में भी कषाय आत्मा नहीं होती। शेष सभी सकषायी जीव हैं। अतः उनमें कषायात्मा होती है।

मन, वचन और काया के व्यापार (Activity) को योग कहते हैं। तीनों योगों से युक्त आत्मा योगात्मा कहलाती है। अयोगी केवली व सिद्धों के अतिरिक्त अन्य सभी जीव सयोगी हैं, अर्थात् योगात्मा सहित हैं।

पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार दर्शनयुक्त आत्मा उपयोगात्मा है। यह सभी संसारी जीवों के होती है तथा सिद्धों में भी ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग आत्मा होती है।

विशेष अवबोधरूप सम्यग्ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि जीवों के होती है।

सामान्य अवबोधरूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा दर्शनात्मा है, जो सभी जीवों के होती है।

चारित्र-विशिष्ट गुण से युक्त आत्मा चारित्रात्मा होती है जो सर्वविरति साधुओं के होती है।

उत्थानादि कारणों से युक्त सकरण वीर्य-विशिष्ट आत्मा को वीर्यात्मा कहते हैं। यह सभी संसारी जीवों के होती है। सिद्धों में सकरण वीर्य नहीं होता, उनमें अकरण वीर्य होता है।

□ तीर्थकर एकचित्त कैसे ?

तीर्थकर भगवंतों की ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा व वीर्यात्मा—इन चारों में इतना सामंजस्य होता है कि वे अनेक होकर भी एक ही बनकर रहती हैं। अतः तीर्थकर भगवंत एकचित्त कहे जाते हैं।

□ एक से पहले चित्त नेक बने

चित्त को एक बनाने से पहले उसे सच्चा व अच्छा बनाना पड़ेगा। कैसे बनेगा चित्त अच्छा? प्रभु कहते हैं—सामायिक करो, चित्त अच्छा बन जाएगा। आप इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि चित्त अच्छा बनाओ, स्वतः सामायिक हो जाएगी। यद्यपि दोनों बातें एक नहीं हैं, पर सत्य यही है। आपका चित्त अभी तक मलिन है। इसे निर्मल बनाना है तो पहले सामायिक की साधना करनी होगी। सामायिक की साधना करते-करते जब लक्ष्य सफल हो जाएगा तो चित्त अच्छा बन जाएगा। जब चित्त अच्छा बन जाएगा तो

सामायिक की साधना स्वतः प्रारम्भ हो जायेगी, क्योंकि तब तो सम्पूर्ण जीवन ही सामायिकमय बन जाएगा।

□ सामायिक है समत्व की साधना

प्रश्न उठता है कि सामायिक क्या है ? 'इक' प्रत्यय लगा है और दो शब्दों की इसमें संयुति है। वे दो शब्द हैं—सम + आय। 'सम' अर्थात् समत्वभाव और 'आय' का अर्थ है आना। ऐसी साधना जिससे चित्त में समत्वभाव आए। कब आयेगा समत्वभाव ? जब विषमभावों को चित्त से बाहर निकाल दिया जाएगा। 'सम' की आय करनी है तो 'विषम' को बाहर कर दीजिए। आध्यात्मिक साधना कुछ पाने के लिए नहीं करनी है, प्राप्ति तो स्वतः होगी, आप तो साधना करिए, खोने के लिए।

□ किन्हें खोना-किन्हें प्रकटाना !

किसे खोना है ? बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जो निज के गुण हैं उन्हें तो रहने दीजिए, पर जो बाहर से भीतर आए हैं, उन्हें पुनः बाहर कर दीजिए। सम्यग्ज्ञान-दर्शन-उपयोग आत्मा के निज गुण हैं। बाहर से अनधिकृत प्रवेश लेने वाले हैं—कषाय, योग, कर्म। यही हैं विषमताएँ। इन्हीं को खोना है, इन्हीं का त्याग करना है। ये क्या हैं ? बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अभी-अभी आत्मा के आठ भेदों को बताते समय इनको भी परिभाषित कर दिया गया था।

समता आएगी कहाँ से ? वह तो भीतर ही है। विषमता बाहर से आई है, उसे निकालते ही समता स्वतः प्रकट हो जाएगी। द्रव्य एवं भाव सामायिक स्वतः हो जाएगी। 'स्व' में रमण स्वतः होने लगेगा।

□ अनाथ से सनाथ की ओर

एक साधनाशील शिष्य ने अपने गुरु के समक्ष जिज्ञासा प्रकट की—“प्रभो ! आपको संयम अंगीकार किये सुदीर्घ काल व्यतीत हो चुका है। आप दिन-रात कठोर साधना में लीन रहते हैं। इस साधना के फलस्वरूप आपने क्या उपलब्धि पायी ?”

गुरुदेव वस्तुतः गुरु थे। वे अतीव गम्भीरता को धारण किये हुए थे। अन्तस्तल की साधना उनके भव्य मुखमण्डल को आलोकित कर रही थी। उन्होंने कहा—“वत्स !

मुझे साधना करते लम्बा समय व्यतीत हो गया पर मैंने कुछ भी नहीं पाया, कुछ भी नहीं हासिल किया।”

शिष्य अवाक् रह गया—‘क्या सचमुच गुरुदेव ने कुछ भी नहीं पाया ? इनको साधना में सफलता नहीं मिली ?’

“वास्तव में गुरुदेव, आपको कुछ भी हासिल नहीं हुआ ?” हतासा भरे स्वर में शिष्य ने गुरुदेव की ओर निहारते हुए पूछा।

“हाँ देवानुप्रिय ! मैंने कुछ नहीं पाया। अपितु खोया ही खोया है।” गुरुदेव ने आत्मलीनता में प्रत्युत्तर दिया। शिष्य चकित था गुरु के धैर्य पर। गुरु ने पाया कुछ नहीं अपितु खोया ही खोया है। सुनकर शिष्य का मन शंका-कुशंका-आशंका के घोर अरण्य में भटकने लग गया। स्वयं के भविष्य के विषय में भी आशंकित, आतंकित हो उठा। जिनसे बहुत कुछ पाने की आस थी, स्वयं उन्होंने तो खोया ही खोया है तब वह कहाँ से पा सकेगा। मन में भयंकर झंझावत चल रहा था। मेरा क्या होगा?

गुरुदेव ने शिष्य की भाव भंगिमा को देखा और मुस्कराये। शिष्य कुछ समझ नहीं पाया। उसका मन आकाश में उड़ने वाली पतंग के समान डोलने लगा। पतंग अनंत आकाश में डोलती है। वह स्थिर रहना चाहते हुए भी स्थिर नहीं रह सकती क्योंकि उसका सूत्रधार दूसरा है। वह चाहे तो उसे अधिक ऊँचाई पर पहुँचा सकता है साथ ही नीचे भी ला सकता है। वह डोर के दौव पेच पर खेल टिका हुआ है।

शिष्य के मन की पतंग की डोर भी गुरु के हाथों में थी। वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था कि आपकी रहस्यात्मक वाणी का तीव्र प्रवाह मुझे बाढ की भाँति बहाकर ले जा रहा है। कृपाकर बचा लो।

“वत्स ! खोना ही सच्ची साधना है। खोना आसान नहीं है, पाना तो सरल है।” गुरुदेव ने फिर एक नया पेच दे दिया। शिष्य घबरा गया। “भगवन् ! मैं तो इस भ्रम के भंवर में फंसता जा रहा हूँ।” निराश मन शिष्य ने निवेदन किया।

गुरुदेव बोले—“वत्स ! मैंने साधना कुछ प्राप्ति की आकांक्षा से नहीं की है, मैं तो जो है उसे खोना चाहता हूँ, आकांक्षाओं को भी खो देना चाहता हूँ। मेरी समस्त साधना खोने के लिए है, प्राप्ति की इच्छा से नहीं है।”

शिष्य ने कहा—“भगवन् ! यदि साधना खोने के लिए ही की जाती है तो फिर क्या लाभ साधना का ?”

गुरु ने प्रश्न किया—“अच्छा, यह बताओ कि ज्ञान कहाँ है ?”

शिष्य—“हमारे भीतर ही है ज्ञान।”

गुरु बोले—“तुम ठीक कहते हो वत्स ! ज्ञान भीतर ही है, उसे कहीं बाहर से लेने नहीं जाना है, पर बाहर से ज्ञान पर जो अज्ञान की परतें चढ़ गई हैं, उन्हें खोना है। कषायों के जो आवरण ज्ञान पर पड़ गए हैं, उन्हें हटाना है। अज्ञान और कषायों को खोना है, यही साधना की सफलता है, ज्ञान उसी से प्रकट होगा।”

□ सामायिक तभी सामायिक बन पाएगी

सामायिक साधना आप भी करते हैं। यदि आसन बिछाकर, मुहपत्ति बाँधकर, सामायिक लेकर बैठ गए पर बातें करते रहे, मन से संसार का, घर-परिवार का चिन्तन करते रहे तो वह सामायिक वांछित लाभ नहीं देगी। सामायिक में घर-परिवार, इष्ट जनों को खोना होगा, उन्हें चित्त से हटाना होगा। कौन आ रहा है, कौन जा रहा है, कौन क्या कर रहा है ? इन सब से ध्यान हटाना होगा। बाहर सभी को भूलकर अंतर में जाना होगा। भीतर पहुँचेंगे, तभी भीतर क्या है, यह जान पायेंगे। जब जान लेंगे तो भीतर जिनकी जरूरत नहीं, उन्हें बाहर निकालना होगा। भीतर जो विषय-वासना, कषाय, कामनाएँ हैं, उन्हें खोना होगा। उन्हें खो देंगे, तभी आपकी सामायिक, यथार्थ में सामायिक बन सकेगी।

□ सामायिक का समय

आप श्रावक-श्राविका सामायिक करते हैं अड़तालीस मिनट के लिए। हम साधु-साध्वी सामायिक करते हैं जीवनभर के लिए। सामायिक का मुहूर्त, अर्थात् एक सामायिक अड़तालीस मिनट की ही क्यों ?

प्रभु महावीर ने समाधान दिया—“हमारा चित्त अपने स्वभाव में जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट एक मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस मिनट तक एक जैसे परिणामों में रमण कर सकता है, टिक सकता है, स्थिर रह सकता है।” अतः आपके लिए एक मुहूर्त की सामायिक का प्रावधान है।

□ सामायिक का मूल्य

सामायिक का मूल्य यदि जानना है तो श्रेणिक से जाकर पूछिए। मगध का महाराज श्रेणिक खरीदना चाहता था सामायिक, पर आपकी नहीं, वह तो पुणिया श्रावक से सामायिक खरीदने का इच्छुक था। उस एक सामायिक के लिए उसने अपना सम्पूर्ण राज्य देना चाहा, पर पुणिया ने सम्पूर्ण राज्य की ऋद्धि-सिद्धि-सम्पदा को ठोकर मार दी, सामायिक नहीं बेची।

क्या था ऐसा पुणिया की सामायिक में ? बंधुओं ! वह जब भी सामायिक करता तो सर्वप्रथम समस्त बाहर के पदार्थों को खो देता, अर्थात् उनसे मन हटा लेता। तत्पश्चात् भीतर के तत्त्वों को भी खो देता, अर्थात् क्रोधादि पर तथा मन-वचन-काय पर पूर्ण नियंत्रण कर लेता, तब उसे भीतर में समत्व की प्राप्ति होती।

□ खोना ही पाना है : कैसे ?

बंधुओं ! नहीं खोएँगे जब तक, तब तक प्राप्ति भी नहीं होगी। मोहनीय कर्म की कुछ प्रकृतियों को खोएँगे तो सम्यक् दृष्टि प्राप्त होगी, कुछ और प्रकृतियों को खोएँगे तो श्रावक-धर्म पायेंगे, कुछ और प्रकृतियों को खोएँगे तो श्रमणधर्म प्राप्त होगा, चार कर्म खोएँगे तो अरिहंत का पद प्राप्त होगा, आठों कर्म खोएँगे तो बन जाएँगे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त !

चल रहा है संसार का सर्वस्व खोकर आध्यात्मिक जगत् का सर्वस्व पाने वाले महान् साधकों का गुणगान। 'बड़ी साधु वंदना' की तेईसवीं कड़ी का वर्णन कल चला था। उसमें मृगापुत्र का वर्णन आपने सुना। आज प्रस्तुत है **अनाथी मुनि का प्रसंग।**

□ अनाथी मुनि और श्रेणिक महाराज

महाराज श्रेणिक मगध के सम्राट थे। एक बार वे राजगृही नगरी के बाहर पर्वत की तलहटी में स्थित मण्डिकुक्षि नामक उद्यान में भ्रमणार्थ गए। मण्डिकुक्षि उद्यान देवेन्द्र के नन्दनवन की भाँति विविध विशाल हरे-भरे वृक्षों एवं लताओं से घिरा हुआ था। अनेक वर्ण, रंग एवं गंध वाले सुन्दर पुष्प वहाँ खिले हुए थे। देश-विदेश के सैकड़ों-सहस्रों किस्म के पक्षी उद्यान में रमण कर रहे थे।

मगध-नरेश ने उद्यान में भ्रमण करते हुए देखा कि एक स्थान पर एक विशाल वृक्ष की सघन छाया में एक श्रमण बैठे हैं। उन्हें लगा कि श्रमण अति रूपवान, अति सौम्य, अति शांत हैं। वे तरुण-युवा हैं, सुकुमार हैं और अभी सुखोपभोग के योग्य हैं। उन्हें विस्मय हुआ कि संसार में रमण करने वाली वय में यह कान्तिवान युवक संयत, समाधियुक्त, क्षमाशील, निर्लोभि मुनि बन गया है। ध्यानस्थ, स्व-लीन उन निर्ग्रन्थ मुनिवर को देख श्रेणिक महाराज ने मुनि चरणों में वन्दना की, प्रदक्षिणा की एवं करबद्ध होकर प्रश्न किया—

तरुणोसि अज्जो ! पव्वइओ, भोगकालमि संजया।
उवट्ठओ सि सामण्णे, एवमट्ठं सुणेमि ता॥

(उत्तराध्ययन २०/८)

हे आर्य ! आप अभी तरुण हैं, युवा हैं; फिर भी हे मुने ! आपने भोगकाल की युवावस्था में यह कठिन संयम-पथ अंगीकार कर लिया, इसका क्या कारण है ?

“हे मुनीश्वर ! ऐसा सुन्दर, दीप्तिमान, स्वस्थ शरीर साधना एवं तपाराधना में सुखाकर क्षीण बनाने के लिये नहीं है। आपको तो संसार के भोगों का आनंद लेना चाहिए। फिर यह दीक्षा क्यों, मुनिधर्म क्यों ?”

इस पर मुनि ने उत्तर दिया—“राजन् ! मैं अनाथ था, मेरा कोई नाथ नहीं था, कोई अनुकम्पा करने वाला मेरा सुहृदयी नहीं था। अतः सनाथ बनने के लिए मैंने मुनिचर्या स्वीकार की।”

कवि श्री खेमराजजी ने महाराज श्रेणिक एवं अनाथी मुनि की वार्ता को अनाथी मुनि की सज्जाय में बहुत ही सुन्दर शब्दों में गूँथा है—

श्रेणिक— “तीन प्रदक्षिणा देई ने राजा, श्रेणिक सीस नमाया।
नहीं नेड़ा नहीं दूरा जी बैठा, कर जोड़ी ने बतलाया॥
तरुण पणे तरुणी किम छंडी, ए माया किम मण्डी।
कंचन वरणी काया किम डंडी, ऐसी कीनी घर मंडी॥
इण अवस्था में संयम लीनो, भोग तज्यो मतवालो।
एहवो अर्थ स्वामी मुझने भाखो, इम किम पाम्या जंजालो॥

रूप अनूठो सुन्दर मुख अरु, लक्षण बत्तीस अंग पूरा।
चांद जिसो थारो बदन है दीसे, सहस्र किरण जिम सूरा॥”

मुनि अनाथी-“काया माया कारमी राजा, बादल केरी छाया।
दश मस्तक थे लंकापति के, पिण खिण में खपाया॥
अनाथी हूँ म्हेँ तो राजा, नाथ नहीं सिर म्हारे।
अनुकम्पा सुख साताकारी, नहीं छे एक लिगारे॥”

मुनिवर के इन वचनों को सुन महाराज श्रेणिक विचार में पड़ गए-‘ऐसा रूप, ऐसा यौवन, ऐसा बलिष्ठ शरीर, ऐसी दीप्ति और कहते हैं कि अनाथ था। यदि ऐसा व्यक्ति अनाथ है तो मेरा राजा होना किस काम का ?’ श्रेणिक मुनिवर से कहते हैं-

नाथ तुम्हारो होसूँ भगवन्, मुनिवर भोगज भोगो।
राज-पाट वैभव अर ऋद्धि, सहु परिवारा लोगो॥

“हे मुनिवर ! आपका कान्तिमान रूप बता रहा है कि आप कभी अनाथ नहीं रहे; फिर भी आप मुनि हैं। अतः आपकी बात मान भी लूँ तो आज से मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरा राज्य, राज-वैभव, पारिवारिक सम्बन्धी, मित्र-बांधव आदि सभी आपकी सेवा में हैं, आपको राज्य चाहिए तो किसी देश का राज्य भी दे सकता हूँ। चलिए मेरे साथ, राजमहलों में और भोगिए वे सारे सुख, सारे भोगोपभोग, सारी सुविधाएँ जिनसे मानव जीवन, यह यौवन आनन्दित बने। तब अनाथी मुनि कहते हैं-

अप्पणा वि अणाहोसि, सेणिया मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो सन्तो, कहं नाहो भविस्ससि॥

(उत्तराध्ययन २०-१२)

हे मगधाधिपति श्रेणिक ! तुम स्वयं ही अनाथ हो। जो स्वयं का ही नाथ नहीं है, वह दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है ? जब तुम ही अनाथ हो तो मेरे नाथ कैसे बन सकते हो ?

पोते ही आप अनाथ हो राजा, विकट कही एक बाता।
आपो आप अनाथ थया अब, किम थासी म्हारो नाथ॥

□ कैसे हूँ मैं अनाथ ?

मुनिवर के वचन सुन राजा श्रेणिक आश्चर्यचकित हुआ। सोचने लगा—‘मुनिवर ने ऐसे कैसे कह दिया ? मुनि कभी असत्य भाषण नहीं करते, पर आज तो मुनि सरासर असत्य ही कहते दिख रहे हैं। मेरा इतना लम्बा-चौड़ा राज्य, अनेकों रानियाँ, लक्षाधिक दास-दासी, कोटिशः सैनिक फिर भी मुझे अनाथ बता रहे हैं। क्या इनके कथन में कोई रहस्य छिपा है ?’ राजा श्रेणिक मुनिवर से कहते हैं—हे मुनिराज ! आपको कहीं असत्य का दोष न लग जाये क्योंकि—

तेतीस सहस्र रथ, हाथी, घोड़ा, क्रोड़ तेतीसे योधा।
ग्राम नगरपुर पाटण घणरा, अन्तेवर बहुसडा॥
राजगृही नगरी रो राजा, श्रेणिक म्हारो नाम।
एक क्रोड़ ने इकोतर लाख, इतरा छे म्हारा गाम॥

□ सनाथ-अनाथ विवेचन

अनाथी मुनि राजा की नादानी पर मन-ही-मन हँसे। क्षणिक सुख और नश्वर ऐश्वर्य के बल पर कैसा अहं ? जानता है एक दिन माटी में मिलना है, पर कितना अज्ञान ? कहते हैं श्रेणिक से—यह राज्य, ऋद्धि, वैभव शरणभूत नहीं हैं। तुम अभी सनाथ-अनाथ की परिभाषाएँ नहीं जानते, इसीलिए ऐसा कह रहे हो। मैं तुम्हें अपने जीवन की वह घटना सुनाता हूँ, जिससे तुम अनाथी-सनाथी का मर्म समझ सको। मैंने किस अभिप्राय से अनाथ शब्द का प्रयोग किया है। एकाग्र होकर सुनो—

□ अनाथी मुनि की आत्मकथा

कौशाम्बी नाम की नगरी थी। उसी में मेरे पिता रहते थे। अतुल धन-वैभव था हमारे घर में। जाति-कुल उत्तम मिला था। बाल्यावस्था में अत्यन्त प्यार-दुलार प्राप्त हुआ। किसी बात की कोई कमी नहीं। शिक्षा प्राप्त कर युवावस्था में कदम रखा तो समान कुल-शील वाली एक सुन्दर बाला से मेरा विवाह कर दिया गया। उस समय भोगोपभोग के सारे उत्तम साधन प्रचुर मात्रा में मेरे पास उपलब्ध थे और कब तो दिन निकलता, कब रात जाती थी, मुझे कुछ भी पता न चलता था। मैं अपने उन सुखों में डूबा था।

पढमे वये महाराय ! अउलामे अच्छवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वंगेसुय पत्थिवा॥

(उत्तराध्ययन २०-१२)

हे पार्थिव ! उभरते यौवन में अचानक एक दिन मेरे नेत्रों में तीव्र पीड़ा प्रारंभ हुई। असातावेदनीय का उदय। घोरातिघोर पीड़ा। नेत्र-पीड़ा की बेचैनी से मैं प्रतिपल व्यथित था। वेदना बढ़ती गई, पूरे शरीर में व्याप्त होने लगी। कटि-भाग, हृदय-भाग और मस्तिष्क में शूल उठने लगे। मेरे पिताजी मेरे शरणभूत थे, उन्होंने सारे प्रयास किये, पानी की तरह धन बहाया, पर मुझे शांति नहीं दे सके—यह मेरी अनाथता थी। अनेक वैद्यक, मंत्र-तंत्रवादी, जड़ी-बूटियों के ज्ञाता आए और मेरी चिकित्सा की, पर दुःखमुक्त न कर सके—

ते मे तिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया॥
पिया मे सव्वसारं पि, दिज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया॥
माया य मे महाराय ! पुत्त सोग दुहट्टिया।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया।
भायरो मे महाराय ! सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा॥
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया॥

(उत्तराध्ययन २०/२३ से २६)

इस तरह मुनिवर ने अनाथता के जो कतिपय कारण गिनाये, वे थे—चिकित्सा से वेदना- मुक्ति नहीं मिलना, पानी की तरह धन बहाने वाले पिता, हर समय पलक-पाँवड़े बिछाने वाली माता, छोटे-बड़े भाई, छोटी-बड़ी बहनें, अनुरक्ता एवं पतिव्रता पत्नी आदि कोई भी पूर्ण प्रयत्न करके भी उस नेत्र-पीड़ा, अंग-अंग पीड़ा से मुझे नहीं बचा सके। यदि इनमें से कोई नाथ होता, शरणभूत होता तो मैं निश्चय ही ठीक हो जाता।

□ केवल धर्म ही शरणभूत है

तब मैंने विचार किया—‘यह संसार दुःखरूप है। दुःख-सुख कर्मजनित हैं। आत्मा ही कर्मों का कर्ता व भोक्ता है। मैं यदि इस विपुल वेदना से एक बार मुक्त हो जाऊँ तो निरारंभी अणगारधर्म स्वीकार कर प्रव्रज्या ले लूँगा।’

हे नरेश ! तभी एक चमत्कार हुआ—

एकर वेदना अलगी हो जाये, वेदना बहुत सताई।
खंतो, दंतो इन्द्रिय दमंतो, प्रव्रज्या लूं सुखदाई।
ऐसी चिन्तवणां करतां मनमाहीं, निद्राविशेषज आई।
रात व्यतीत हो दिनकर ऊगो, वेदना सर्व खपाई॥

मैं शुभ अध्यवसायों के साथ शांति का अनुभव करते हुए निद्रालीन हो गया। व्यतीत होती रात्रि के साथ मेरी नेत्र-पीड़ा भी नष्ट हो गई। मैंने निश्चय जान लिया कि मेरी आत्मा ही मेरा नाथ है। संसार अशरणभूत, व्यर्थ, निस्सार है।

प्रभातकाल में मैं नीरोग होकर माता-पिता, बंधुजनों, भार्या से अनुमति प्राप्त कर अणगारधर्म में प्रव्रजित हो गया। आज मैं निर्ग्रन्थ हूँ, संयम-पथ का पथिक हूँ और उस दिन से ही स्वयं का नाथ स्वयं बन गया हूँ।

अपना ही नहीं, अपितु राजन् ! मैं मुनिधर्म अंगीकार कर दूसरों का भी, समस्त त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का भी ‘नाथ’ हो गया हूँ।

□ आत्मा ही अपना नाथ है और आत्मा ही अपना अनाथ

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणां॥

(उत्तराध्ययन २०/३६)

हे राजन् ! प्रत्येक जीव की उसकी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, वही कूटशाल्मलि वृक्ष है और वही कामधेनु है, नन्दनवन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय-सुपट्ठओ॥

(उत्तराध्ययन २०/३७)

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता, भोक्ता और विनाशक है। आत्मा ही अपना मित्र है (यदि वह सद्प्रवृत्तियों में स्थित है) और आत्मा ही अपना शत्रु है (यदि वह दुष्प्रवृत्तियों में रमता है)। संसार का कोई भी बाह्य पदार्थ हमारी आत्मा की सहायता (परिणमन) के बिना हमें सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करा सकता। इसलिये आत्मा ही हमारा मित्र है और आत्मा ही शत्रु है।

श्रेणिक ने विचार किया—‘कैसा सत्य, यथार्थ कथन किया है ? मैं इनका नाथ बन रहा था पर सच्चे नाथ तो ये स्वयं हैं। वस्तुतः मैं तो अभी अनाथ ही हूँ।’

□ संयम-पालक भी अनाथ हैं : कैसे ?

बंधुओं ! मुनिवर ज्ञानी थे, भविष्यद्रष्टा थे, आने वाले युग की स्थिति का शायद उन्हें भान था। अतः उन्होंने श्रेणिक से आगे कहा—“हे राजन् ! संयम लेकर भी, पंचमहाव्रत धारण करके भी, मुनि-वेश पहनकर भी कोई सनाथ बन जाए, यह जरूरी नहीं है। संयम लेकर भी जो परिषह सहन करने में कायरता दिखाये, साधना में शिथिल हो जाये, संयम का पालन न कर पाये वे अनाथ ही कहलाते हैं।”

छह काया के प्रतिपाल होते हैं श्रमण, पर यदि वे छह काय जीवों को अभय नहीं दे सकें, निर्भय नहीं कर सकें तो उन्हें अनाथ ही समझना चाहिए।

बंधुओं ! दुनिया आज जिन मुनि-वेशधारी श्रमणों को सनाथ जानकर वन्दन करती है, उनमें से अनेक ऐसे मिल सकते हैं जो रसासक्त हों, राग-द्वेष में सने हों, पाँच समिति, तीन गुप्ति की आराधना न कर सकें, महाव्रतों में अस्थिर हो जाएँ, तप और नियम भ्रष्ट बन जाएँ—ऐसे लिंगधारी चिरकाल तक मुँडित रहें, केशलुंचन करें, नंगे पैर विहार करें, पर वे संसार से पारगामी नहीं बन सकते। वे दूसरों को शरण देते हैं, पर अभी स्वयं शरण में नहीं पहुँच पाए। अतः उनकी शरण भी अशरण रूप है।

□ वर्तमान के ‘अनाथ’ संत और सती

वर्तमान में ऐसे अनेक संत-सती मिल जायेंगे, जो न तो छह काय के रक्षक हैं और न ही कंचन के त्यागी। उनका कंचन के बिना काम चलता नहीं। भले ही वे रुपये-पैसों को हाथ नहीं लगाते, पर साथ के व्यक्ति सँभालते हैं, लोगों के पास जमाबंदी रहती है, जो कभी डूब जाती है तब उनकी हालत दयनीय हो जाती है। अनाथ ही तो हैं वे।

दो दिन पहले की बात है। एक श्रावक जी दर्शन को आए। वन्दना कर बोले—
“मुनिवर ! आने वाले लोगों की अत्यधिक संख्या को देखते हुए माइक तो होना ही चाहिए। हम आते हैं आपकी वाणी सुनने के लिए पर सुनाई कुछ देता नहीं, प्यासे ही रह जाते हैं।”

मैंने श्रावक जी का चेहरा देखा। वे पर्व-श्रावक थे। मेले-खेलों में, समारोह-आयोजनों में ही आते थे। आते, मुँह दिखाते, सबसे पीछे आते, जल्दी निकल जाते।

मैंने उनसे कहा—“श्रावक जी ! हम श्रमण हैं, निर्ग्रन्थ हैं, पंचमहाव्रत-पालक हैं, षट्काया के प्रतिपाल हैं। अतः आपके लिए किसी जीव की विराधना नहीं कर सकते, किसी भी त्रस-स्थावर प्राणी के लिए हम ‘अनाथ’ नहीं बनना चाहते। आप सुनना चाहते हैं, समय से पूर्व पहुँचें, आगे बैठें। नहीं पहुँच पाते तो प्रवचन के अतिरिक्त ज्ञान-चर्चा आदि के समय आ जाएँ। वैसे भी जन-समूह ज्यादा हो या कम, यदि जिज्ञासा है तो जब शान्ति होती है, तब वहाँ उपदेश ग्रहण हो जाता है। दीक्षा के प्रसंग पर तो गुरुदर्शन का लाभ और जानकार लोगों से मिलन-यही हो पाता है। आप एक-दो दिन को छोड़ शेष तीन सौ त्रेसठ दिन सुनने के भाव रखिए तो आनंद मिलेगा, जीवन भी सफल बनेगा।”

मुनिजन जिनके माइक लगता है, स्वयं माइक को हाथ नहीं लगाते, पर व्यवस्था करवाते हैं, निर्देश देते हैं, प्रयोग में लेते हैं। तेजस्काय की खुल्लमखुला विराधना हो रही है। एक महाव्रत भंग-सभी महाव्रत भंग। संयम रूपी नाव में छिद्र हो रहा है यह। जानते हैं आप कि इस छिद्र के प्रणेता कौन हैं ? आप श्रावक ! श्रमणों के अम्मा-पियरो !

आप लोग अब खुलेआम स्थानकों में आहारादि लाकर मुनियों को देते हैं, घर बुलाकर टेलीविजन दिखाते हैं, लघु आकार के टी. वी. सेट, टेपरिकॉर्डर, कैसेट्स, मोबाइल, कम्प्यूटर का प्रबंध करते हैं निर्ग्रन्थों के लिए। संत-सती वर्ग के संयम-पथ के सहायक और रक्षक हैं आप, पर आज भक्षक बन रहे हैं मुनिधर्म के, संयम के।

यही बात अनाथी मुनि ने महाराज श्रेणिक से भी कही। केवल संयम लेने से कोई सनाथ नहीं बन जाता। जन-रंजन में, प्रदर्शन में, लोकैषणा में जो रम जाता है, फँस जाता है—वह तो अनाथ ही रहेगा।

□ ज्ञान आनंद का कारण बना

मुनि से अनाथ-सनाथ का रहस्य ज्ञात कर राजा श्रेणिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। प्रश्न पूछकर ध्यान में विघ्न पैदा करने एवं भोगों के लिए आमंत्रित करने-जैसी भूलों के लिए श्रेणिक ने मुनि से क्षमा-याचना की। उसने परम भक्ति व श्रद्धा के साथ अपने अन्तःपुर की रानियों, स्वजनों-परिजनों सहित उस महाश्रमण की वन्दना की एवं जिन-वचनों में अनुरक्त बन वह राजमहलों में लौट गया। यहीं पर राजा श्रेणिक के सम्यक्त्व की नींव लगी, जिसके बाद सम्यक्त्व दृढ़तर होता गया और वही सम्यक्त्व राजा श्रेणिक के तीर्थंकर गौत्र उपार्जन का कारण बना।

□ आत्म-कल्याण के लिए.....

आप भी प्रवचन सुन स्थानक से अब अपने घर की ओर प्रस्थान करेंगे। आपका शरीर चाहे कुछ भी करे, पर मन व मस्तिष्क में अनाथ-सनाथ का चिन्तन चलना चाहिए। स्वाध्याय के समय-आत्मानुशासन, आत्म-जागृति, आत्म-विकास को खुराक मिले, वैसा साहित्य आप पढ़ें तथा शेष समय उसका मनन-चिन्तन करें। छह काय जीवों को अभय देने की भावना बनाएँ, तभी आत्म-कल्याण संभव है।

आनंद ही आनंद !



वलि समुद्रपाल मुनि

जिनेन्द्र भगवान की पावन वाणी अज्ञानरूप अंधकार को मिटाने वाली है, मिथ्यात्व का विनाश करने वाली है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन को प्रकट कराने वाली है। यह सम्यग्ज्ञान-दर्शन ही आगे जाकर चारित्र से युक्त होकर केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति का कारण बनता है। जो साधक वीतराग वाणी का श्रवण कर उसका पालन करता हुआ साधना के पथ पर अग्रसर होता है, वह संसार की चार गतियों, पाँच जातियों और चौबीस दंडक से मुक्त बन सकता है। आप भी यही चाहते हैं और हम भी। सभी प्राणी संसार की व्याधियों से, कष्टों से, दुःखों से छुटकारा चाहते हैं पर कैसे मिले छुटकारा और कैसे मिले मुक्ति ?

बंधुओं ! इसके लिए प्रथम आवश्यकता है सम्यग्दर्शन की, यथार्थ दृष्टि की। अब कैसे पता लगे कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ या नहीं ? निश्चय में तो यह बात केवलज्ञानी ही बता सकते हैं, पर व्यवहार में सम्यक्त्व के लक्षणों के आधार पर बताया जा सकता है। एक बात फिर भी ध्यान रखने की है, यह कोई अन्य व्यक्ति नहीं बता सकता, इसे तो केवल आप ही अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग कर सम्यक्त्व के लक्षणों एवं स्व-अनुभूति के आधार पर अपने को कसौटी पर कसकर जान सकते हैं।

व्यवहार सम्यक्त्व के पाँच लक्षण बताए गए हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था।

शम (सम)—शत्रु, मित्र पर व शुभ-अशुभ पदार्थों पर समभाव रखना “सम” है। “शत्रु हो चाहें मित्र, भला-बुरा करने वाले तो निमित्त मात्र हैं क्योंकि जो जो भी, जैसा भी हुआ, हो रहा है, उसका प्रधान कारण तो मेरे पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही हैं। अच्छे से बुरा या बुरे से अच्छा होना तो पुद्गल का स्वभाव है अतः शुभ या अशुभ पुद्गलों पर राग-द्वेष क्यों ? मेरा स्वभाव समभावों में स्थिरता है अतः मुझे अपने स्वभाव में रहना

योग्य है। अपने स्वभाव का त्याग कर राग-द्वेष करना मुझे योग्य नहीं।” इस तरह के चिन्तन से अनन्तानुबंधी कषाय जो पहले अत्यंत तीव्र होती है, उसके परिणामों में पहले की तरह उग्रता नहीं रहती। इस प्रकार से अनन्तानुबंधी कषाय का उदय न होना “शम” कहलाता है।

संवेग—वेग अर्थात् धारा का प्रवाह। वेग के साथ लगा हुआ है ‘सम्’ उपसर्ग। संवेग का अर्थ हुआ—सम्यक् प्रवाह, सम्यक् गति। सम्यक् दिशा में जीव का गति करना, चलना। पहले जो वेग मिथ्यात्व के कारण सांसारिक पदार्थों की ओर था, उसका परिवर्तन हो जाना, चिन्तन और चाह की धारा का मोक्ष-मार्ग की ओर उन्मुख होना। बाहर से धारा के प्रवाह का आत्मा की ओर, भीतर में मुड़ जाना। सांसारिक बंधनों से भयभीत रहना। पापकारी प्रवृत्तियों से हिचकिचाना तथा धर्म की ओर निर्द्वन्द्व होकर बहना ही संवेग है। दूसरे शब्दों में, वैराग्यभाव—मोक्ष की अभिलाषा संवेग है।

निर्वेद—वेद अर्थात् भोगना। नामकर्म की प्रकृतियों के कारण पुरुष, स्त्री, नपुंसक आदि के चिह्न प्राप्त होते हैं और मोह-कर्म की प्रकृतियों के उदय से इन्हीं चिह्नों, वेदों में विकारों की उत्पत्ति होती है, काम-भोगों की लालसा बनती है। काम-भोगों के प्रति जो आसक्ति है, उसमें उदासीनता प्राप्त करना ही निर्वेद स्थिति है। विषयों एवं भोगों में आसक्ति की न्यूनता होने पर आत्म-स्वरूप के प्रति आकर्षण पैदा होता है। सांसारिकता में ऐसे व्यक्ति की अत्यल्प इच्छा रहती है। वह जो कुछ करता है—कर्तव्य मान, निर्लिप्त बनकर करता है। कहा भी है—

अहो समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।

अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल॥

बच्चे के लालन-पालन के लिए पालक-माता को नौकरी पर रखा। क्या बच्चे के प्रति उस नारी में मातृत्व भाव आएगा ? कदापि नहीं। भ्रमर सुगंधित फूलों पर मँडराता हुआ रस ग्रहण करता है, पर जब भी उसकी उड़ने की अभिलाषा होती है, वह उड़ जाता है। निर्वेद-सम्यक् दृष्टि जीव भी संसार में रहकर परिवार के प्रति कर्तव्यों का निर्वहन अनासक्त भाव से करता हुआ, जब भी कर्तव्यों से मुक्त होता है तो समस्त सांसारिक बंधनों को त्यागकर आत्म-साधना की ओर बढ़ जाता है—

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग।
काक-बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दर्शी लोग॥

चक्रवर्ती का साम्राज्य और देवेन्द्र के समान कमनीय सुख-भोग भी वह कौए की बीट के समान समझता है। अर्थात् आरम्भ-परिग्रह से निवृत्ति, संसार से उदासीनता निर्वेद है।

अनुकम्पा—कम्प अर्थात् कम्पन ! कब होता है कम्पन, स्पन्दन ? कब होनी चाहिए दिल में धड़कन की वृद्धि या धड़कन ? जिस समय किसी अन्य को दुःखी देखें। दूसरों के दुःख में स्वयं दुःख की अनुभूति करना और उसके दुःख को दूर करने की भावना रखना ही अनुकम्पा है। प्राणिमात्र के प्रति करुणा, दया, सहानुभूति रखना, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार रखना, 'मिती मे सव्व भूएसु' की विचारधारा बन जाना ही अनुकम्पामय धारणा है।

आप सामायिक करने जा रहे हैं, मुनिराज का प्रवचन सुनने जा रहे हैं, प्रतिक्रमण-पौषध करने जा रहे हैं। स्थानक की ओर गतिमान होते हुए आपको राह में कोई प्राणी कीचड़ में धँसता नजर आता है। आपकी चिन्तनधारा में उसे कीचड़ से निकालने की बात आती है और उसके प्राण बचा देते हैं तो आप अनुकम्पा को धारण करने वाले हैं। इस सोच के साथ यदि आप उसकी रक्षा कर स्थानक चले जाते हैं तो अनुकम्पा सहित वह सामायिक सार्थक बन जाती है। सामायिक है क्या ? सावद्य योगों का त्याग ही सामायिक है। छह काय जीवों की प्रतिपालना ही सामायिक है। यदि मन में दया के लक्षण नहीं तो जीवों की प्रतिपालना कैसे होगी ? मन में दया नहीं, अनुकम्पा यदि नहीं तो सम्यक् दृष्टि नहीं बना जा सकता।

आस्था—आस्था का अर्थ है श्रद्धा, विश्वास। आस्था का एक अर्थ आस्तिक्य भी है। अतः समकित के पाँच लक्षणों में आस्था को आस्तिक्य के नाम से भी संबोधित किया जाता है। जिन-वचनों के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म- मोक्ष आदि नव तत्त्वों को यथार्थरूप में स्वीकार करना ही आस्था है। जिनवाणी में अटूट श्रद्धा रखते हुए प्राणी आत्म-साधना करे और यही चिन्तन रखे कि केवल जिनवाणी ही संसार-सागर से पार लगाने वाली है, शेष कोई भी वचन संसार-सागर से पार लगाने में समर्थ नहीं है।

बंधुओं ! जीवन में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण अपना लिए गए तो आत्म-विकास का, साधना का, मुक्ति-पथ का हर कदम स्थिर, दृढ़ व प्रगतिमान रहेगा। इससे आगे बढ़ने के लिए प्रतिज्ञा लेनी है, व्रत-प्रत्याख्यान करने हैं। आप तो चाहते हैं, पर आपका मन आपको दगा दे जाता है। मन कमजोर है, चंचल है, अस्थिर है। इस मन को नियन्त्रण में लेना है। आप इन पाँच सीढ़ियों को क्रमशः तय करने का प्रयास प्रारंभ करें, फिर मन कमजोर नहीं बनेगा।

मन की कमजोरी यदि मिट गई तो दृढ़ता, आस्था, अटूट विश्वास आत्मा में स्वतः आ जाएगा। तब आपका सम्यक्त्व भी दूषित होने से बच सकेगा। व्यवहार समकित के पाँच दूषण हैं। आस्था, श्रद्धा मजबूत नहीं हुई तो ये दूषण आत्मा को दूषित कर सकते हैं। ये पाँच दूषण हैं—शंका, कंखा, वितिगिच्छा, पर-पाखंड-प्रशंसा तथा पर-पाखंड-संस्तव।

शंका—जिनेन्द्र भाषित सिद्धान्तों में आस्था यदि दृढ़ नहीं तो कभी भी उनकी सत्यासत्यता का विचार आ सकता है। यह सन्देह सम्यक्त्व को मलिन बनाता है, दूषित करता है। सन्देह की उत्पत्ति यथार्थ-बोध न होने के कारण होती है। आश्चर्य है कि सर्वज्ञ मानते हुए भी हम उनके वचनों में शंकित बनते हैं, जबकि डॉक्टर आदि की दवा पर पूरा विश्वास कर उसका सेवन कर लेते हैं। सिद्धांत में बताया है “संकाए नासे सम्मत्तं” जिनेन्द्र-भाषित सिद्धांत में शंका करने वाले का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। जिनानुयायियों को चाहिए कि वे “तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं” पर श्रद्धा रखकर निश्चित मानें कि “जो जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित है, वही सत्य व शंकारहित है।”

कंखा (कांक्षा)—मिथ्यात्वी व्यक्तियों के दिखावों, प्रदर्शनों एवं क्रिया-कलापों से आकर्षित बनकर मन में यह इच्छा करना कि मैं भी ऐसा ही करूँ। यह अच्छा है, अतः मुझे करणीय है। रागियों की बातों के प्रभाव में आकर उन्हें पूज्य, वंदनीय मानना। “पातञ्जलि ने योग पर कितना सुन्दर-सुन्दर कहा, पर महावीर ने तो योग पर कुछ भी नहीं कहा।”—ऐसे चिन्तन द्वारा तीर्थंकर के वचनों पर शंका लाकर अन्य तीर्थियों के वचनों पर श्रद्धा लाना, जिन-वचनों को छोड़ने की कामना करना कांक्षा दोष है, जो सम्यक्त्व को मलिन बनाता है।

वस्तुतः तो प्रभु महावीर महायोगी थे। उन्होंने मन, वचन, कायरूप त्रियोग को आधार बनाकर ही साधना के समस्त सोपानों का विवेचन दिया। इससे बड़ा योग क्या होगा ? जानकारी पूरी नहीं, समझ पूरी नहीं और कह दिया—जिनवाणी में यह नहीं, वह नहीं... !

बंधुओं ! सच्चे बाप का सच्चा पुत्र तो सदैव जाति, कुल, धर्म के अतिरिक्त अपने पिता की यशः गाथा एवं उनके आदर्शों के प्रचार-प्रसार की ही भावना रखता है, पर जो इनमें भी जनरंजन की दृष्टि रखता हुआ जिनवाणी में दोष निकाले तो यह दूषण होगा।

वितिगिच्छा (विचिकित्सा)—धार्मिक अनुष्ठान से जब कोई प्रत्यक्ष फल नजर नहीं आता, तब व्यक्ति धर्म के फल के प्रति सन्देह करने लगता है, यही वितिगिच्छा या विचिकित्सा है। प्रथम तो प्रत्यक्ष किसी फल की इच्छा से कोई धार्मिक अनुष्ठान किया ही नहीं जाना चाहिए। इस पर भी महाव्रतों, श्रावक के व्रतों, संयम, तप आदि का प्रत्यक्ष फल न मिले तो धर्म या धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति कदापि अविश्वास नहीं होना चाहिए। अनेक व्यक्ति देखे गए हैं जो संकट के उपस्थित होने पर तप का आलम्बन लेते हैं, आपमें से भी अनेक ऐसे हो सकते हैं, पर तप के बाद भी संकट दूर नहीं होता तो कह देते हैं—“यह सब बकवास है।” यह सम्यक्त्व को दूषित करने वाला चिन्तन है। सोचना यह चाहिए कि हमारे तीव्र अशुभ कर्मों का उदय है, तभी जप-तप पूर्णतः इन्हें नष्ट नहीं कर पाए और अधिक जप-तप की जरूरत है। यदि यह जप-तप नहीं करते तो शायद इससे भी अधिक गहन संकटों का सामना करना पड़ता। धर्म किया तभी पहाड़ रूपी संकट राई जितना बनकर आया है।

साधुओं के मलिन वस्त्रादि देखकर घृणा करना भी समकित को दूषित करता है, वह भी विचिकित्सा दूषण है। स्व एवं पर-कल्याण के लिए साधना को समर्पित निर्ग्रथ मुनि तो शरीर-सज्जा के स्थान पर आत्म-सज्जा पर ही ध्यान केन्द्रित रखते हैं।

पर-पाखंड-प्रशंसा—अन्य मतियों की प्रशंसा करना ही पर-पाखंड-प्रशंसा है। वस्तुतः अनेक अन्य मति विभिन्न चमत्कारों, प्रलोभनों, वाक्चातुर्य, शब्द-जाल आदि का प्रभाव दिखाकर जनता को प्रभावित-भ्रमित कर लेते हैं। यदि जिनानुयायियों में भी यह प्रभाव आकर्षण का कारण बने और वे उनका गुणगान करने लगें तो इससे समकित दूषित

बनता है। वस्तुतः जब भी गुणों की प्रशंसा की बात आए तो एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि जिसके गुणों से आप आकर्षित हैं, उसमें कोई दुर्गुण तो नहीं है। गुणावगुण का लक्ष्य बनाकर ही झुकना हो तो झुकें पर जहाँ सामान्य गुण के साथ मूल में अवगुणों का भेल-संभेल हो, उनसे बचकर ही चलें तो ही आपका सम्यक् दृष्टिकोण सुरक्षित रह पाएगा।

पर-पाखंड-संस्तव (पर-पाखंड-परिचय)—अन्य तीर्थियों, मतावलम्बियों, मिथ्या मान्यताओं वालों से परिचय बढ़ाना भी समकित में दूषण रूप है। क्योंकि—

**“कदली-सीप-भुजंग मुख, स्वाति एक गुण तीन।
जैसी संगत कीजिए, वैसी ही फल दीन॥”**

स्वाति नक्षत्र में मेघ से गिरने वाले जल-कण से कदली (केले) में कपूर, सीप में मूल्यवान मोती, भुजंग के मुख में विष का निर्माण होता है।

संगति संत-सज्जन की होगी तो जीवन में सद्गुणों, सद्संस्कारों का विकास होगा और संगति यदि दुर्जनों की होगी तो—

**“काजल की कोठरी में, कैसो हू सयानो जाय।
एक लीक काजल की, लागि है पे लागि है॥”**

यह तो कहावत है पर यह भी हो सकता है कि कहीं दुर्जनों की कुसंगति से मुँह ही काला कर बैठें। सम्यक्त्व की वृद्धि करनी है, उसे शुद्ध बनाए रखना है तो परिचय केवल सद्धर्मानुयायियों का और आत्मार्थियों का ही होना चाहिए।

आपको इन दूषणों से बचना है और लक्षणों को जीवन में धारण कर सम्यक्त्व की शुद्धि को बनाए रखना है। व्यवहार में सम्यक्त्व की शुद्धता यदि मिल गई तो निश्चय में स्व-अनुभूति के साथ सम्यक्त्व में प्रवेश हो जायेगा। इसके बाद आगे की साधना का, मुक्ति-पथ पर अग्रसर होने का पुरुषार्थ आसान हो पाएगा। फिर एक क्षण में ही चिन्तन की धारा में यही निनाद कल-कल की ध्वनि करेगा—

“संसार खारो लागे, वैराग प्यारो लागे।”

चल रहा है यहाँ ऐसे ही महापुरुषों का प्रसंग ‘बड़ी साधु वंदना’ के प्रवचनों में, जिन्होंने एक ही क्षण में संसार को त्यागकर संयम का पथ अपनाने का निर्णय

लिया और मुनि बन, कठोर साधना कर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति कर मुक्ति को प्राप्त किया।

“वलि समुद्रपाल मुनि, राजमती रहनेम।

केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुर खेम ॥२४॥”

अर्थ—समुद्रपाल मुनि, राजीमती व रथनेमि, केशी श्रमण एवं गौतम गणधर—इन सभी ने समाधिपूर्वक मोक्षगति प्राप्त की।

इस गाथा में सर्वप्रथम समुद्रपाल मुनि का उल्लेख आया है। समुद्र में जन्म लेकर, समुद्र में पलकर संसार रूपी समुद्र से जो पार हो गए वे समुद्रपाल मुनि हम सभी के लिए वन्दनीय हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के इक्कीसवें अध्ययन में भगवान महावीर ने समुद्रपाल के विषय में विस्तार से बताया है। चम्पा नाम की नगरी में पालित नाम का एक व्यापारी श्रेष्ठी श्रावक रहता था। वह जिनेश्वर देव का श्रद्धावान भक्त और पूर्ण जिनानुयायी था। श्रावक होते हुए भी उसे श्रमण-निर्ग्रन्थ के धर्म, सिद्धान्त आदि की विशेष जानकारी थी। वह जीवादि नवतत्त्वों का ज्ञाता था और धर्म के मर्म को समझता था।

पालित सेठ समुद्र के रास्तों से जहाजों में माल भरकर ले जाता था। किसी एक जगह बेचकर नया माल वहाँ से खरीदकर आगे चल देता, यही क्रम वर्षों से चलता था। घर में धन-धान्य, स्वर्ण-रजत, हीरे-पत्त्रे, माणिक-मोती आदि की कोई कमी नहीं थी। श्रावक के व्रतों के अन्तर्गत परिग्रह परिमाण में धन-धान्य की मर्यादा कर दी। अतः उससे अधिक जो भी धन-धान्य होता, उसका दान कर देता तथा व्यापार को सीमित कर धर्मध्यान में अधिक समय व्यतीत करता, जिससे परिग्रह-परिमाण-व्रत में दोष नहीं लगे। उस समय के श्रावक मर्यादावान थे, समय आने पर आवश्यक मर्यादाएँ तय कर संकल्प ले लेते थे कि इससे अधिक भूमि, धन, भवन, वस्त्र, पात्र आदि नहीं रखना। आज के श्रावक तीन पीढ़ी आगे की सोचते हैं।

बंधुओं ! श्रावक का जीवन मर्यादित होना चाहिए। यदि मर्यादा नहीं ले रखी है तो संसारभर में हो रहे सभी पापों का आस्रव भागीदारी में लग रहा है। मर्यादा यदि है और घर में लाखों-करोड़ों की सम्पदा, व्यापार, किन्तु मर्यादा से बाहर जो कुछ हो रहा है,

उसका उन्हें दोष नहीं लगता। प्रभु कहते हैं कि प्रत्येक श्रावक का व्यापार और जीवनचर्या मर्यादा में होनी चाहिए।

एक बार पालित श्रावक हमेशा की तरह जहाज भरकर व्यापार के लिए निकला। समुद्री किनारों के शहरों में व्यापार करता हुआ वह पिहुण्ड नगर पहुँचा। व्यापार-कुशल था, मधुरभाषी था, मिलनसार था और व्यवहार-चतुर भी था अतः पिहुण्ड के राजा एवं श्रेष्ठिजन उससे बहुत ही प्रभावित हुए। नगर के मुख्य श्रेष्ठी ने अपनी सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया।

विवाह के पश्चात् भी कई माह तक पालित अपनी पत्नी के साथ समुद्र में नगर-नगर, देश-देश घूमता हुआ व्यापार करता रहा। समुद्र में ही उसकी पत्नी गर्भवती हुई। जन्म भी शिशु का समुद्र में ही हुआ। अतः पालित सेठ ने उसका नाम रखा-समुद्रपाल।

लम्बे समय बाद पालित पुनः अपने नगर 'चम्पानगरी' को लौट आया। यहाँ माता-पिता के प्यार-दुलार एवं देखरेख में बालक समुद्रपाल सुख और समृद्धि के बीच बड़ा होने लगा। समय पर उसे कलाचार्य के पास भेजा गया। उसने पुरुषोचित बहत्तर कलाओं एवं सभी विद्याओं का अध्ययन किया।

माता-पिता ने पुत्र के युवा हो जाने पर रूपिणी नाम की 'यथा नाम तथा गुण' वाली रूपवती कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। अपनी भार्या के साथ वह सुकुमार समुद्रपाल देवताओं के समान सुख पिता के रमणीय भवनों में रहकर भोगने लगा।

एक समय अपने भवन के झरोखे में बैठकर समुद्रपाल नगर के विभिन्न दृश्यों का आनंद ले रहा था कि उसने राजा के सैनिकों को देखा जो किसी अपराधी व्यक्ति को बंधनों से जकड़कर, मृत्यु-चिह्नों से युक्त बनाकर वध-स्थल की ओर ले जा रहे थे। उसे देखकर समुद्रपाल विचार करने लगा- 'अवश्य इसने बुरे कर्म किए हैं। अतः इसे मृत्यु-दंड दिया जा रहा है। संसार में किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल या तो तुरन्त मिल जाता है, अन्यथा उन्हें आने वाले जन्मों में भोगना पड़ता है। कर्म कभी किसी को नहीं छोड़ते। मैं आज महलों में जिस सुख का भोग कर रहा हूँ, वह सुख मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है। बुरे कर्म-बुरे फल, अच्छे कर्म-अच्छे फल। क्या कभी वह भी

स्थिति कि बुरे फल मिलें ही नहीं ? जन्म-मरण ही मिट जाए ?'... चिन्तन चला तो चलता ही रहा और चिन्तन की धारा ने समुद्रपाल को संवेग की स्थिति में ला दिया। वह कर्मवाद के सिद्धान्त पर गहन चिन्तन में लीन हो गया। अपने आप को कर्मों का कैदी मानने लगा। शुभाशुभ कर्मों के बंधन से छुटकारे का उपाय सोचने लगा। इसी ऊहापोह में भीतर वैराग्य की धारा फूट पड़ी।

वैराग्य के प्राप्त होने पर समुद्रपाल माता-पिता के पास आया। विनम्रतापूर्वक उसने दीक्षा की अनुमति माँगी और अनुमति पाकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गए। निरतिचार महाव्रतों का पालन करते हुए, प्राणिमात्र पर अनुकम्पा की दृष्टि रखते हुए, क्षमा को धारण कर, मन और इन्द्रियजीत बन, निर्भय विचरण करने लगे।

ईर्या, भाषा आदि पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का विवेकपूर्वक पालन करते हुए समुद्रपाल मुनि श्रुतादि ज्ञान से सम्पन्न बन गए। साधक के लिए समिति-गुप्तिरूप अष्ट-प्रवचन-माता का पालन संयम का अनिवार्य अंग माना गया है। भाषा का विवेक रखना तो बहुत आवश्यक है, क्योंकि अमर्यादित भाषा ही अनेक अनर्थों का मूल और झगड़े की जड़ है। रसना खाकर धान बिगाड़ती है और बिना विचारे बोलकर लोगों का मन बिगाड़ती है। रसना स्वयं तो अनर्थ-मूलक शब्द कहकर बत्तीसी (दाँत) के किले में जा छिपती है, पर मार खाता है कपाल। कहते भी हैं—

रसना ऐसी बावरी, कहि गइ सरग-पताल।

आपु कहि भीतर रही, जूती खात कपाल॥

साधक के सत्य कथन का संकल्प होता है, पर सत्य में भी विवेक आवश्यक है। किसी प्राणी के हृदय को ठेस पहुँचाने वाला सत्य साधु के लिए वर्जित है। सत्य है पर लोक-विरुद्ध बात है तो बोलने की आवश्यकता नहीं, मौन ही श्रेष्ठ है वहाँ। जहाँ भी किसी को पीड़ा पहुँचती हो, कहीं टकराव की स्थिति बन रही हो, कुछ भी हानि की संभावना नजर आती हो तो सबसे भली चुप। नीति कहती है—

वाणी ऐसी बोलिए, मन का आपा खोय।

औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥

कटु, कर्कश बोलेंगे तो आपको भी बखशा नहीं जाएगा। जैसे का फल तैसा अतः आपको भी फिर कटुक, कठोर सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए। असहनशील बन गए तो टकराव निश्चित है। टकराव है तो कषायों में वृद्धि भी है। कषायों की तीव्रता से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाएगा। एक दुर्गुण आते ही सारे गुण दब जायेंगे, जबकि एक सद्गुण प्रकट होते ही अन्य-अन्य गुण भी स्वतः प्रकट होने लगेंगे।

बंधुओं ! संवर से आते हुए कर्मों को रोकिए और बाह्य एवं आभ्यंतर तपश्चरण (निर्जरा) द्वारा कर्मों को निर्जरित कर दीजिए। ऐसा करने पर ही यथाख्यात की स्थिति बन सकेगी अर्थात् कर्म निःशेष और मोक्ष की प्राप्ति। समुद्रपाल मुनि ने भी उत्तम गुणरूप धर्म का संचय कर सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त किया। घाति व अघाति दोनों प्रकार के कर्मों को काटकर वे सभी बंधनों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हुए।

आपको भी यही करना है। कर्म निर्जरित होते हैं स्वाध्याय, प्रवचन-श्रवण आदि से, पर आते हुए कर्म रुकते हैं—संवर से। प्रवचन में आते हैं तो सामायिक लेकर बैठिए, समय कम है तो संवर लेकर बैठिए। यही है विवेक और विवेक ही धर्म है, मुक्ति का पथ है। चलेंगे इस पथ पर तो शाश्वत आनंद प्राप्त हो सकेगा।

आनंद ही आनंद !



काम ने गिराया : उद्बोधन ने उठाया

(राजीमती-रथनेमि)

तीर्थकरों की सर्वकल्याणी अमृतवाणी को गणधरों ने सूत्ररूप में गुंथित किया, वही वाणी आगमों के रूप में आज हमारे समक्ष है। आगम-वाणी में उपलब्ध बत्तीस सूत्रों में चार मूल सूत्र हैं। मूल का अर्थ होता है—नींव, आधार, सार, मुख्य। ज्ञानार्थी के लिए सभी शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है। यदि न हो सके तो ऐसी स्थिति में केवल इन चार मूल सूत्रों का अध्ययन, मनन और जीवन में उसे ग्रहण करना ही पर्याप्त बताया गया है। मूल यदि मूलरूप में जीवन में उतर जाए तो केवलज्ञान-केवलदर्शन की उपलब्धि हो सकती है।

□ चाहिए चारित्र की उत्कृष्टता

ज्ञान जघन्य है पर ज्ञान के प्रति श्रद्धा (दर्शन) तथा चारित्र उत्कृष्ट है तो भी साधक सर्वज्ञ बन सकता है। शास्त्र-ज्ञान सीखने की स्थिति न हो तो पाँच समिति, तीन गुप्ति इन अष्ट-प्रवचन-माता का ज्ञान एवं पालन समर्पित आस्था के साथ हो तो भी कर्मबंधन काटे जा सकते हैं।

इसके विपरीत यदि ज्ञान उत्कृष्ट है। बत्तीस ही आगमसूत्रों का ज्ञाता है, चौदह पूर्वों के ज्ञान का भी धारक है, प्रतिपाति-मनःपर्यव ज्ञान तक मिल गया और चार ज्ञान का धारक बन गया है साधक, पर न दर्शन उत्कृष्ट है और न चारित्र की उत्कृष्टता, तो मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं। भावों के पतन की स्थिति में वह नरक-निगोद में भी जा सकता है।

□ ज्ञान और काल सम्बन्ध

चार मूल सूत्रों में द्वादशांगी का सार आ जाता है। अवसर्पिणी काल के प्रभाव से धीरे-धीरे ज्ञान का संकुचन हो रहा है, होता जाएगा। एक समय ऐसा भी आएगा, जब

ये आगम कम होते जायेंगे। पहले द्वादशांगी थी, पर उनमें से दृष्टिवाद का विच्छेद हो गया तो ग्यारह अंगसूत्र ही शेष रह गए। इससे पूर्व आचार्यों को चौदह पूर्व का ज्ञान होता था, धीरे-धीरे वह ज्ञान सम्पूर्ण रूप से लुप्त हो गया। इस अवसर्पिणी के इस पंचम आरे का जब थोड़ा ही काल शेष रहेगा, तब केवल दशवैकालिकसूत्र के चार (प्रथम से चतुर्थ) अध्ययन का ज्ञान ही इस क्षेत्र में शेष रहेगा। काल के प्रभाव से शेष सारा ज्ञान, सारे आगम, सारे सूत्र लुप्त हो जायेंगे।

□ सम्यग्दर्शन का चारित्र में महत्त्व

बंधुओं ! काल का ऐसा प्रभाव पर उस समय (पंचम आरे के अंत में) भी एक भव-अवतारी अर्थात् तीन भव में मुक्ति जाने वाले जीव इस क्षेत्र में मिल जायेंगे। तात्पर्य यह कि ज्ञान आवश्यक है, पर उत्कृष्टता तो दर्शन और चारित्र की होनी चाहिए। इन दोनों (दर्शन-चारित्र) में भी मुख्य आवश्यकता है—दर्शन की, श्रद्धा की, आस्था की।

दर्शन, श्रद्धा या आस्था शरीर-स्थित मेरुदंड की भाँति है। रीढ़ की हड्डी टूट जाए तो व्यक्ति का जीवन व्यर्थ, बेकार, भार रूप बन जाता है। दर्शन रूपी मेरुदंड को चारित्र गति देने वाला है। दर्शन ही सम्यक् नहीं, आस्था ही शुद्ध नहीं, विचारों में ही पावनता नहीं तो गति नहीं हो पाएगी।

□ चार दुर्लभ अंग

चार मूल सूत्रों की बात चल रही थी। उत्तराध्ययन सूत्र भी एक मूल सूत्र है। प्रभु की ऐसी मूल वाणी जिसमें सिद्धान्तों का सार भरा है। इस उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन की प्रथम गाथा है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

(उत्तराध्ययन ३/१)

इस गाथा में चार उत्तम दुर्लभ अंगों की बात प्रभु ने बताई है। ये चार परम दुर्लभ अंग जिसको भी प्राप्त हो गए, समझ लीजिए उसका संसार परित्त हो गया। इन चार परम दुर्लभ अंगों के नाम हैं—(१) मनुष्यत्व, (२) श्रुति, (३) श्रद्धा और (४) संयम में पुरुषार्थ।

□ पहला दुर्लभ अंग-मनुजत्व

मनुष्य-जन्म को परम दुर्लभ बताया है। इस मनुज-देही के लिए देवता भी तरसते हैं, पर हमें यह प्राप्त है। कल पाली से आए दर्शनार्थी बंधुओं में लायन्स क्लब के सदस्य एवं एक डॉक्टर ने बताया कि आज से २० वर्ष पूर्व भारत में मृत्यु-दर अधिक थी, आज विज्ञान ने ऐसे साधन, मेडिसिन व सर्जरी आदि चिकित्सा के क्षेत्र में उपलब्ध करवाए हैं कि मृत्यु-दर काफी कम हो गई है। बुद्धिजीवी वर्ग भी प्रश्न खड़ा करते हैं कि आगम कहते हैं-मनुज-भव दुर्लभ है और यहाँ जनसंख्या बेतहाशा बढ़ती जा रही है, सारा संसार, सारे वैज्ञानिक एवं राजनीतिज्ञ बढ़ती हुई जनसंख्या से उत्पन्न समस्याओं से परेशान, हैरान व चिन्तित हैं। तब क्या यह माना जाए कि आगम में जो कथन है, वह सत्य-तथ्य पूर्ण नहीं है ?

□ दस दुर्लभ बोल

बंधुओं ! 'माणुसत्तं' का तात्पर्य आगम में मनुज-देही की अपेक्षा से नहीं, मानवीय गुणों की अपेक्षा से है। शरीर मनुज का और प्रकृति दानवों की, पशुओं की तो वे 'माणुसुत्तं' की आगम घोषित परिधि में नहीं गिने जा सकते। स्थानांगसूत्र में दस दुर्लभ बोल बताए हैं-मनुष्य-भव, आर्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, पूर्ण इन्द्रियाँ, दीर्घायु, निरोग शरीर, सद्गुरु-संग, शास्त्रश्रवण आदि। यहाँ भी मानव-भव का तात्पर्य मनुजता, मनुष्यता, इन्सानियत से है। दुर्लभता देह की नहीं, गुणों की है। जैन संस्कृति व्यक्ति-पूजा नहीं, गुण-पूजा में विश्वास रखती है। कहा भी है-

मिनख जगत में मोकला, मिनखां तणो सुगाल।

जां मिनखां में मिनख पणो, वां मिनखां रो काल॥

दूसरी दुर्लभता दस बोलों में आर्य-क्षेत्र की बताई गई है। मनुष्य-जन्म के साथ यदि आर्य-क्षेत्र नहीं मिलता तो वह मनुज-भव व्यर्थ है। अनार्य-क्षेत्र में मनुज-जन्म और आर्य-क्षेत्र में मनुज-जन्म पाने में कितना अन्तर है ? क्यों है आर्य-क्षेत्र में जन्म लेना ही दुर्लभ व श्रेष्ठ ?

बंधुओं ! सभी ओर से अनंतानंत अलोक के मध्य तीन सौ तैंतालीस रज्जु घनाकार लोक है। इसमें भी लोक के मध्य में केवल एक रज्जु प्रमाण चौड़ा और १,८०० योजन

ऊँचा (६०० नीचे, ६०० ऊपर) तिरछा लोक है, जहाँ मानव जन्म लेते हैं। शेष में नारक तिर्यच एवं देवताओं का वास है। तिरछा लोक जो दस रज्जु प्रमाण है, उसमें भी असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं, जिनमें केवल अढाई द्वीपों में ही मनुष्यों की बस्तियाँ हैं। इन अढाई द्वीपों में भी महासमुद्रों, नदियों, पर्वतों आदि को छोड़कर पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि एवं छप्पन अन्तर्द्वीप, इस तरह कुल मिलाकर १०१ क्षेत्र हैं, जहाँ मनुष्य निवास करते हैं। इनमें भी अकर्मभूमियों तथा अन्तर्द्वीपों में तो युगलिया मनुष्य ही बसते हैं जो पूर्वोपार्जित देवों सरीखे शुभ कर्मों का पुण्यफल भोगते हैं। ये युगलिया मनुज धर्म की तनिक भी आराधना नहीं कर सकते।

बंधुओं ! इस तरह पूर्ण लोक में केवल पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न मानवादि प्राणी ही धर्माराधना कर सकते हैं। जैसा कि मैंने पूर्व में आपको बताया था, इन पन्द्रह कर्मभूमिज क्षेत्रों में पाँच महाविदेह क्षेत्र हैं, जहाँ सदैव धर्म की प्रवृत्ति प्रतिपल चलती रहती है, पर पाँच भरत और पाँच ऐरवत क्षेत्रों में एक कालचक्र के दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालों में से नौ-नौ कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितने काल में युगलिक काल रहता है, अर्थात् युगलिया मनुज पैदा होते हैं, जो धर्माराधना नहीं कर पाते। शेष एक-एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक काल ही धर्म की प्रवृत्ति का रहता है। वस्तुतः यह धर्म-प्रवृत्ति ही मानवीय गुण है। पाँच भरत क्षेत्र और पाँच ऐरवत क्षेत्र-इन दस क्षेत्रों में, प्रत्येक क्षेत्र में बत्तीस-बत्तीस हजार देश हैं और प्रत्येक क्षेत्र के बत्तीस हजार में से केवल साढ़े पच्चीस देश ही आर्य-क्षेत्र हैं। आर्य-क्षेत्रों में धर्माराधना कर सकते हैं। हमारे इस क्षेत्र के साढ़े पच्चीस देशों के नाम भी पूर्व प्रवचन में मैंने बताए थे। (बड़ी साधु वन्दना प्रवचन भाग-१ में प्रवचन २ देखें।)

धर्म है तो मानव का मानव-भव सफल है; अन्यथा वह मानव-भव ही नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें कि मानव-भव के साथ ही सद्धर्माराधन हो तो ही मनुष्य-भव गिनती में आना चाहिए; अन्यथा वह तो पशु-भव तुल्य ही है। आज ऐसे पशु-मानव बहुत मिल जाएँगे। अन्य तीर्थियों में एक दोहा बहुत प्रचलित है—

बेमाता रे संसो पड़ियो, मिनख रूप में ढाँढो घड़ियो।
लगावती तो ही सींग अर पूँछ, लगा दीवी दाढ़ी अर मूँछ॥

किसी क्रियावादी ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कल्पना की-विधाता को संशय हो गया सृष्टि का निर्माण करते समय कि मनुष्य बनाऊँ या पशु; किन्तु पशु को मनुष्य के रूप में बना दिया।

जन्म से मानव, पर गुणों से जो पशु, उनके लिए कितनी उपयुक्त बात कह दी है। ऐसे मानवों का आचार है खाना-पीना और मौज करना। वे धर्म नाम की महत्ता को जानते ही नहीं, सद्गुरुदेवों के सम्पर्क में आते ही नहीं, वीतराग वाणी सुनते ही नहीं। पशु की भाँति रात-दिन चरते, संतानोत्पत्ति करते, सन्तान पालते और बच्चों के भरण-पोषण, संरक्षण आदि में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं। कैसे उन्हें मनुष्य माना जाए ? कहा है-विनयचंद्र चौबीसी में श्रावक-श्रेष्ठ विनयचंद्रजी ने “एकेन्द्रि सूं बेइन्द्रि भयो, अनन्त पुनवानी वृक्ष रे जीव।”

हे जीव ! अनंत काल तक वृक्षादि के रूप में तूने एकेन्द्रिय जीवन व्यतीत किया। एकेन्द्रियपने में अनंत काल तक रहकर धूप, पानी, पत्थर सहकर अकाम-निर्जरा का संचयन किया और उस अनंत काल की संचित पुण्यवानी के कारण तू एकेन्द्रिय से बेइन्द्रिय में; इसी प्रकार अनंत-अनंत पुण्यवानी बेइन्द्रिय जीवन में संचित कर तेइन्द्रिय में आया, फिर ऐसी पुण्यवानी संचित कर तेइन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय में आया। चौरासी लाख जीवयोनियों में तूने परिभ्रमण किया। नरक-तिर्यञ्च आदि गतियों में सुदीर्घ काल के इस प्रकार के भवभ्रमण के पश्चात् अनंत पुण्यों के उदय से यह मनुष्य जीवन मिला। स्पष्ट है परम दुर्लभ है-मनुज-भव।

□ दूसरा दुर्लभ अंग-श्रुति

वीतराग-जिन भगवन्तों की, सर्वज्ञ तीर्थकरों की वाणी का, आगम का, श्रुत अर्थात् शास्त्रज्ञान का श्रवण ही श्रुति है। आप लोगों ने पूर्वकृत प्रबल पुण्यवानी से दस बोलों में से अनेक बोल प्राप्त किए हैं, जिनमें शास्त्र-श्रवण भी एक है। बंधुओं ! स्थानांग सूत्र में इन दस बोलों का उल्लेख आता है। ये सभी बोल मनुष्यत्व के विकास की अपेक्षा हैं, जिनका वर्णन अवसर आने पर किया जाएगा। मैं बता रहा था चार दुर्लभ बोल। मनुज-जन्म मिला है आपको, सद्गुरु भी मिले हैं पर इधर गुरुदेव शास्त्र-वाचन प्रारंभ करते हैं, उधर पुण्यवानी से मिले पावन अवसर को आप निद्रा-विकथा में व्यर्थ गँवा देते हैं। शास्त्र जब सुनाया जाता है तब अनेक भाई आगे बैठकर भी निद्रा लेते हैं।

गुरुदेव सुना रहे हैं अन्तगड, दिन हैं पावन-पर्व पर्युषण के, धर्मारान के, जप-तप-त्याग के पर सूत्र-वाचन करते गुरुदेव को सुनने पड़ते हैं श्रावकों के खर्राटे। वैसे तो बैठेंगे, बात करेंगे तब कहेंगे—“बाबजी ! क्या करें, नींद ही नहीं आती !” पर यहाँ स्थानक में, विशेषकर प्रवचन के समय उन्हें निद्रा घेर ही लेती है। कारण क्या है ? क्या धर्म की शरण में आपको ऐसी शांति मिलती है कि जिन-वचनों के स्थान पर निद्रा आने लगती है ? हो सकता है यही बात हो। यहाँ आते हैं तो घरेलू उलझनें और व्यावसायिक समस्याएँ सभी पीछे छोड़ आते हैं। चाह गई, चिन्ता मिटी-ऐसी जगह आपको यही दिखाई देती है। निश्चिन्त हो सामायिक लेकर बैठ जाते हैं और यह निश्चिन्तता ही शायद आपको ‘निद्रा’ का उपहार दे जाती है।

बंधुओं ! गहन चिन्तन कर दार्शनिक दृष्टि से सोचें तो यह निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। अवसर होते हुए भी या तो रस नहीं आता, अच्छी नहीं लगती, मन को भाती-सुहाती नहीं जिनवाणी या फिर कोई न कोई अन्य अवरोध आ जाता है। यह सब कर्मफल ही तो है। प्रभु ने इन्हीं सब बातों का विचार कर चार परम दुर्लभ में श्रुति को भी स्थान दिया है।

**सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥**

(दशवैकालिक ४/११)

शास्त्र श्रवण करने से पुण्य-पाप दोनों का ज्ञान होता है। पुण्य का फल सुख है और पाप का फल दुःख है। दोनों का फल जानकर जो श्रेयस्कर हो, वह स्वीकार करने की भावना बने तो, आगे का मार्ग प्रशस्त होगा। अतः शास्त्र-श्रवण अवश्य करना चाहिये।

□ तीसरा दुर्लभ अंग-श्रद्धा

आस्था, विश्वास, श्रद्धा अति दुर्लभ है—“सद्धा परम दुल्लहा।” अर्थात् श्रद्धा के लिए सम्यक् दृष्टि चाहिए। दूसरे शब्दों में कहूँ तो सम्यक्त्व ही श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। शास्त्रों को सुनने के अनेक अवसर प्राप्त हो सकते हैं, पर आगम-वाणी पर अटूट प्रतीति का होना अत्यन्त विरला कार्य है।

कितने ही व्यक्ति वीतरागियों की वाणी का श्रवण करते हैं फिर वर्तमान युग से उस समय के कथन की तुलना करते हैं। प्रवचन में बताया—भगवान ऋषभदेव की शरीर-अवगाहना पाँच सौ धनुष। श्रोता ने मन में विचार किया—‘इतनी बड़ी अवगाहना कैसे संभव है ? क्या ये बातें कपोल-कल्पित हैं ?’ हुआ मन में सन्देह और डगमगा गया विश्वास। इसमें दोष किसका ? मराठी के एक जैन कवि का एक अभंग पद याद आता है—

असतां गो-रस एक त्वचा आड,
सांडूनी गोचीड रक्त सेवी।
काय कावल्या सी रुचै मुक्ता-चारा,
सन्मति दातारा दास म्हणे॥

भाव यह कि एक गाय के स्तन पर चिपकी हुई जौंक अमृत-तुल्य दूध न पीकर स्तन का रक्त ही पीती है। ऐसे ही अयोग्य श्रोता सद्गुरु की आगम-वाणी सुनता तो है पर वह जीवन-कल्याणी गुणों को छोड़, जीवन-विनाशी अवगुणों की ओर ही कदम रखता है। हंस ही असली मौक्तिक-फल चुग पाते हैं, कौवे जो होते हैं वे तो विष्टा में ही मुँह मारते हैं—यही बात गुणी व अवगुणी श्रोता के साथ है।

बंधुओं ! एक तरफ तो आज का विज्ञान है और दूसरी तरफ जिन-भगवन्तों का विज्ञान। किसे कहते हैं विज्ञान ? “विशेषेण ज्ञायते इति विज्ञानः।”—अर्थात् जो अपनी अनेक विशिष्टताओं के साथ जाना जाए वही विज्ञान है। सभी विशिष्टताओं के साथ, विशेष रूप से जो जाना जाता है आत्मा के द्वारा वह विशिष्ट ज्ञान है। वैज्ञानिक उपकरणों से आज जो कुछ जाना गया है, वह सब ‘स्थूल’ है, पर सूक्ष्म को कैसे जाना जाए ? जिसे नहीं जाना जा सकता, उनके विषय में जानकारी दे रहे हैं आगम, वे आगम जो वीतराग-प्रभु द्वारा भाषित और गणधरों द्वारा ग्रंथित हैं। मानव को चाहिए कि उन्हें ही प्रमाणरूप में दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार करे, पर ऐसा विश्वास होना ही तो दुर्लभ है।

शास्त्र-श्रवण किया, पर अंतःकरण में शुद्ध श्रद्धा यदि नहीं है तो श्रवण का वह फल नहीं मिलेगा जो मिलना चाहिए।

□ चौथा दुर्लभ अंग-संयम में पुरुषार्थ

शास्त्र-श्रवण के पश्चात् यदि अटूट विश्वास हो, चारित्र-मोह का क्षयोपशम हो गया हो तो जिनवाणी जीवन में उतरेगी ही, यह लगभग निश्चित है, पर श्रद्धा हो और वह श्रद्धा दृढ़ न हो तो वाणी को, नियम और सिद्धान्तों को, व्रत और प्रत्याख्यानों को जीवन में उतारना, व्यवहार में धारण करना अति दुष्कर है। तभी तो प्रभु ने कहा—“परम दुर्लभ है, संयम में पुरुषार्थ करना।” आगम कहते हैं—संसार क्षणिक है, दुःखों का सागर है। एक धर्म ही कल्याणकारी है, संयम ही कष्टों से मुक्ति देने वाला है। पर कितने हैं जो यह जानकर संसार से विरक्त बन संयम धारण करते हैं, संयम धारण कर साधना में पराक्रम फोड़ते हैं ?

राजीमती-रथनेमि

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित संसार से विरक्त बन संयम में पराक्रम दिखाने वाले और मुक्ति पाने वाले महापुरुषों का ‘बड़ी साधु वन्दना’ के प्रारंभिक पदों में गुणगान किया गया है। आज उन्हीं महापुरुषों में प्रभु अरिष्टनेमि के भ्राता रथनेमि का प्रसंग है, जिन्हें महासती राजीमती (सोलह सतियों में से एक) ने उस समय प्रतिबोध दिया था, जब वे संयम-मार्ग से विचलित हो भोग और विषय के गहन-गह्वर में गिरने का विचार बना चुके थे। यह प्रसंग उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्ययन में विस्तार से आया है। गाथा आपने कल के प्रवचन में सुन रखी है, फिर भी पुनः स्मरण कर लेते हैं—

वलि समुद्रपाल मुनि, राजमती रहनेम।

केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुर खेम॥२४॥

राजीमती मथुरा-नरेश उग्रसेन की कन्या थी और रथनेमि समुद्रविजयजी के पुत्र और भगवान अरिष्टनेमि के लघु भ्राता थे।

समुद्रविजयजी के पुत्र सर्वलक्षणयुक्त, महायशस्वी, परम जितेन्द्रिय, अरिष्टनेमि कुमार कृष्ण-कांति वाले थे। वे वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान के धारक थे, एक हजार आठ लक्षण जिनकी देह पर विद्यमान थे। जो जन्म से तीन ज्ञान साथ लेकर धरा पर अवतरित हुए थे। माता शिवादेवी ने जिनके गर्भस्थ होने पर तीर्थकर-चक्रवर्ती धारिणी माता को आने वाले चौदह श्रेष्ठ स्वप्न देखे थे।

समुद्रविजय, वसुदेव सहित दस भाई दस दशार्ह के नाम से जाने जाते थे। वसुदेव के पुत्र बलराम एवं श्रीकृष्ण का विवरण आप सुन चुके हैं। द्वारिका के बारह विशाल निकासी-द्वार थे और दस दशार्ह तथा श्रीकृष्ण व बलराम—ये बारह ही इनके मालिक, रक्षक, सर्वस्व थे। अतः द्वारिका द्वारावती, बारवई आदि नामों से भी जानी जाती थी।

□ वर बने अरिष्टनेमि और वधू थीं राजीमती

अरिष्टनेमि जब तरुण हुए तो उनके लिए श्रीकृष्ण ने मथुरा-नरेश उग्रसेन से उनकी राजकन्या राजीमती की माँग की। उग्रसेन ने माँग को सहर्ष स्वीकार किया और कहा—“आपको मेरी अभिलाषा पूर्ण करनी होगी—कुमार अरिष्टनेमि को वर बनाकर बारात सजाकर यहाँ आना होगा।” सुशील, सुन्दर, मृगलोचनी, शुभ लक्षणा एवं विद्युत-प्रभा की तरह काँतिमती उस राजकन्या को यादव-परिवार में सम्मिलित करने के लिए श्रीकृष्ण ने महाराज उग्रसेन की बात को स्वीकार कर लिया।

□ अरिष्टनेमि की सजी बारात

एक शुभ मुहूर्त में युवराज अरिष्टनेमि पवित्र जल से स्नान कर, दिव्य-वस्त्र युगल धारण कर, आभूषणों से विभूषित हो मणि-मुक्ता सज्जित रथ पर चढ़कर वर राजा बन मथुरा की ओर चले शादी करने राजीमती से। वे दसों दशार्ह से घिरे, छप्पन कोटि यादव कुमारों के साथ, चतुरंगिणी सेना लिए, अनेक प्रकार के मंगल गीतों के समवेत स्वर्णों को पार करते हुए देवराज की तरह शोभा पा रहे थे। उनके साथ के वाद्य-यन्त्रों की कर्णप्रिय ध्वनि दसों दिशाओं में गुञ्जरित हो रही थी। बहुत लम्बी बारात थी, स्थान-स्थान पर देखने वाले नर-नारियों, आबाल-वृद्धों की भीड़ लग गई। कवि ने वर्णन किया है—

**नेमजी की जान बनी भारी, देखण को आए नर-नारी।
जान में घोड़े, रथ, हाथी, मनुज की गिनती नहीं आती॥**

उधर वधू-पक्ष वालों ने भी तैयारी में कोई कमी नहीं रखी। बारात मथुरा के निकट पहुँचने लगी। राजीमती अत्यन्त रूपवती थीं। देवांगनाओं के सौन्दर्य को भी मात करने वाली वह राजकन्या आज तो दुल्हन के रूप में सजी-धजी इन्द्राणी के रूप को भी पीछे छोड़ रही थी।

□ तोरण से प्रभु ने रथ फेरा

बारात ने मथुरा में प्रवेश किया। नगर-प्रवेश के समय कुमार अरिष्टनेमि ने अनेक पशुओं की करुण, भय-मिश्रित, हृदय दहलाने वाली आवाजें सुनीं। नजरें घुमाकर देखा तो अनेक विशाल बाड़ों और सहस्रों पिंजरों में बंद विभिन्न पशु, पक्षी चीत्कार कर रहे थे। दयासिंधु नेमकुंवर ने अपने रथ के सारथि से प्रश्न किया—“क्यों बंधु ! ये इतने सारे पशु इस तरह घेरकर बाड़ों में क्यों बन्द किए गए हैं ? ये इस तरह क्यों चीख रहे हैं—चिल्ला रहे हैं ?”

सारथि ने कहा—“कुमार ! ये मूक और निर्दोष प्राणी आपके विवाह को सम्पन्न कराने हेतु आए हुए बारातियों के भोजन के लिए यहाँ एकत्रित कर बाड़ों में बंद किए गए हैं। सामिष- भोजी राजाओं, राजकुमारों व अन्य बारातियों को इनका माँस भोजन में परोसा जाएगा।”

बंधुओं ! सभी क्षत्रिय थे, राजा-महाराजा थे, पर असंस्कारित थे। वे सभी शूरवीर थे, पर उनकी शूरवीरता का उपयोग पाप-कार्यों में हो रहा था। यदि वे संस्कारित होते तो उनकी शूरवीरता धर्मकार्यों में प्रयुक्त होती और उनके कर्म-काटने में सहायक बन जाती।

करुणा के निधान, भावी तीर्थंकर भला इस हिंसा को कैसे होने देते ? उनके मन में अनुकंपा की सहस्रों धाराएँ प्रस्फुटित हो उठीं। उनके रोम-रोम में करुणा के झरने बहने लगे। विचार किया—‘जिस विवाह में इतने मूक-निर्दोष प्राणियों का वध किया जाय, वह विवाह कभी मंगलकारी नहीं बन सकता। मुझे इस हिंसा के ताण्डव को रोकना चाहिए, इन पशुओं को अभय देना चाहिए। मुझे ऐसा विवाह कदापि नहीं करना चाहिए। कुमार ने तब सारथि से कहा—“भैया ! नीचे उतरकर इन सभी बाड़ों के द्वार खोल दो और भयभीत इन पशुओं, पक्षियों को अभय कर स्वतंत्र घूमने के लिए आजाद कर दो, तब आकर इस रथ को मथुरा से पुनः द्वारिका की ओर लौटा दो।” सारथि ने कुमार के आदेशानुसार सभी को मुक्त किया। बाड़ों, पिंजरों के द्वारों को खुलवा दिया। सभी प्राणियों ने हर्षनाद करते हुए वन, पर्वतों की राह ली। उन सभी को हर्ष किल्लोल करते देख दयामूर्ति कुमार ने सारथि को स्वर्णाभूषण से पुरस्कृत किया।

□ बिन ब्याह बारात लौटी : तीर्थकर नेमि मुक्ति के पथ पर

आदेश पाकर सारथि ने रथ को पुनः द्वारिका के पथ की ओर घुमाया। अब रथ चल रहा था—द्वारिका की ओर। दूल्हे के रथ को द्वारिका की ओर मुड़कर वापस लौटते देख समस्त यादव आश्चर्य में थे। पूर्ण घटना ज्ञात होने पर सारी बारात भी पुनः द्वारिका लौट आई। कुमार अरिष्टनेमि ने सभी से संसार-विरक्ति की बात कही। उचित समय जान लोकांतिक देवों ने प्रभु से निष्क्रमण की प्रार्थना की। प्रभु ने भी पारिवारिक जनों के सम्मुख दीक्षा की भावना प्रकट कर दी। सभी ने बहुत समझाया, पर प्रभु ने दृढ़तापूर्वक विवाह न कर मुक्ति के पथ पर चलने का अटल निश्चय बता दिया।

महाराज उग्रसेन को भी समस्त घटना की सूचना दी गई तो उनके होश उड़ गए। वे तुरंत सुसज्जित रथ पर आरूढ़ हो अनेक स्वजन-परिजनों के साथ द्वारिका पहुँचे। उन्होंने भी कुमार को बहुत समझाया, पर प्रभु को तो जगत् कल्याण हेतु संयम लेना ही था, वे तो तीर्थकर बनने वाले थे। अंत में उग्रसेन आदि सहस्रों राजा-महाराजाओं ने माँसाहार-त्याग का एवं शिकार न खेलने का दृढ़ संकल्प लिया।

□ अर्हत् अरिष्टनेमि का दीक्षा-पूर्व वर्षीदान

तीर्थकरों की दीक्षा के पूर्व वर्षीदान का जीत-कल्प है—जैनागमों में। प्रभु ने भी उस कल्प का निर्वहन करते हुए एक वर्ष तक नित्य १ करोड़ ८ लाख सौनेयों का मुक्त-हस्त से याचकों को हीरे, पन्ने, माणिक, मुक्ताओं के साथ दान दिया। तीर्थकर दीक्षा से पूर्व जब वर्षीदान देते हैं तो स्वयं कुबेर उनके दान हेतु अपार धनराशि लाकर प्रस्तुत करता है। कुबेर यह धनराशि पृथ्वी से निकालता है। पृथ्वी में गाड़ी हुई, दबाई हुई, दफन की हुई यह राशि ऐसी होती है, जिसे दफन करने के पश्चात् सौ पीढ़ी तक जिसका कोई मालिक न रहा हो।

□ जैन-विरह साहित्य की एक मात्र मणि-राजीमती

राजीमती तक भी बारात वापस लौटने व कुमार के दीक्षा लेने सम्बन्धी विचार की बात पहुँचती है। वह विरह-विक्षिप्त बन उन्मत्त होकर मन ही मन प्रलाप प्रकट करती है जिसमें कभी कुमार से अनेक तरह से विवाह की याचना करती है, कभी

विवाह न होने पर नारी की दुर्दशा की बात कहती है, कभी अपने प्रेम की बात कहती है, कभी पूर्वभव के आठ-आठ सम्बन्धों की बात कहती है, पर नेमकुंवर आत्म-कल्याण के विचारों पर स्थिर रहते हैं। उधर एक वर्ष तक कुमार वर्षीदान देते हैं, इधर वर्ष के बारह महीनों में प्रत्येक माह राजीमती अपनी विरह स्थिति बताते हुए उन्हें पुनः भोग-मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। राजीमती की उस विरह-दशा में निकले उद्गारों को अनेक कवियों, गीतकारों, संगीत-प्रेमियों ने गीतों में ढाला है। अपनी स्वयं की दीक्षा से पूर्व मैंने भी गुरुदेव श्री पार्श्वचन्द्रजी म. सा. के कृपापूर्ण सहयोग से प्रयत्न किया था। बारहमासा-विरह गीत बनाने का, जिसकी कुछ पंक्तियाँ आप भी सुन लीजिए—

श्रावण मास

(राग : तावड़ा धीमो सो पड़जा रे.....)

आलीजा पाछा अब आओ। आलीजा.....
 तुम दर्शन मुझ चावना सरे, आगा मत जाओ ॥आ. ॥
 नेम नगीनो नवरस भीनो, राजल रो सिरमौर, सहेली राजुल....
 अध परणी क्यूं छोड़ी सायब, करे पपैयो शोर ॥आ. ॥१ ॥
 सखी सहेली हंसी उड़ावे, इसो काई भरतार, सायिबा.....
 बिन परण्या जो पाछा जावे, हो गई मैं बेजार ॥आ. ॥२ ॥
 जादव कुल पर मेंगी लागसी, जिण पर ध्यान दिराय, सायिबा.....
 जोबन रो थे सुख भोगलो, पाछे जोग लिराय ॥आ. ॥३ ॥

भाद्रपद मास

(राग : पिणियारी.....)

प्रीत पुराणी क्यूं तोड़ दी हो, व्हाला नेमकुमार ॥ व्हा. नेम....
 जोऊ बाटड़ली पल-पल वार, पार उतार ॥ जो. पा. ॥ टेर ॥
 मांगूं सेवा प्रभु आपरी हो, म्हारा आली जा भरतार।
 ओ! दियो है पल्लो जी पसार, पार उतार ॥ ओ. पा. ॥१ ॥

धन दौलत नहीं मांगूं हो, रेहसूं चरणा रे मांय ।
 और न आवे म्हारे दाय, पार उतार ॥ ओ. पा. ॥२॥
 खान पान खारा लागे हो, म्हारी वैरण होगी नींद ।
 तोरण आया क्यूं बण वीन्द, पार उतार ॥ तो. पा. ॥३॥
 बरस ज्यूं वीते दिन मांहरो जी, आतो घड़ी रे छहमास ।
 तुम बिन मनड़ो उदास, पार उतार ॥ तुम. पा. ॥४॥
 साख जादव की डूबसी जी, जिण पर करो नी बिचार ।
 थे सुणो नी कान उघाड़, पार उतार ॥ थे. पा. ॥५॥

आश्विन मास

(राग : केसरियो हजारी गुल रो फूल.....)

सांवरिया जोऊ मैं ऊभी वाट, ठाट थांरी जाऽऽन रो ।
 सांवरिया जाऊंजी बलिहार, ठाट थांरी जाऽऽन रो ॥टेर ॥
 हांऽ और न आवे म्हारे दाय, भ्रात सम जाऽऽण जो ।
 हांऽ छोडूला नहीं थाने नाथ! बात सांची माऽऽन जो ॥
 हांऽऽ नरभव रो ल्हावो पेली लेय, मुगति में पाछे जाऽऽवणो ।
 हांऽऽ क्यूं ठाठ बिगाड्यो आंगण आय, वैर्याने नीं हर खाऽऽवणो ।
 हांऽऽऽ बिगाड्यो नहीं अब तांय, रथड़ा ने पाछो लावऽऽऽणो ।
 हांऽऽ छोडू नहीं थाने नाथ, बात सांची मानऽऽणो ।

कार्तिक मास

(राग : एक बार आओ जी जंवाई राज पावणा.....)

तीखी आ कटारी बालम, कालजे मत मार ।
 सुणो! सुणो हो!...२ म्हारा नेमिकुमार, क्यूं छिटकावों जी ॥ टेर ॥
 मुक्ति रा लोभी बण, म्हांसु मांडी हो तकरार,
 नहीं जासुं...२, ओर की लार, क्यूं छिटकावों जी ॥१॥

इतरा भवां में साथे रही तो, अब नहीं रहसूं दूर।
 मती बणो...२, थे इतरा क्रूर, क्यूं छिटकावों जी ॥२॥
 प्रीत-रीत रो मारग जाणूं, कहो तो दूं बतलाय।
 मत ताणो...२ बालम थे बात, क्यूं छिटकाओ जी ॥ टेरे ॥
 कामभोग सूं दुनियां चाले, निपज्यो है संसार।
 सकल होवे...२ ओ ही व्यवहार, क्यूं छिटकाओ जी ॥ टेरे ॥

मार्गशीर्ष मास

(राग : म्हारी हथेल्यां रे बीच.....)

म्हारी मेहंदङ्गली रो रंग, बिरंगो होग्यो हो SSS पिया जी,
 होग्यो हो पिया जी,
 उत्तर तो दो आछो, लावो रथड़ो पाछो ॥ टेरे ॥
 छप्पन कोटि जादव देखो, थांणी जान में आया।
 रथड़ो गिरनारयां में मोड्यो, किणरे थें भरमाया ॥
 नवभव री जोड़ी तोड़ी, कीकर जावे पिया जी,
 कीकर जावे पिया जी,
 उत्तर तो दो आछो, लावो रथड़ो पाछो ॥म्हारी.....

पौष मास

(तर्ज: चिरमी

समुद्रविजय सुत शिवा दे नंदा।
 जाण लिया थारा सब फंदा।
 मत जादव जान लजाय, हिवड़े तुम तोलो।
 ओ अवसर बीत्यो जाय, काईक मुख बोलो ॥ टेरे ॥
 इण सुख ने क्यूं ठेकर मारो।
 उण सुख रो हे काई पतियारो।
 मत लम्बी बात तणाय, हिवड़े तुम तोलो।
 ओ अवसर..... ॥

माघ मास

(तर्ज: कोरो काजलिया)

म्हारा नेम रंगीला भरतार, हिया में वसिया हो ।
 मत म्हानें थूं छिटकाय, हिया में वसिया हो ॥
 तुम बिन कुछ ना चावना,
 रह सू संग आ भावना,
 हां तन, मन दोन्यूं वार, रंगीला रसिया हो ॥

फाल्गुन मास

(तर्ज: आउवो ने आसोप.....)

पाछा फिरता बालम थें तो, आछा कोनी लागो हो ।
 भाणे आयी छोड़ क्यूं, गिरनार्या भागो हो ॥
 बोल मान लो हां ओ बोल मान लो.....
 बोल रो तो तोल जाण लो ॥ बोल.....
 संजम लेवण पेली व्हाला, नरभव रो सुख पाणों हो ।
 ढलती उमर आवतां, शिवपुर मां चालां हो ॥
 बोल मान लो हां ओ बोल मान लो.....

चैत्र मास

(तर्ज: घूमर की.....)

म्हारी अरजी थांने सुणासूं म्हारा नेम SSS ।
 चरण कमल सूं लिपट रहूंली, व्हाला चरण..... ॥
 बिन परण्या जो पाछा जासो, हंसी होवेला सब री ।
 उभी उडीक रही हूं कब री, म्हारा नेम..... ॥
 गुन्हो म्हारो चवड़े कर दो, मन भाव मत राखो ।
 जैसी होवे झटपट भाखो, म्हारा नेम.....

रूठां पाछे तूठ जावे तो, वरसे इमरत मेह।
 थांसू तोड्यो टूटे नहीं नेह, म्हारा नेम..... ॥
 मिनखा री तो दया न आवे, पशु पंख्या सूं राजी।
 इण सूं अधिको कहती लाजी, म्हारा नेम..... ॥

वैशाख मास

(तर्ज: ब्याव बिनणी बिलखू.....)

ब्याव करण ने, न्याव करण ने, नेम नगीना आओ जी।
 राजुल की अरदास, एकर, पाछा वेगा आओ जी ॥ टेरी ॥
 पशुआं री पुकार सुणीजद, थांरो हिवडो डोल गयो,
 अबला राजुल आरत करे है, जिण पर नहीं थे ध्यान दियो,
 फूल छोड़ ने, शूल दीवी है, उण ने काढ़ण आओ जी... ॥
 अनंत जन्म ब्याव किया है, याद आपने कियां रह्या।
 पशुवां रो तो न्याव करोला, राजुल ने क्यूं भूल गया।
 भूल मिटावण शूल निवारण, पाछा जलदी आओ जी ॥

ज्येष्ठ मास

(राग : ख्याल री...)

अब मान मिजाजी, थांने समझावे राजुल नार जी।
 झट मान रंगीला, छोड़ हरगिज नहीं थांरी लार जी ॥ टेरे ॥
 हाथ जोड़ अर करूँ विनति, अवसर रे अनुसार।
 भर हुंकारो, कर मन चायो, म्हारा आलीजा भरतार ॥ झट...
 हाथ झेलता लाज आवे तो, थे किम करसों साथ।
 अध बीच में तो छोड़ रह्या, फिर झूठी बणावो बात जी ॥ म्हारी...
 छतां सुखां ने छोड़ रह्या क्यूं, मन में करो विचार।
 मुगति री तो आस में सरे, इण सुख ने मत हार ॥ म्हारी...

आषाढ मास

(तर्ज: कांई रे गुमान करे)

- राजुल— कांई रे विचार कर्यो इतरो ।
तो रंच न राखो म्हारो खतरो ॥ कांई रे.....
तुम सूं पेली कर्म खपासूं ।
तो सात सौ सहेली संग तपासूं ॥ कांई रे.....
- नेम— कांई रे शाबासी देवूं इतरी ।
तो सोने रा मेरु पर्वत जितरी ॥ कांई रे.....
सात सौ सहेली संग पेली जासो ।
तो अनहद आनंद थें पासो ॥ कांई रे.....
- राजुल— भोगांरी अब नीं मांग करूंला ।
तो संजम ही में चित्त धरूंला ॥ कांई रे.....
- नेम— सांचो ही प्रेम निभायो थें तो ।
तो इण हीज रीते सबही चेतो ॥ कांई रे.....

□ दोनों बने दीक्षित

बंधुओं ! एक तरफ विरह, एक तरफ वर्षादान। प्रभु ने वर्षादान के पश्चात् एक हजार पुरुषों के साथ दीक्षा ली, स्वयं पंचमुष्टि केशलुंचन किया और राग-द्वेष को नष्ट करने की साधना करने लगे। भगवान के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के बाद राजीमती ने भी भोग और वासना के संसार को तिलांजलि देकर सात सौ श्रेष्ठ नारियों, कुमारिकाओं के साथ दीक्षा धारण की।

□ कामेच्छु श्रमण रथनेमि का राजीमती श्रमणी से काम-निवेदन

एक बार रैवतकगिरि पर्वत पर विराजमान भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ साध्वी राजीमती साध्वी समुदाय के साथ खाना हुई। मार्ग में अचानक बादलों की घनघोर

नोट:— नेम-राजुल का बारह मासिया सम्पूर्ण चौंसठ सती सज्जाय-प्रवचन भाग-२ में देखें।

घटाओं से अंधकार हो गया तथा तेज वर्षा होने लगी। वर्षा के सचित्त जल से बचने के लिए सभी साध्वियाँ इधर-उधर राह भटक गईं। राजीमती ने भी एक पर्वत गुफा को निर्जन जान उसमें शरण ली और अपने भीगे हुए वस्त्रों को सुखाने लगीं।

उस गुफा में श्रमण रथनेमि पहले से ध्यानस्थ थे। रथनेमि अर्हत् अरिष्टनेमि के लघु भ्राता थे। अरिष्टनेमि के दीक्षा लेने का विचार आने पर रथनेमि ने राजीमती की अपने लिए माँग की थी, जिसे राजीमती ने ठुकरा दिया। कालान्तर में राजीमती ने और रथनेमि ने भी दीक्षा अंगीकार कर ली थी।

मेघ गर्जना एवं विद्युत्-प्रभा से ध्यान टूटने पर रथनेमि ने राजीमती को निर्वस्त्र तथा उसके वस्त्रों को निकट ही फैले हुए देखा। निर्वसन राजुल के शरीर की काँति और सुरभि से रथनेमि का चित्त चंचल हो गया। उनके भीतर काम-विकार जाग्रत हो गया। उनका संयम डगमगा गया।

इधर विद्युत् प्रकाश से राजुल ने भी पुरुष के आकार को देखा। वह भयभीत, लज्जित और शंकाकुल हो, दोनों भुजाओं से अपने निर्वसन अंगों को अधिकतम शक्य हो वैसा ढकते हुए, काँपते हुए नीचे उकडू आसन से बैठ गईं।

काम-प्रवाह में बहते रथनेमि ने तब कहा—“हे भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ, तुम्हें मुझे से भयभीत होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। अरिष्टनेमि द्वारा त्यागे जाने पर मैंने ही तुम्हारी कामना की थी, पर तब तुमने इनकार कर दिया था।

हे सुन्दरी ! आज यहाँ एकान्त में हमें कोई देखने वाला नहीं है। अतः मेरे साथ भोग भोगने में तुम्हें कोई संकोच नहीं करना चाहिए।

हे मोहिनी ! यह मानव-भव अत्यन्त दुर्लभ है, यह अवसर भी अत्यन्त अनुकूल है। आओ ! पहले हम दोनों भोग भोगें। भुक्तभोगी बनने के पश्चात् हम पुनः संयम-मार्ग पर चलेंगे।

हे कनकवदना ! निश्चिन्त रहकर मुझे स्वीकार करो। मुझे सेवन कर तुम्हें किसी प्रकार का दुःख, कष्ट, पीड़ा का अनुभव नहीं होगा।”

**रहनेमी अहं भद्रे ! सुरूवे ! चारुभासिणी।
ममं भयाहि सुयणु, न ते पीला भविस्सई।**

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्सिमो॥

(उत्तराध्ययन २२/३७-३८)

□ अगंधन कुल का विषधर वमित विष पुनः ग्रहण नहीं करता

‘यह मेरे पति का भ्राता, अर्थात् देवर रथनेमि है, क्षत्रियवंश का है, शूरवीर है, पर संयम से डगमगा गया है, चित्त भंग हो गया है, स्त्री-परीषह से पराजित हो गया है। उत्तम कुल के उत्तम नरों को गिरने से बचाना कोई मुश्किल कार्य नहीं है।’ यही चिन्तन करते हुए साध्वी राजीमती निर्भीक हो अपने वस्त्र एकत्र कर शरीर पर धारण करने लगीं। अंग-प्रत्यंगों को ढक लेने के पश्चात् वह शीलवती संयमी राजकन्या स्थिर स्वर में रथनेमि से कहने लगी—

अहं च भोयरायस्स, तं च सि अंधगवणिहणो।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर॥

“मैं भोजराज वंश के उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम अंधकवृष्णि वंश के समुद्रविजय के पुत्र हो। हमें गन्धन कुल के सर्प समान नहीं होना चाहिए जो वमन किए हुए विष को पुनः ग्रहण कर लेता है। हमारा कुल तो अगन्धन कुल के सर्प की भाँति है जो जाज्वल्यमान अग्नि में गिरना स्वीकार कर लेते हैं, पर वमन किए विष को पुनः ग्रहण करना स्वीकार नहीं करते।

तुम यदि रूप में वैश्रमण और लीला विलास में नलकुबेर अथवा फिर साक्षात् इन्द्र भी हो तो भी मैं तुम्हें नहीं चाहती।

हे अपयशकामी ! तुम्हें धिक्कार है जो तुम इस तरह असंयमी जीवन के लिए, वमन किए हुए भोगों को पुनः भोगना चाहते हो। इससे तो तुम्हारा मर जाना ही श्रेयस्कर है। अतः अपने उत्तम कुल का विचार कर पुनः संयम में स्थिर बनो, निश्चल हो संयम का पालन करो।”

□ श्रमण रथनेमि पुनः संयम में सुस्थिर हुए

रथनेमि ने संयमशीला उस सती राजीमती के इन उत्तम सुभाषित वचनों को सुना। तब उसे अपने पतन पर पश्चात्ताप हुआ। उसने अंकुश लगे हुए हाथी की भाँति अपने

चंचल मन को, काम-भावों को, अस्थिर होते संयम को पुनः वश में किया और धर्म में सुस्थिर बन गया।

□ राजीमती-रथनेमि दोनों बने सिद्धगति के अधिकारी

बंधुओं ! धार्मिक क्षेत्र में नारी की तेजस्विता का यह ज्वलंत उदाहरण है। रथनेमि के धर्म में सुस्थिर हो जाने के पश्चात् वे दोनों कषाय-जयी बने, इन्द्रिय-जीत बने, अप्रमत्त बने, त्रिगुप्तियों से गुप्त और त्रियोगों को वश में कर निरतिचार श्रमणधर्म का पालन करते हुए उन दोनों ने उग्र तपश्चरण किया। घातिकर्मों को काटकर केवलज्ञानी बने तथा सभी कर्मों का क्षय कर सिद्धगति को प्राप्त हुए।

आनंद ही आनंद !



विनयी का नमन विनयी को

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सहहे।
चरित्तेण निगिणहाइ, तवेण परिसुञ्जई॥

(उत्तराध्ययन २८/३५)

आत्म-बंधुओं !

वीतराग वाणी जीवनोपयोगी, आत्म-कल्याण की शिक्षा देने वाली, भवसागर से तिराने का पथ बताने वाली है। वर्तमान में यह जिनवाणी जैनागमों के रूप में हमारे सामने समय-समय पर बोध प्रदान करती है। उत्तराध्ययनसूत्र में मुमुक्षुओं को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि 'नाणेण जाणइ भावे' अर्थात् आत्म-ज्ञान से जो जीवादि पदार्थों को द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा से सम्यक् प्रकार जानता है, और 'दंसणेण य सहहे' सम्यग्दर्शन से उन पर यथार्थ श्रद्धा करता है, 'चरित्तेण निगिणहाइ' सम्यक् चारित्र के द्वारा नवीन आते हुए और आत्मा के साथ बँधते हुए कर्मों का संवर-निरोध करता है तथा 'तवेण परिसुञ्जई' तप से पूर्व संचित कर्म-पुद्गलों की आत्यन्तिक निर्जरा-क्षय करता है वह साधक मोक्ष-निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

ज्ञान से जानने पर दर्शन से श्रद्धा होती है। लेकिन कौन-से ज्ञान द्वारा जानना यह प्रश्न आपके सामने उपस्थित होगा। आचारांगसूत्र में समाधान देते हुए कहा गया है—

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए॥

(आचारांग १/५/५/१७१)

अर्थात् जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मा के द्वारा जो जाना जाता है, उस पर यथार्थ श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन है। इससे स्पष्ट होता है कि जानने वाली मात्र आत्मा ही है। आत्मा यथार्थ जानती है तो वह ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है और भ्रान्त जानती है तो वह अज्ञान (मिथ्याज्ञान) है। जो मिथ्याज्ञान है उसमें संशय विभ्रम विपर्यय रहता है। इसीलिए सम्यग्ज्ञान का व्यावहारिक लक्षण बताते हुए कहा गया—

संशय-विभ्रम-विपर्ययविरहितं, ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति।

- संशय का आशय—सामान्य रूप से अनेक वस्तुओं में घूमता हुआ अनिश्चित ज्ञान।
- विभ्रम का आशय—जिसमें कोई निश्चय न हो सके, 'कुछ है' इतना ही बोध हो, वह 'विभ्रम' है। जैसे पाँव में कोई चीज चुभ गई, किन्तु यह निश्चय न हो सके कि वह नुकीला कंकर था, काँच का टुकड़ा था, अथवा किसी काँटे की नोक थी।
- विपर्यय का आशय—अँधेरे में रस्सी को साँप या साँप को रस्सी अथवा चाँदी को सीप या सीप को चाँदी समझ लेना 'विपर्यय' ज्ञान है।
अज्ञान के ये तीनों दोष सम्यग्ज्ञान में नहीं होते। इसीलिए यह कहा गया है—

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सहहे।

अर्थात् ज्ञान से भावों को (पदार्थों को) जानकर दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है।

आत्मा के उस सम्यग्ज्ञान को प्रकट करना आसान नहीं है। आत्मा में ज्ञान है, पर वह आवृत्त है, आच्छादित है, उसे प्रकट करेंगे तभी जानेंगे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को और साथ ही मोह का आवरण ज्ञान को मिथ्या बनाये बैठा है, आत्म पुरुषार्थ से जब मोहावरण को कम करेंगे तब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने पर यथार्थ श्रद्धान् होगा, सम्यग्दर्शन होगा।

- स्वाध्याय से प्रकट होता है आत्म-ज्ञान

स्व में रमण करना स्वाध्याय है। उस स्व के ऊपर ज्ञानावरणादि कर्मों की परतें चढ़ी हुई हैं। जब तक वे परतें दूर नहीं होंगी, तब तक स्व का अध्ययन नहीं कर सकते। परतों को दूर करने के लिए एवं उस 'स्व' का ज्ञान करने के लिए जिनवाणीरूपी

स्वाध्याय का आलम्बन लिया जाता है। जितना अधिक आगम का स्वाध्याय होगा, उतना ही आत्म-ज्ञान प्रकट होगा; संशय, भ्रम, विपर्यय दूर हटेंगे।

जिस ज्ञान में संशय, भ्रम, विपर्यय नहीं रहेगा, वही सम्यग्ज्ञान होगा। वही ज्ञान सम्यक् चारित्र की ओर अग्रसर करेगा। वही ज्ञान सम्यक् तप को आचरण में लाने में सहायक बनेगा।

आगम-स्वाध्याय से साधक किसी भी पदार्थ (तत्त्व) को भलीभाँति द्रव्य-दृष्टि और पर्याय-दृष्टि से जानकर श्रद्धान् कर लेता है। इसी प्रक्रिया का नाम सम्यग्दर्शन है।

ठाणांगसूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार से होता है—

सम्मदंसणे दुविहे पणत्ते, तं जहा—

णिसग्ग सम्मदंसणे चेव, अभिगम सम्मदंसणे चेव।

(ठाणांगसूत्र, ठाणा २, उ. १, सू. २३)

(१) निसर्गज सम्यग्दर्शन और (२) अभिगमज सम्यग्दर्शन।

निसर्गज का अर्थ है जीव के आन्तरिक परिणाम से उत्पन्न सम्यग्दर्शन। इसमें गुरु आदि बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती तथा अधिगमज सम्यक्त्व किसी दूसरे का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। वैसे दोनों प्रकार के सम्यक्त्व में अन्तरंग कारण तो समान हैं, दोनों में ही 'दर्शन सप्तक' का क्षय, क्षयोपक्षम अथवा उपशम होता है। किन्तु अन्तर है केवल परनिमित्त निरपेक्षता और सापेक्षता का। निसर्गज सम्यक्त्व में बाहरी निमित्त नहीं पड़ता, जबकि अधिगमज सम्यक्त्व में बाहरी निमित्त यथा गुरु-उपदेश, आगम-श्रवण, स्वाध्याय आदि पड़ता है।

इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा यों समझा जा सकता है कि जिस प्रकार नदी में बहता हुआ नुकीला पत्थर रगड़ खाते-खाते स्वयं गोल हो जाता है, उसी प्रकार अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी संसार के अनेकविध कष्ट और संकट भोगते हुए ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि स्वयं ही उसके परिणाम सम्यक्त्व-प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं और बिना किसी उपदेश के ही उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

किन्तु यह जिज्ञासा प्रबल रूप से उठती है कि जिस जीव ने अनादिकाल से आत्मा, पुद्गल, पुण्य-पाप आदि शब्द सुने ही नहीं, वह आत्मा के स्वभाव को, स्वरूप को कैसे जानेगा ? कैसे उस पर श्रद्धा करेगा ? अरिहंत, सिद्ध, साधु, धर्म-अधर्म कुछ भी तो नहीं सुना उसने।

इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है—

‘भेदः साक्षादसाक्षाच्च।’ अर्थात् निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में परोपदेश की अपेक्षा भेद केवल साक्षात् और असाक्षात् का है।

इसका भाव यह है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के समय तो देशना-धर्मोपदेश नहीं मिलता; किन्तु पहले कभी-किसी पूर्वजन्म में तो उसे धर्मोपदेश प्राप्त हो चुका है। यह बात दूसरी है कि उसने उस समय सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया और अब, जबकि साक्षात् गुरु से धर्म का उपदेश न सुनकर, किन्तु पहले सुने हुए धर्मोपदेश के संस्कारों के प्रभाववश, स्वयं ही अपने परिणाम से, निसर्ग रूप में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाय, यही निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

‘भेदः साक्षादसाक्षाच्च’ का हार्द इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायेगा—

एक प्रौढ़ व्यक्ति है, ५० वर्ष की आयु है, उसके दाँत में या दाढ़ में दर्द हो रहा है, असह्य दर्द है, तड़प रहा है, बहुत दुःखी है। मन में एक ही इच्छा है, किसी तरह दर्द मिटे, चैन आये, शांति मिले।

वेदना की तीव्रता ने उसके मन-बुद्धि को झकझोर दिया, नाड़ी संस्थान को उद्वेलित कर दिया, चेतना का प्रवाह पीछे की ओर चलने लगा बड़े तीव्र वेग से। अचानक ही उसके मस्तिष्क में कौंधा—जब मैं दस वर्ष का था, तब भी दाढ़ में ऐसा ही दर्द हुआ था। पिता ने लौंग का तेल लगा दिया था, दर्द ठीक हो गया था।

उपाय मिल गया, उसका दर्द ठीक हो गया।

इस समय उसके पिता भी नहीं हैं, वैद्य-डॉक्टर भी नहीं हैं, कोई सलाह देने वाला भी नहीं है, उसे नैसर्गिक रूप से ४० साल पहले की घटना याद आ गई, उसके दाँत का दर्द मिट गया।

इसी प्रकार ४ या ४० लाख अथवा कितने ही जन्म पहले उसने किसी सद्गुरुदेव से, तीर्थंकर से धर्म का, आत्मा का स्वरूप सुना किन्तु उस समय ग्रहण नहीं किया, धर्म का स्पर्श नहीं हुआ। फिर किसी निमित्त से हजारों-लाखों जन्मों के बाद भी वह धर्म-संदेश आत्मा में स्वयं ही नैसर्गिक रूप से उभर आया—ठीक उसी प्रकार जैसे सोमिल के हृदय में श्मशान में ध्यानस्थ मुनि गजसुकुमाल के प्रति ६६ लाख भव पहले के वैरबंध के कारण क्रोध की ज्वाला धधक उठी थी।

बस, यही साक्षात्-असाक्षात् धर्मोपदेश का रहस्य है। इसी प्रकार नैसर्गिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

अधिगमज सम्यग्दर्शन में साक्षात् गुरु आदि का सत्संग प्राप्त होते ही जीव को अपने स्वरूप का भान होते-होते सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

□ सम्यक्त्व-प्राप्ति की प्रक्रिया

जैन ग्रन्थों में विस्तार से सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया समझाई गई है। इसके अनुसार, सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियों का होना आवश्यक है—

(१) क्षयोपशमलब्धि—अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते-करते किसी आत्मा को किसी समय ऐसा योग मिलता है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग (रस) को समय-समय में अनंतगुणा घटाता-घटाता वह क्रम से ऊपर आता है, तब 'क्षयोपशमलब्धि' की प्राप्ति होती है।

(२) विशुद्धिलब्धि—क्षयोपशमलब्धि के प्रभाव से अशुभ कर्मों का रसोदय घटता है। उसमें संक्लेश परिणामों की हानि होती है और विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होती है, वह 'विशुद्धिलब्धि' है।

(३) देशनालब्धि—विशुद्धिलब्धि के प्रभाव से आचार्यादि की वाणी सुनने की अभिलाषा जागृत होना, सत्संग करना, ज्ञान प्राप्त करना 'देशनालब्धि' है।

(४) प्रायोग्यलब्धि—उपर्युक्त ३ लब्धियों से युक्त जीव विशुद्धता की वृद्धि करता हुआ आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति को अंतःक्रोडाक्रोडी सागरोपम करे। घाती कर्मों के अनुभाग को जो पर्वत के समान कठिन है, उसको काष्ठ लता रूप

और अघाती कर्मों के अनुभाग को जो हलाहल विष के समान है, उसे नीमकांजी के समान करने की योग्यता प्राप्त करे वह 'प्रायोग्यलब्धि' है।

(५) **करणलब्धि**—जीव के परिणाम को करण कहते हैं। यह करणलब्धि प्रयोग लब्धि के समय आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों की जो अंतःक्रोडाक्रोडी सागरोपम की स्थिति रखी थी उसमें ७००-८०० सागरोपम स्थिति कम हो जाय तब करणलब्धि होती है। करणलब्धि के ३ भेद हैं—(१) यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण, और (३) अनिवृत्तिकरण। ये तीनों करण विशिष्ट निर्जरा के साधनभूत विशुद्ध परिणाम हैं।

(१) **यथाप्रवृत्तिकरण**—इस करण में ये ४ बातें अवश्य होती हैं—(१) प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता की वृद्धि, (२) प्रतिसमय घटता-घटता स्थितिबंध, (३) साता वेदनीयादि प्रशस्त प्रकृतियों का समय-समय वृद्धि पाता हुआ गुड़, शक्कर, मिसरी और अमृत के समान चतुस्थानिक अनुभाग बंध, (४) असाता वेदनीयादि अप्रशस्त प्रकृतियों का अनंत गुणा घटता हुआ नीमकांजी के समान अनुभाग।

यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव राग-द्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे भेद नहीं सकता। इसको ग्रंथिदेश प्राप्ति कहते हैं।

(२) **अपूर्वकरण**—इसमें जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़कर आगे बढ़ता है। ऐसे परिणाम पूर्वकाल में न होने के कारण इसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें ये ४ बातें होती हैं—(१) **स्थितिघात**—उत्कृष्ट अनेक सागरोपम प्रमाण जघन्य पल्योपम का संख्यात भाग प्रमाण स्थिति खंड का अंतर्मुहूर्त काल में घात करना स्थितिघात है। (२) **रसघात**—अशुभ कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को मंद कर देना रसघात है। (३) **गुणश्रेणी**—जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया, उनको उदय समय से अंतर्मुहूर्त में स्थापित करना गुणश्रेणी है। (४) **अपूर्व स्थितिबंध**—पहले की अपेक्षा अत्यल्प स्थिति के कर्मों को बाँधना अपूर्व स्थितिबंध है।

(३) **अनिवृत्तिकरण**—इस करण को प्राप्त करने के पश्चात् जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बगैर वापस नहीं लौटता। इस करण में अपूर्वकरण की तरह स्थितिघातादि ४ बातें होती हैं। ५वाँ होता है गुणसंक्रमण।

इस करण में जीव अंतरकरण करता है। अंतरकरण अर्थात् अंतर्मुहूर्त्त जितने समयों में से मिथ्यात्व के दलिकों को उठाकर आगे-पीछे कर दिया जाता है, जिससे अंतरकरण के अंतर्मुहूर्त्त काल तक वहाँ पर मिथ्यात्व के दलिक नहीं रहते। आगे की प्रथम स्थिति और पीछे की द्वितीय स्थिति कहलाती है। प्रथम स्थिति उदय द्वारा भोग ली जाती है, तब जीव अंतरकरण में प्रवेश करता है, वहाँ पर मिथ्यात्व के दलिक नहीं होने से जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

अंतरकरण के प्रथम समय से सम्यक्त्व गुण प्राप्त होने पर गुणसंक्रमण होता है। गुणसंक्रमण अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय को मिश्र मोहनीय मोहनीय रूप बनाना और मिश्र मोहनीय को सम्यक्त्व मोहनीय रूप बनाना।

दर्शनमोहनीय की ३ प्रकृतियाँ—(१) मिथ्यात्व मोहनीय, (२) मिश्र मोहनीय और (३) सम्यक्त्व मोहनीय तथा अनन्तानुबंधी कषाय की चार—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, और (४) लोभ; कुल ७ प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, इन ७ प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और ७ के क्षयोपशम से जीव को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव का स्वाभाविक गुण अभिव्यक्त होता है। मिथ्यात्व का महारोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे भयंकर रोग के रोगी को स्वस्थ होने पर आता है। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव को आगम तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है।

□ सम्यग्दर्शन की विशुद्धि

सम्यग्दर्शन मोक्ष का मूल है। इसी के माध्यम से ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् होते हैं तथा मोक्ष के साधनभूत उपाय बनते हैं। अतः निर्दोष अथवा विशुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप भलीभाँति जान लेना आवश्यक है।

□ सम्यक्त्व के आठ अंग

शंकादि दोषों के विपरीत सम्यक्त्व के आठ अंग भी माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मैल निकल जाने से वस्त्र में उज्ज्वलता या सफेदी आती है और उससे शुभ्रता-चमक बढ़ जाती है, उसी प्रकार दोषों के निकल जाने से सम्यक्त्व में जो

विशुद्धि आती है, वह आठ गुणों अथवा अंगों के रूप में प्रकट होती है। इसी रूप में आत्मा इन अंगों का अनुभव करता है।

जिस प्रकार शरीर के आठ मुख्य अंग हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के ये आठ अंग भी प्रमुख हैं। जैसे शरीर में आँख, नाक आदि एक भी अंग की कमी होने से शरीर की सुन्दरता एवं उपयोगिता ही कम हो जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का एक भी अंग कम होने से सम्यक्त्व की महिमा और उसकी तेजस्विता क्षीण हो जाती है।

इसी कारण अनेक ग्रन्थों में इन अंगों का वर्णन किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र (२८/३१) में इन अंगों के नाम इस प्रकार हैं—

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी या
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ॥

(१) निस्संकिय (निःशंकाता)—इसका अभिप्राय है, तीर्थकरों के वचनों में देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप में किसी प्रकार की भी शंका न करना। शंका के दो अर्थ किये गये हैं—(१) संदेह, तथा (२) भय।

यदि गहराई से देखा जाय तो भय भी शंका से ही उत्पन्न होता है तथा यह अविश्वास का द्योतक है। भय उसी व्यक्ति को होता है, जिसे अपनी आत्म-शक्ति तथा कर्म-सिद्धान्त के प्रति पूरा विश्वास नहीं होता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पूर्ण रूप से आत्म-विश्वासी होता है, उसके हृदय में न अपनी आत्म-शक्ति के प्रति शंका होती है और न जिन-प्रवचनों के प्रति।

समयसार (गाथा २२८) में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—

“सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया चेवा।”

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय और शंकारहित होते हैं।

स्थानांगसूत्र (स्थान ७) में भय के सात प्रमुख भेद बताये हैं—

(क) इहलोकभय—इस लोक अर्थात् सजातीय मानव-समाज से—स्वजन, शत्रु आदि से भयभीत होना।

(ख) परलोकभय—विजातीय, पशु, पक्षी, देव आदि से भयभीत रहना।

(ग) अत्राणभय—सम्यक्त्वी संसार में पुत्र आदि परिवारी जनों, धन-सम्पत्ति आदि भौतिक वैभव को कभी अपना रक्षक या त्राता नहीं मानता, इसीलिए उसे अत्राणभय नहीं सताता। वह तो अपनी आत्मा, पंच परमेष्ठी और धर्म की शरण ग्रहण करके सदा निर्भय रहता है।

अत्राणभय में ही आजीविका अथवा आदानभय भी गर्भित हैं। सम्यक्त्वी जीव इस बात का भय नहीं करता कि नौकरी छूट जायेगी तो क्या होगा, अथवा व्यापार में नुकसान हो जायेगा तो क्या होगा ? क्योंकि उसे कर्मों पर पूरा विश्वास होता है, जानता है—अन्तराय आयेगी तो नौकरी भी छूटेगी और व्यापार में भी नुकसान होगा और जब अन्तराय टूटेगी, पुण्य का उदय होगा तो स्वयमेव आजीविका के साधन बनेंगे, धनागम होगा यानि कि संकट की घड़ियों में भी उसका आत्म-विश्वास डगमगाता नहीं।

(घ) अकस्मात्भय—मानव जीवन में एक्सीडेंट आदि अचानक ही दुःखदायी घटनाएँ हो जाती हैं। किन्तु घटनाओं की पूर्व कल्पना करके सम्यक्त्वी जीव कभी भयभीत नहीं होता। किसी प्रकार की अनागत की दुष्कल्पना से वह विचलित नहीं होता।

उसके मस्तिष्क में यह विचार ही नहीं आते कि कहीं एक्सीडेंट न हो जाय, कहीं कोई पॉकटमार मेरी जेब साफ न कर दे, चोर-डाकू मेरे धन का अपहरण न कर लें, अन्य कोई आकस्मिक घटना न हो जाय।

(ङ) वेदनाभय—वेदना अथवा पीड़ा किसी शारीरिक-मानसिक व्याधि अथवा रोग से उत्पन्न होती है। पीड़ा की आशंका से मिथ्यात्वी भयभीत रहता है, किन्तु सम्यक्त्वी ऐसा भय नहीं पालता। वह जानता है अशुभ कर्म या असाता के उदय से वेदना होती है। अतः वह अधिकतर शुभ कर्म ही करता है। फिर भी यदि पूर्व कर्मों के कारण वेदना हो भी जाय तो हर समय उसी का चिन्तन करके आर्तध्यान नहीं करता, अपितु समभावों से उसे भोगकर कर्मों की निर्जरा कर लेता है। सम्यक्त्वी सहिष्णु होता है।

(च) अपयश या अश्लोकभय—यद्यपि सम्यक्त्वी मनुष्य ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे समाज में उसकी निन्दा हो। इस पर भी यदि कोई उसकी निन्दा करता है तो उस निन्दा से वह भयभीत भी नहीं होता और न ही उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए वह अपनी शुद्ध श्रद्धा के विपरीत कोई आचरण करता है। वह किसी से प्रशंसा

पाने की इच्छा भी नहीं करता और निन्दा से डरता भी नहीं, दोनों ही स्थितियों में समताभाव रखने का प्रयास करता है।

(छ) मरणभय—सांसारिक दृष्टि से मरण का भय सबसे बड़ा है। संसार का कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, मृत्यु से सदैव भयभीत रहता है, मृत्यु उसे महाभयंकर मालूम होती है।

मृत्युभय का मूल कारण है—शरीर के प्रति आसक्ति, जीने का मोह। जीव अपने शरीर को अपने से अभिन्न मानता है। इसीलिए उसे शरीर छोड़ने में घोर कष्ट होता है।

किन्तु सम्यक्त्वी तो शरीर को आत्मा से अलग मानता है। वह मानता है कि मेरी आत्मा अजर, अमर, शाश्वत है और शरीर विनाशधर्मा है। इसके साथ मेरा संयोग तभी तक है, जब तक आयु-कर्म की स्थिति है; ज्यों ही आयु पूरी हुई, यह शरीर छूट जायेगा, फिर मृत्यु का भय क्यों करना, इससे क्यों डरना ?

सम्यक्त्वी मृत्यु से डरता नहीं, अपितु वीर योद्धा की भाँति उसका स्वागत करता है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वी जीव अपने सम्यक्त्व के बल पर जीवन-कला और मृत्यु-कला दोनों को ही भलीभाँति जानता है।

वास्तविकता यह है कि सातों भय शरीरासक्ति के कारण होते हैं और सम्यक्त्वी शरीरासक्ति से मुक्त रहने की साधना करता है, इसलिए वह निःशंक और निर्भय रहता है।

निःशंक होना सम्यक्त्व का मूल आधार है और इस गुण से निर्भयता की भावना स्वतः उद्भूत एवं दृढ़ होती है।

(२) निष्कंखिय (निष्कांक्षता)—अन्य दर्शनों के आडम्बर-वैभव आदि से आकर्षित होकर उन्हें स्वीकार करने की इच्छा न करना तथा अपने धर्माचरण के फलस्वरूप इस लोक अथवा परलोक के भौतिक सांसारिक सुखों की इच्छा न करना।

(३) निर्व्विचिच्छा (निर्व्विचिकित्सा)—अपने द्वारा आचरित धर्म के फल में सन्देह नहीं करना कि मुझे अमुक धर्मक्रिया का फल मिलेगा या नहीं और रत्नत्रय की साधना से शुचिभूत पवित्र साधुओं के मलिन वस्त्र व शरीर को देखकर जुगुप्सा न

करना तथा देव-गुरु- धर्म की निन्दा न करना—यह सम्यक्त्व का तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है।

(४) अमूढ़ दृष्टि—देव, गुरु, धर्म में समुचित श्रद्धा करने वाला, अष्ट प्रवचन माता (५ समिति, ३ गुप्ति) में निश्चल निष्ठा रखने वाला अमूढ़ दृष्टि कहलाता है।

(५) उववूहण (उपवृंहण अथवा उपगूहन)—गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करना, उनके प्रति प्रमोदभाव रखना तथा अपने गुणों को यथासंभव गुप्त रखना, उनका प्रचार न करना।

(६) थिरीकरण (स्थिरीकरण)—सम्यक्त्व अथवा चारित्र से डिगते हुए साधर्मी भाइयों को धर्म में पुनः स्थिर करना तथा स्वयं अपनी आत्मा के परिणाम भी यदि पर-भावों, राग-द्वेष रूप में परिणमें तो उनको पुनः आत्मभाव में स्थिर करना, अपनी आत्मा का स्थिरीकरण है।

(७) वच्छलता (वात्सल्य)—साधर्मी भाइयों के प्रति निःस्वार्थ स्नेहभाव रखना, जीव मात्र के प्रति करुणा व निजत्व की अनुभूति करना। जैसे गौ अपने वत्स (बछड़े) के प्रति स्नेह रखती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा के हितकारी ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि भावों के प्रति विशेष अनुराग रखना स्वात्म-वत्सलता है।

(८) पभावणा (प्रभावना)—धर्म एवं संघ की उन्नति। अभ्युदय के लिए चिन्तन करना, ऐसे प्रयत्न करना जिससे धर्म का प्रचार हो, अन्य लोग प्रभावित हों तथा रत्नत्रय की प्रकृष्ट भावना से अपनी आत्मा को भावित प्रभावित करे।

इन आठों अंगों से सम्यग्दर्शन को अतिविशुद्ध बनाया जा सकता है।

□ सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष

ग्रन्थों में कहा गया है कि २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है। एक श्लोक में इन २५ दोषों का उल्लेख इस प्रकार है—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानि षट्।

अष्टौ शंकादयश्चेति, दृग्दोषा पंचविंशतिः॥

अर्थात् ३ मूढताएँ, ८ मद्, ६ अनायतन और ८ शंकादि दोष—ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं। सम्यग्दर्शन विशुद्धि के ८ अंगों की चर्चा २५ दोषों में की गयी है।

□ सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का वर्णन

मूढ़ता तीन—मूढ़ता का अर्थ होता है मुग्धता अथवा मूर्खता। बहिरात्मा को मूढ़ कहते हैं। संसार अभिनंदी जीव ऐसी अनेक मूर्खताओं में मुग्ध बना रहता है। मूढ़ता के ३ भेद बताये हैं—(१) देव मूढ़ता, (२) लोक मूढ़ता, (३) समय मूढ़ता।

(१) **देव मूढ़ता**—क्षेत्रपाल, भेरूँ, लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पार्वती आदि राग-द्वेषयुक्त संसारी देवी-देवताओं की जो उपासना की जाती है वह देव मूढ़ता कही जाती है।

(२) **लोक मूढ़ता**—यज्ञादि प्ररूपक शास्त्रों को धर्मशास्त्र मानना, गंगा, समुद्र आदि तीर्थ-स्नान, पृथ्वी, अग्नि, वट-वृक्षादि का पूजन करना आदि पुण्य कारण हैं। इस प्रकार जानना, मानना लोक मूढ़ता कही जाती है।

(३) **समय मूढ़ता**—बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य आदि जो अन्य दर्शन हैं, उन्हें एवं आरम्भ परिग्रह सहित संसार चक्र में भ्रमण करने वाले जो साधु हैं, उन्हें संसार से तारने वाले हैं, ऐसा जानना, मानना समय मूढ़ता है।

आठ मद—मद अर्थात् जाति कुल आदि ८ प्रकार से अपना बड़प्पन मानने को मद कहते हैं।

(१) कुल (पितृपक्ष), (२) जाति (मातृपक्ष), (३) बल (शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक शक्ति), (४) रूप (शरीर सौन्दर्य), (५) लाभ (अधिक वस्तु की प्राप्ति), (६) वैभव (ऐश्वर्य आदि सामग्री तथा पूर्वजों द्वारा संचित धन, रत्न आदि), (७) तप, और (८) ज्ञान।

इन बातों का तथा अन्य किसी भी उपलब्धि का घमंड सम्यक्त्वी नहीं करता। यदि उसे किसी बात का गर्व हो जाता है तो वह सम्यक्त्व का मल अर्थात् दोष बन जाता है। सम्यक्त्वी गंभीर होता है, उसमें छिछोरापन नहीं होता।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार स्थिति यह है कि सम्यक्त्वी नीच गोत्र का बन्ध नहीं करता और अभिमान से नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है। अतः इस तथ्य को जानकर सम्यक्त्वी कभी भी गर्व नहीं करता।

लौकिक दृष्टि से भी अभिमान पतन का कारण है।

षट् अनायतन—आयतन का अर्थ होता है—आश्रय स्थान अथवा संग-साथ, अनायतन का अर्थ इसका विलोम-उलटा है, अर्थात् जो आश्रय स्थान नहीं है। सम्यक्त्वी के लिए शास्त्रों में ऐसे छह अनायतन-आश्रय न लेने योग्य स्थान बताये गये हैं—

(१) मिथ्यादर्शन, (२) मिथ्याज्ञान, (३) मिथ्याचारित्र और इन तीनों के अनुयायी, (४) मिथ्यादर्शनी, (५) मिथ्याज्ञानी, (६) मिथ्याचारित्री।

शंकादि आठ दोष—सम्यग्दर्शन विशुद्ध करने वाले आठ अंग निःशंकाता, निष्कांक्षता आदि जिसका पूर्व में वर्णन किया गया है, उन्हीं ८ अंगों के विपरीत शंकादि के ८ दोष हैं। इनसे सम्यग्दर्शन दूषित होता है।

सम्यक्त्वी को इनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए; यहाँ तक कि इनका साथ भी छोड़ देना चाहिए; अन्यथा संगति-दोष से उसके सम्यक्त्व के दूषित होने की संभावना हो सकती है।

इन २५ दोषों से अपने सम्यक्त्व को बचाकर उसे विशुद्ध रखना सम्यक्त्वी का परम कर्तव्य है। विशुद्ध सम्यग्दर्शन तीर्थकर गोत्र बँधने का निमित्त भी बनता है। वैसे मोक्ष का तो परम द्वार रूप है विशुद्ध सम्यग्दर्शन।

ऐसे सम्यक्त्वी निश्चय ही एक समय अपने तथा दूसरों का कल्याण करते हुए मोह-माया को त्यागकर संयम पथ पर अग्रसर होते हैं, तप द्वारा कर्म-निर्जरा करते हुए अष्ट कर्मों की कारा को तोड़ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनते हैं।

जिन महापुरुषों ने संसार के, मोह-माया के, अष्ट-कर्म के बंधनों को तोड़ा, उन्हीं महापुरुषों का वर्णन चल रहा है। एकभवावतारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. की सुप्रसिद्ध जीवन-कल्याणी 'बड़ी साधु वंदना' की चौबीसवीं कड़ी में मुनि समुद्रपाल तथा सती राजीमती व रथनेमि के प्रसंग आपने सुने। आज इसी कड़ी की दूसरी पंक्ति, तीसरे व चौथे चरण में जिनका वर्णन आया है, उन केशी श्रमण एवं गौतम गणधर का विवेचन सुनिये—

वलि समुद्रपाल मुनि, राजमती रहनेम।

केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुर खेम॥ २४॥

इन दोनों ही महाश्रमणों का प्रसंग उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में आया है। श्रमण भगवन्त शासन-नायक प्रभु महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पुरुषादानीय भगवान पार्श्वनाथ का शासनकाल था। प्रभु पार्श्व के मोक्षगमन के पश्चात् उनके शासन के अनेक सन्तानिक श्रमण एवं श्रमणोपासक विद्यमान थे। यदा-कदा दोनों ही शासन के श्रमण एवं श्रमणोपासकों का मिलन होता रहता था, यथा-कालास्यवैशिक, श्रमण गांगेय आदि।

केशी श्रमण प्रभु पार्श्व के शासनकाल के सन्तानिक श्रमण थे और गौतम भगवान महावीर के पट्टशिष्य और प्रथम गणधर। प्रभु पार्श्व के तृतीय पट्टधर थे आचार्य श्री समुद्रसूरि। इनके समय में 'विदेशी' नामक धर्माचार्य से धर्मोपदेश सुन उज्जयिनी नगरी के नरेश जयसेन, उनकी महारानी अनंगसुन्दरी तथा राजकुमार केशीकुमार प्रतिबुद्ध हुए और उनसे दीक्षा अंगीकार की। एक मान्यता के अनुसार यही वे केशी श्रमण हैं जिन्होंने श्वेताम्बिका नगरी के नास्तिक राजा प्रदेशी को समझाकर आस्तिक, आत्मज्ञाता एवं दृढधर्मी बनाया। पर एक अन्य मान्यता के अनुसार दोनों केशी श्रमण भिन्न थे। राजा प्रदेशी को प्रतिबोध देने वाले केशी श्रमण चतुर्दश पूर्वधर एवं चार ज्ञान के धारक थे, जबकि गौतम स्वामी से मिलने वाले केशी श्रमण तीन ज्ञान के धारक थे। मेरी समझ में दूसरी मान्यता सत्य के अधिक निकट है। इसमें पहला कारण तो यह कि श्रावस्ती में चित्तसारथी को चातुर्याम का उपदेश दिया था और दूसरा कारण है इस मान्यता का-उनके आगे पार्श्वपत्नीय विशेषण का लगना। (इस जानकारी के लिए पाठकों को 'रायपसेणी सूत्र' का अध्ययन करना चाहिए।)

□ पार्श्व और महावीर के शासन के महाश्रमणों का पावन मिलन

एक बार ज्ञान और चरित्र में पारगामी, प्रभु पार्श्व के महायशस्वी शिष्य यही केशी श्रमण अपने शिष्य-संघ सहित श्रावस्ती नगरी में पदार्पण कर नगर के निकट स्थित तिन्दुक उद्यान में पधारते हैं।

उन्हीं दिनों धर्मतीर्थ के प्रवर्तक प्रभु महावीर के पट्टशिष्य, श्रुत द्वादशांगी के ज्ञाता और प्रबुद्ध श्रमण प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति, जिन्हें गौतम स्वामी भी कहा जाता है, श्रावस्ती नगरी में पधारते हैं और नगर के बाह्य भाग में कोष्ठक नामक उद्यान में अपने शिष्य-वर्ग सहित विराजमान होते हैं।

श्रावस्ती नगरी में विचरण करते हुए दोनों महाश्रमणों के शिष्यों ने एक-दूसरे को बार-बार देखा। तब दोनों ही शिष्य-संघों ने एक-दूसरे के वेश, क्रियाकलाप और आचारादि को देख विचार किया, हमारे और इनके धर्म-प्रवर्तकों का उद्देश्य तो एक ही है—मुक्ति प्राप्त करना। फिर हम दोनों द्वारा ग्रहीत महाव्रतों में अन्तर का कारण क्या है ? एक के पंचमहाव्रत तो दूसरे के चातुर्याम (चार महाव्रत) ही क्यों हैं ? हमारे और इनके वेश में भी अन्तर क्यों है ?

बंधुओं ! प्रभु पार्श्वनाथ के शासनकाल में साधुधर्म चार महाव्रत रूप चातुर्याम कहलाता था। उस समय के चार महाव्रत थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिर्द्धादान-त्याग (बाह्य वस्तुओं के आदान का त्याग)।

वर्तमान जिनेश्वर श्री महावीर के शासनकाल में प्रथम तीन तो ठीक वे ही हैं जो प्रभु पार्श्व के थे, लेकिन चतुर्थ महाव्रत को दो महाव्रतों में परिवर्तित कर ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का नाम दिया गया।

दूसरे से तेईसवें तीर्थंकर के समय ब्रह्मचर्य महाव्रत भी अपरिग्रह में समाविष्ट था। उन्होंने 'मैथुन' को परिग्रह के अन्तर्गत माना, क्योंकि स्त्री को परिग्रहीत किए बिना 'मैथुन' कैसे होगा ? शब्दकोष (डिक्शनरी) में भी 'पत्नी' को परिग्रह कहा गया है।

प्रभु महावीर के समय युग-परिवर्तन के कारण शायद कुछ कुतर्क खड़े हुए होंगे कि स्त्री को परिग्रहीत किए बिना भी उसकी प्रार्थना पर या उसकी रजामंदी में समागम किया जाए तो व्रत में कहाँ बाधा है ? अपरिग्रहीता से समागम का तो निषेध ही नहीं। सूत्रकृतांग में ऐसी ही कुयुक्तियों सहित एक मिथ्या मान्यता प्रस्तुत की गई है। इन्हीं कुतर्कों, कुयुक्तियों और मिथ्या मान्यताओं के निवारणार्थ प्रभु महावीर ने ब्रह्मचर्य को पृथक् चतुर्थ महाव्रत के रूप में मान्यता दी। ऐसी ही बात वेश के सम्बन्ध में भी थी।

दोनों महाश्रमणों ने अपने-अपने शिष्यों को शंकायुक्त जानकर परस्पर मिलने का विचार किया। गौतम विनय प्रकट करते हुए केशी श्रमण के पास तिन्दुक उद्यान में अपने शिष्यों सहित गए। केशी श्रमण ने उन्हें उचित आदर-सत्कार दिया, आसनादि प्रदान किया और बिठाया।

श्रावस्ती नगरी में जब यह बात पहुँची कि दोनों महाश्रमण शंका-निवारणार्थ प्रश्नोत्तर करेंगे तो वहाँ कौतूहल की दृष्टि से अनेक अबोध जन, अन्य धर्म-सम्प्रदायों के बहुत-से अन्यमति-परिव्राजक और अनेक सहस्र गृहस्थ भी आ पहुँचे। यही नहीं उत्तराध्ययनसूत्र के इस तेईसवें अध्ययन की बीसवीं गाथा में स्पष्ट उल्लेख है कि—

देव-दाणव-गन्धव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो॥

चन्द्र-सूर्य के समान सुशोभित इन दोनों महायशस्वी श्रमणों के इस समागम को देखने, जानने व उनकी वार्ता सुनने को उत्सुक होकर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतों अर्थात् क्रीडा-परायण व्यन्तर देवों का भी वहाँ अद्भुत मेला-सा लग गया।

□ केशी श्रमण के प्रश्न और गणधर गौतम के समाधान

तब केशी श्रमण ने गणधर गौतम से कुछ पूछने की अनुज्ञा माँगी। अनुज्ञा पाकर उन्होंने दोनों तीर्थकरों के धर्म में अन्तर का कारण पूछा।

गौतम स्वामी ने कहा—“ धर्म-तत्त्व का निश्चय प्रज्ञा (सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि) करती है। चूँकि दोनों तीर्थकरों के समय के साधुओं की प्रज्ञा में महान् अंतर है—प्रभु पार्श्व के साधु ऋजु-प्राज्ञ थे, जबकि भगवान महावीर के वक्र-जड़ हैं, बुद्धि वक्र होने के कारण प्रतिबोध के समय वे अनेक तर्क-वितर्क करते हैं और धर्म का पालन करने में उनकी बुद्धि कदाग्रही होती है। यही कारण है कि पार्श्व के चातुर्याम धर्म के स्थान पर महावीर ने पंचमहाव्रतरूप धर्म का निर्देशन किया है।”

केशी श्रमण ने गौतम के समक्ष अपनी दूसरी शंका रखी और कहा—“मोक्षरूप साध्य समान होने पर भी दोनों तीर्थकरों ने अपने-अपने तीर्थ के साधुओं को जो वेश पहनने के लिए उपदेश दिया, उसमें इतना अन्तर किस कारण से है ?”

गणधर गौतम ने केशी श्रमण की जिज्ञासा को शान्त करने हेतु समाधान देते हुए कहा—“सर्वज्ञ प्रभु ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) के प्रकाश में जिस काल में जो उचित था, उसे भलीभाँति जानकर उसी के अनुरूप साधु वेश एवं अन्य उपकरणों को धारण करने की आज्ञा दी।”

आगम में उल्लेख आता है कि प्रथम तीर्थंकर के समय साधु ऋजु पर जड़ बुद्धि तथा अंतिम तीर्थंकर के समय साधु वक्र एवं जड़ बुद्धि होते हैं। उन्हें यदि रंगीन वस्त्र पहनने की छूट दे दी जाती तो वे अपनी प्रज्ञा के अनुसार अपने वस्त्रों को संभवतः रँगने-रँगाने लग जाते। वे वस्त्रों को सज्जित करने में अधिक ध्यान लगाने लग जाते जिससे प्रमाद की अधिक वृद्धि हो जाती। वेश का मात्र प्रयोजन व्यवहार-लोक में गृहस्थ एवं श्रमण का अन्तर समझने के लिये है तथा साधक को असंयम में जाने से रोकने के लिये कि मैं साधु हूँ, मेरा आचार क्या है ? इस विसंगति को रोकने के लिये वेश साधन है। अतः प्रथम व अंतिम तीर्थंकरों ने रंगीन वस्त्र धारण करने का निषेध किया, साथ ही श्वेत वस्त्र ही पहनने तथा परिमित वस्त्र ही रखने की अनुमति प्रदान की। मध्यवर्ती तीर्थंकरों (दूसरे से तेईसवें तक) के शिष्य ऋजु-प्राज्ञ होते हैं। अतः उन्हें रंगीन वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गई।

केशी श्रमण ने अपनी अन्य जिज्ञासाओं के सम्बन्ध में गौतम स्वामी से प्रश्न किया—

“अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा!
ते य ते अहिगच्छंति, कहां ते निज्जिया तुमे?”

(उत्तराध्ययन २३/३५)

अर्थात् हे गौतम ! अनेक सहस्र शत्रुओं (आत्मा के शत्रुओं) के बीच आप खड़े हैं। वे आपको जीतने, आपकी आत्मा को अपने वश में करना चाहते हैं, फिर आपने उन शत्रुओं को कैसे जीता ?

इस पर गौतम स्वामी ने समाधान देते हुए कहा—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं॥

(उत्तराध्ययन २३/३६)

अर्थात् मैंने अपने मन पर विजय प्राप्त की। इस एक पर विजय करने से क्रोधादि चार कषाएँ शान्त हुईं। इन पाँच (चार कषाय व मन) पर विजय-प्राप्ति से पाँच इन्द्रियाँ जीत ली गईं, क्योंकि वे मन के अधीन हैं। इन दस को जीत लेने पर मिथ्यात्व, अव्रत आदि, ज्ञानावरणीय आदि, राग-द्वेषादि जितने-जितने भी आत्मा के शत्रु हैं उन्हें

परास्त होना ही पड़ता है। इस तरह मैं अपनी आत्मा के सहस्रों शत्रुओं को जीतकर अप्रतिबद्ध विहार करता हूँ। तीव्र राग-द्वेष, स्नेह, आसक्ति, मोह आदि के पाश को काटकर धर्मनीति के अनुसार विचरण करता हूँ। भवतृष्णा की लता को जड़ से काटकर विचरण करता हूँ। अतः भयंकर विपाक-तुल्य विष-फलों को खाने से मुक्त रहता हूँ। क्रोध, मान, माया, लोभ की अग्नियों को श्रुत, शील एवं तपरूप जल से सींचकर मैं उन्हें शान्त बना देता हूँ। अपने मनरूपी दुष्ट व चंचल अश्व जो चारों ओर प्रतिपल दौड़ता है, उसको मैं श्रुत-सिद्धान्तरूपी लगाम लगाकर सम्यक् प्रकार से वश में रखता हुआ उन्मार्ग में नहीं जाने देता। मुझे सन्मार्ग व कुमार्ग का, कुत्सित प्रवचन एवं पाखंडव्रती एकान्तवादी जनों का ज्ञान और भान है। अतः मैं उनसे बचा रहकर मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता।

इस प्रकार महाप्रज्ञावान गौतम के श्रीमुख से विभिन्न जिज्ञासाओं का समाधान पाकर केशी श्रमण ने पुनः प्रश्न किया—

महाउदग-वेगेणं बुद्धिमाणाण पाणिणं।

सरण गई पड़ट्ठा य दीवं कं मन्नसी मुणी?

(उत्तराध्ययन २३/६५)

हे मुनिवर ! महान् जल-प्रवाह के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए शरणभूत कौन है ? सही दिशा में गति देने वाले कौन हैं ? उनकी प्रतिष्ठा को बचाकर डूबते जहाज के लिए द्वीप के समान आप किसे मानते हैं ?

बंधुओं ! इस प्रश्न में महान् जल-प्रवाह का तात्पर्य है—संसार में जन्म, जरा, मरण आदि। इसी का तीव्र प्रवाह प्राणियों को बहाए ले जाता है और प्राणी उसमें डूब जाते हैं। जन्म-जन्मान्तरों से महान् पापास्रवों का सेवन करते हुए प्राणी भव-सागर में डुबकियाँ लगाता है, चार गति-चौरासी लाख जीव-योनियों में अनंत-अनंत काल से पुनः-पुनः भटकता है। ऐसे प्राणी के लिए सहारा कौन ? उसे भव-सागर से डूबने से बचाने वाला कौन ? उसे शरण देकर पार उतारने वाला कौन ? उसे गति देने वाला, अर्थात् आधारभूत कौन ? उसे प्रतिष्ठा देने वाला, अर्थात् स्थिरतापूर्वक टिकाने वाला कौन ? जलमध्यवर्ती उन्नत स्थल भूमि की भाँति उसे स्थान देने वाला द्वीप कौन ?

गणधर गौतम ने केशी श्रमण के प्रश्न का समाधान करते हुए धर्म को द्वीप बताया। उन्होंने कहा कि विशाल जिनोक्त रत्नत्रयरूप या श्रुतचारित्ररूप शुद्ध धर्म ही शरण, गति, प्रतिष्ठा देने वाला महाद्वीप है। गणधर गौतम ने आगे बताया कि जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक संसार-समुद्र में शरीर नौका है और जीव नाविक। शरीर यदि कर्मागमन के आस्रव द्वारों से रहित है तो समझना चाहिए कि नाव विवररहित है, उसमें सागर का जल नहीं आ सकता। ऐसी स्थिति बन जाने पर शरीर को रत्नत्रय की आराधना का साधनभूत बनाकर जीवरूप नाविक संसार-सागर से पार चला जाता है।

अंधकार से आच्छादित लोक में प्रकाश करने वाले के सम्बन्ध में केशी श्रमण द्वारा पूछे जाने पर गौतम स्वामी ने कहा—“संसार से अज्ञानरूप अंधकार को हटाकर ज्ञानरूप प्रकाश करने वाले जिनेन्द्र हैं।”

यह सुनकर केशी श्रमण ने पूछा—“हे मुनिवर ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम (व्याधि आदि से रहित), शिव (जरा, उपद्रव से रहित) और अनाबाध (शत्रुओं से रहित) स्थान कौन-सा है ?”

प्रश्न सुनकर गौतम बोले—“लोक के अग्र भाग में एक ऐसा ध्रुव स्थान है जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधियाँ, वेदनाएँ आदि नहीं हैं। उस स्थान को निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव, अनाबाध आदि नामों से पुकारा जाता है। वहाँ पहुँचना अत्यन्त दुरूह है। भव-प्रवाह का अंत करने वाले महामुनि ही उस स्थान पर पहुँच पाते हैं।

□ विनयी ने विनयी को नमन किया : केशी ने महावीर-धर्म स्वीकारा

केशी श्रमण गौतम स्वामी के द्वारा अपनी एवं अपने शिष्य के मनो में उठती हुई इन शंकाओं का समाधान पाकर अत्यन्त प्रभावित एवं सन्तुष्ट हुए। वे बोले—“हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, आप संशयातीत हैं, सर्वश्रुत-महोदधि हैं। आप मेरा नमन स्वीकार करें।”

साहु गोयम ! पत्रा ते, छिन्नो मे संसओ इमो।

नमो ते संसयाईय ! सव्वसुत्तमहोयही॥

(उत्तराध्ययन २३/८५)

इस प्रकार विधिपूर्वक मस्तक नमाकर अभिवन्दना करने के पश्चात् केशी श्रमण ने अपने शिष्य-संघ सहित महावीर द्वारा प्रवर्तित पंचमहाव्रतरूप धर्म को श्रद्धाभावपूर्वक स्वीकार किया।

□ कहाँ वे और कहाँ ये ?

आज की स्थिति में केशी श्रमण की महानता और गौतम स्वामी की प्रज्ञा मन में अनेक प्रश्न खड़े कर देती है। आज तो एक ही तीर्थंकर प्रभु का शासन है फिर इतने भेद, विभेद, मत, आग्रह, सम्प्रदाय क्यों ? विशेषता यह है कि बाहर में लिंग, वेश, चिह्न आदि में कोई विशेष अन्तर नहीं। केवल पहचान मात्र के लिए मुँहपत्ति के आकार आदि में नगण्य अन्तर पर क्रियाओं में, मान्यताओं में, पालन-विधियों में कितना अन्तर ? इसका मूल कारण आगम ज्ञान का अभाव है।

□ अन्तर मिटाना नहीं चाहते

मिट सकता है यह अन्तर, पर आप श्रावक और कदाचित् श्रमण इस अन्तर को मिटाना नहीं चाहते। कहीं अपने प्रभुत्व की चाह है, तो कहीं अपने श्रावकों के घेरे की चाह। कहीं अपनी प्रसिद्धि की चाह है तो कहीं अपनी कुर्सी-अपने पद की चाह। अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के पथ पर चलना है तो इस अन्तर को, इस चाह को अपने अन्तर से हटाना पड़ेगा, तभी शाश्वत आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

आनंद ही आनंद !



सच्चा श्रमण-माहण कौन ?

वीर जिनेश्वर सोई, दुनिया जगाई तूने।
ज्ञान की मधुर सुरीली, बंशी बजाई तूने॥
भारत की नैया डोली, मृत्यु आ सिर पर बोली।
स्वर्ग से आकर भगवन्, पार लगाई तूने॥
पशुओं पे छुरियाँ चलतीं, रक्त की नदियाँ बहतीं।
करुणा के सागर करुणा-गंगा बहाई तूने॥
देवों की करना पूजा, काम था और न दूजा।
मानव की अटल प्रतिष्ठा, जग में जताई तूने॥

आत्म-बंधुओं !

चौबीसवें तीर्थंकर, परमाराध्य, परम वंदनीय, परम कल्याणी भगवान महावीर का अवतरण उस युग में हुआ था, जब हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था, पशुओं की बलि दी जाती थी, यज्ञों के नाम पर हिंसा कराई जाती थी और बड़े गर्व से कहा जाता था—“वैदिकी हिंसा, हिंसा नास्ति।” वह युग ब्राह्मण संस्कृति का युग था।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पथ पर चलने और चलाने वाले, निवृत्ति-प्रधान जीवन बिताने वाले, आध्यात्मिक और नैतिकता के पाठ पढ़ाने वाले वे ब्राह्मण कालान्तर में मिथ्यात्व के पथ पर चलने लगे थे। प्रभु महावीर के जन्म-समय की ब्राह्मण संस्कृति कर्मकाण्डी बन चुकी थी। हिंसा-प्रधान, लौकिक कामनामूलक तथा स्वर्गादि की कामनाओं से प्रेरित यज्ञों की धूम मची हुई थी। अग्नि में घृत, समिधा आदि पदार्थों की आहुति देकर वेद-पाठ किए जाते थे। सचित्त जल का अत्यन्त अपव्यय किया जाता था। यज्ञों की तैयारी में विकलेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती थी। सबसे बड़ी बात कि नरमेध, अश्वमेध जैसे अनेक यज्ञों में पंचेन्द्रिय जीवों की आहुति देना भी धर्म-कार्य समझा जाता था।

□ जैनधर्म ने विश्व को बताया अहिंसा का पथ

भगवान नेमिनाथ ने अपने विवाह के अवसर पर बारातियों के लिए भोजन में बनाए जाने वाले व्यंजनों हेतु अखाद्य, अर्थात् माँस-भक्षण करने वालों के लिए जिन पशुओं को पकड़कर बाड़ों में बंद कर दिया गया, उनकी करुण चीत्कार सुनी, उन पर करुणा की, उन्हें अभय दिया और शादी के तोरण से विवाह-रथ मोड़ लिया था।

भगवान पार्श्वनाथ ने योगी की धूनी में जलते हुए लकड़े से नाग और नागिन के जोड़े पर करुणा दिखाकर उन्हें बचाते हुए समस्त जन-जन में उपदेश प्रसारित किया था कि धूनी रमना हिंसा का रूप है। अतः इसे साधना नहीं माना जाए।

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भी अपने युग में यज्ञबलि, पशुबलि का निषेध किया। खून की बहती हुई नदियों जैसा दृश्य उनके अन्तर को वेध गया। उन्होंने घोषणा की—

“सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उह्वेयव्वा।”

(आचारांगसूत्र ४/२/१३८)

अर्थात् लोक में जितने भी प्राणी हैं, भूत हैं, जीव हैं, सत्त्व हैं, उन्हें न मारना चाहिए, न उन्हें बंद करना चाहिए, न उन्हें शासित या पराधीन ही रखना चाहिए, न किसी प्रकार के उपद्रव द्वारा उन्हें सन्ताप ही पहुँचाना चाहिए। इस तरह का अहिंसा-प्रधान धर्म ही शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। ऐसा सम्पूर्ण लोक के समस्त जीव-समूह को जानने वाले, उनके दुःख-दर्द को समझने वाले ज्ञानी कहते हैं।

तत्त्ववेत्ता भगवान महावीर ने उस समय की दूषित ब्राह्मण-संस्कृति के विरुद्ध श्रमण-संस्कृति को पुनर्जीवित करते हुए ब्राह्मण-संस्कृति के द्रव्य-कर्मकाण्डी रूप को भाव-कर्मकाण्ड का रूप-स्वरूप देते हुए यज्ञों में हो रही क्रूरतम हिंसा को बंद कराया एवं जन-जन में भाव-यज्ञों के विधि-विधान का प्रचार-प्रसार किया।

□ विजयघोष और जयघोष मुनि

आचार्य सम्राट् श्री जयमल जी म. सा. विरचित 'बड़ी साधु वन्दना' की अगली कड़ी में जिन महापुरुष, महाश्रमण, महामुनि का वर्णन है, उन्होंने भी वाराणसी में ब्राह्मण-संस्कृति के कर्मकाण्डी पंडित अपने ही सहोदर विजयघोष को यज्ञ का

जिनेन्द्र-कथित सत्य स्वरूप समझाया। श्रमण जयघोष के उपदेश से विजयघोष पंडित सांसारिक काम-भोगों से विरक्त बन श्रमणधर्म में प्रव्रजित हुआ। सम्यक् साधना द्वारा दोनों श्रमण कालान्तर में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

धन विजयघोष मुनि, जयघोष वलि जाण।
श्री गर्गाचार्य, पहुंच्या छे निर्वाण॥२५॥

□ दोनों वेद-पाठी ब्राह्मण थे

काश्यपगोत्रीय सहोदर विप्र जयघोष और विजयघोष वाराणसी में निवास करते थे। दोनों ही वेदों के ज्ञाता थे, याज्ञिक अर्थात् यज्ञ कराने वाले पंडित थे, वेदों के पाठक थे। यज्ञ-संचालन एवं वेद-पाठ से दोनों अपनी आजीविका चलाते थे।

□ जयघोष विरक्त बने

एक दिन जयघोष गंगा-तट पर नहाने गया। नहाने के पश्चात् वापस घर लौटते समय उसने गंगा-तट पर एक सर्प को देखा जो एक मेंढक को मुख में लेकर निगलने का प्रयत्न कर रहा था। मेंढक के मुँह में पहले से ही एक कीट था। तभी आकाश से पंख फड़फड़ाते एक कुररा पक्षी आया। उसने उस सर्प को अपनी चोंच में पकड़ा, छोड़ा, फिर पकड़कर पछाड़ा। पछाड़-पछाड़कर उसे पूर्ण घायल कर उसे निगलने की चेष्टा कर रहा था।

यह सारा दृश्य जयघोष के हृदय को बेचैन कर गया। वह विचार करने लगा—‘क्या यही संसार है ? क्या यहाँ सभी एक-दूसरे के खून के प्यासे हैं ?’ ‘जीवो-जीवस्य भोजनं’ के अनुसार तो सारा जगत् एक-दूसरे को लील जाना चाहता है। ‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’, ‘समरथ को नहिं दोस गुसाई’ अर्थात् जिसमें ताकत हो वह शक्तिहीन को समाप्त कर देता है, पीड़ित करता है, व्यथित करता है। संसार की ऐसी दुःखदायी स्थिति को देखकर उस जयघोष विप्र को संसार से विरक्ति हो गई।

□ कल के वेद-पाठी जयघोष आज मुनि जयघोष बने

जयघोष ने निश्चय किया कि वह घर, परिवार, संसार त्यागकर साधु बन जायेगा। अपने शेष जीवन में वह धर्म का आश्रय लेकर आत्मा के कल्याण में लगेगा। अपने विचारों को मूर्तरूप देने के चिन्तन में वह गंगा-तट के किनारे-किनारे चल रहा था।

कुछ ही दूर जाने के बाद जयघोष विप्र ने गंगा-तट पर कुछ जिनानुयायी मुनियों को देखा। वह उनके निकट गया। अपनी संस्कृति के अनुरूप हाथ जोड़कर नमन किया उन्हें और उपदेश देने की प्रार्थना की। मुनियों ने जिन-वचन-प्रणीत उपदेश दिया। जयघोष ने उपदेश सुनकर उन मुनिवर से निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा ग्रहण की और पंचमहाव्रत धारणकर संयम के पथ के पथिक बन गये। अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष-मार्ग में गमन करने वाले वे मुनि जयघोष ग्रामानुग्राम पैदल विहार करते हुए दृढ़ता से निरतिचार महाव्रतों का पालन करने लगे।

□ हिंसक यज्ञ में मुनि जयघोष का भिक्षार्थ आगमन

एक दिन ग्रामानुग्राम विहार-विचरण करते हुए वे महामुनि वाराणसी पहुँचे और नगरी के बाहर मनोरम नामक उद्यान में ठहर गए। वहाँ मुनिवर ने एक मास का तप किया और मासक्षमण के पारणे के समय भिक्षार्थ घूमते हुए विजयघोष की यज्ञशाला में चले गये। मुनिश्री ने प्रासुक आहार की गवेषणा की। मुनि जी का गृहस्थ-पक्षीय सहोदर विजयघोष वहाँ किसी वैदिक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा था। उसने मुनि की भिक्षार्थ-याचना को ठुकराते हुए उन्हें कहीं अन्यत्र जाने के लिए कह दिया। सम्भव है उसने अपने मुनिमार्गी बन्धु को नहीं पहचाना हो, किन्तु संयमी अपनी जाति-कुल का परिचय देकर आहारादि प्राप्त नहीं करते हैं।

□ विजयघोष द्वारा मुनि-तिरस्कार

उसने मुनि से कहा—

जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा।।
जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव या
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू ! सव्वकामियां।।

(उत्तराध्ययन २५/७-८)

हे भिक्षुक ! यज्ञ में यह जो समस्त इष्ट वस्तुओं से युक्त खाद्य सामग्री है, वह केवल उनके लिए है जो वेदों के ज्ञाता विप्र हैं, जो यज्ञ के ही प्रयोजन वाले द्विज हैं, जो ज्योतिषशास्त्र के अंगों के वेत्ता हैं तथा जो धर्मशास्त्रों के पारगामी विद्वान् हैं। अतः वे अपना व दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं।

निर्ग्रन्थ मुनि तो समभावी होते हैं। कहा भी है—

लाभालाभे सुहे-दुक्खे, जीविए-मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

(उत्तराध्ययन १६/६१)

अर्थात् जिनानुयायी श्रमण लाभ और अलाभ में, सुख या दुःख में, जीवन या मरण में, निन्दा या प्रशंसा के समय तथा मान व अपमान में समत्वभावी होता है।

जिस निर्ग्रन्थ मुनि का ऐसा प्रमुख आचार हो, वह भला याज्ञिक द्वारा भिक्षार्थ आहारादि देने से इनकार करने पर क्यों रुष्ट होते ? मुनि जयघोष भी रुष्ट नहीं हुए पर याज्ञिक विजयघोष की मिथ्याज्ञान-दर्शन से युक्त कही गई युक्ति से उन्होंने समझ लिया कि संसार-पक्ष के मेरे इस भ्राता को मिथ्यादृष्टि से मुक्ति का प्रयत्न मेरे लिए उपयुक्त है। इसी विचार से मुनि ने कहा—

न वि जाणासि वेयमुहं, न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव या
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण॥

(उत्तराध्ययन २५/११-१२)

हे याज्ञिक ! तुम कहते हो कि यह खाद्य-सामग्री वेदवेत्ताओं के लिए है, पर तुम तो वेद के मुख (प्रधान तत्त्व) को भी नहीं जानते। तुमने कहा कि यह भोजन-सामग्री यज्ञ के प्रयोजन वाले द्विजों के लिए है, पर तुम यज्ञों के यज्ञार्थी तक को नहीं जानते। जहाँ तक ज्योतिषशास्त्र के अंगों के ज्ञाता का प्रश्न है तो तुम नक्षत्रों के मुख को भी नहीं बता सकते। धर्मशास्त्रों की और धर्म की बात तुम करते हो, पर तुम्हें धर्म के प्रथम प्रकाशक का भी ज्ञान नहीं है।

□ याज्ञिक विजयघोष ने आश्चर्यचकित बन समाधान चाहा

याज्ञिक विजयघोष उन मुनिवर की तात्त्विक चर्चा को सुनकर स्तंभित रह गया। वह यह सब नहीं जानता था। अतः उत्तर देने में पूर्णतः असमर्थता जताते हुए

अपनी समग्र परिषद् के साथ हाथ जोड़ते हुए मुनिवर से बोला—“हे मुनि ! आपने जो आक्षेपात्मक प्रश्न किए हैं, कृपया उनका समाधान भी आप ही बता दीजिए। मैं तो प्रमोक्ष (उत्तर देने) में असमर्थ हूँ।”

□ मुनि जयघोष का प्रेरक उद्बोधन

मुनिश्रेष्ठ जयघोष ने तब उन्हें बताया कि वेदों का प्रधान तत्त्व अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र का अर्थ है—अग्निकारिका, जो अध्यात्मभाव है। अपनी बात को स्पष्ट समझाते हुए मुनिवर बोले—“साधक को कर्मरूपी ईंधन लेकर धर्मध्यानरूपी अग्नि में उत्तम भावनारूपी घृत की आहुति देना ही अग्निहोत्री है। सत्य, तप, संतोष, क्षमा, चारित्र, आर्जव, श्रद्धा, धृति, अहिंसा और संवर आदि अग्निहोत्र में ही मन के विकार स्वाहा होते हैं। अतः वेदों का मुख अर्थात् प्रधान तत्त्व हुआ—धर्मध्यान।”

□ आत्म-यज्ञ का यज्ञार्थी आत्म-साधक

यज्ञ का मुख है यज्ञार्थी। इसे इस तरह समझना चाहिए कि आत्म-यज्ञ के लिए अपने बहिर्मुख इन्द्रिय एवं मन को असंयम से हटाकर, संयम में केन्द्रित करने वाले संयमरूप भाव-यज्ञकर्ता आत्म-साधक ही सच्चा यज्ञार्थी होता है। आत्म-यज्ञ में ऐसे ही यज्ञार्थी की प्रधानता (यज्ञ का मुख) है।

□ नक्षत्रों में प्रमुख है चन्द्र

मुनिवर आगे कहते हैं—“मैंने तुमसे तीसरा प्रश्न नक्षत्रों के मुख के बारे में किया था। यह प्रश्न ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित है, क्योंकि इसमें कालज्ञान का विषय समाहित है। स्वाध्याय आदि समयोचित कर्तव्य के लिए काल का ज्ञान श्रमण व ब्राह्मण दोनों ही के लिए आवश्यक माना गया है। स्पष्टतः यह ज्ञान नक्षत्रों से होता है। चन्द्र की शुक्ल-कृष्ण पक्ष में घटती-बढ़ती कलाओं से तिथियों का भलीभाँति बोध होता है। अतः नक्षत्रों का मुख, अर्थात् नक्षत्रों में मुख्य है चन्द्रमा।”

□ धर्मशास्त्रों के प्रणेता हैं—आदिनाथ प्रभु ऋषभ

मुनिवर ने अपने चौथे और अंतिम प्रश्न के उत्तर में धर्मशास्त्रों का मुख अर्थात् प्रणेता बताया है प्रथम तीर्थंकर काश्यप ऋषभदेव को। वर्तमान कालचक्र में आदि-कश्यप

ऋषभदेव ही धर्म के आदि-प्ररूपक, आदि-उपदेष्टा तीर्थकर हैं। भगवान ऋषभ काश्यप गोत्रीय कहलाए और इनके पश्चात्वर्ती तेवीस तीर्थकरों में भी तीर्थकर नेमिनाथ एवं मुनिसुव्रत को छोड़ शेष सभी काश्यप गोत्रीय थे, ऐसा उल्लेख स्थानांगसूत्र में आया है।

□ सच्चा ब्राह्मण कौन ?

इसके पश्चात् विविध विशेषणों से मुनिवर जयघोष ने ब्राह्मण के गुणों का विवरण देते हुए बताया कि जो अग्नि की भाँति पूजनीय, अनासक्त, तपे हुए स्वर्णसम विशुद्ध, राग-द्वेष तथा भयरहित अर्हत् वाणी में रमण करता हो वही ब्राह्मण है।

जो तपश्चरण करता हुआ कृश, दान्त, शांत और सुव्रती बन गया हो, जो अनशन-ऊणोदरी आदि बारह प्रकार के तपों द्वारा शरीर का माँस व रक्त कम कर चुका हो—वही ब्राह्मण है।

जो त्रस व स्थावर जीवों को भलीभाँति जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता—वही ब्राह्मण है।

जो क्रोध में अथवा हँसी में या लोभ या भय में भी असत्य भाषण मन-वचन-काया से नहीं करता—वही ब्राह्मण है।

जो सचित्त या अचित्त, थोड़ी या बहुत अदत्त वस्तु को ग्रहण नहीं करता—वही ब्राह्मण है।

जो देव, मनुष्य व तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का तीनों योग से सेवन नहीं करता—वही ब्राह्मण है।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न होकर भी पद्म जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो काम-भोगों के वातावरण में उत्पन्न हुआ पर काम-भोगों से अलिप्त रहता है—वही ब्राह्मण है।

जो रसादि में लुब्ध नहीं होता, जो निर्दोष मधुकरी से जीवन-यापन करता है, जो अकिंचन, गृहत्यागी, गृहस्थों से असंसक्त होता है—वही ब्राह्मण है।

जो पूर्व संयोगों, ज्ञातिजनों की आसक्ति व बांधवों को त्याग देता है और त्यागने के पश्चात् उनमें कभी आसक्त नहीं होता, **वस्तुतः वही सच्चा ब्राह्मण है।**

यज्ञ में पशुवध आदि पाप इतने भयंकर होते हैं कि इनसे होने वाले दुष्कर्म जन्म-जन्मान्तर तक दुःखरूप बने रहते हैं। अतः इस तरह के यज्ञों के आयोजनों से कोई 'ब्राह्मण' नहीं हो जाता।

□ सच्चा श्रमण-माहण कौन ?

जयघोष मुनि ने विजयघोष को समझाते हुए कहा कि सच्चा श्रमण कौन होता है और सच्चा ब्राह्मण कौन होता है ? यह तुम नहीं जानते हो।

बन्धुओं ! आप भी नहीं जानते कि सच्चा श्रमण कौन है ? किसे कहना चाहिए साधु ?

मोक्ष पुरुषार्थ हेतु जो सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप में श्रम करे वह सच्चा श्रमण कहलाता है। संयम-चर्या का पालन करने वाले साधकों का एक ही लक्ष्य होता है—नवीन कर्मों को आत्मा के साथ लगने से रोकना तथा पूर्व में लगे कर्मों को सम्यक् तपाग्नि में तपाकर क्षय करना। प्रत्येक श्रम करने वाला व्यक्ति श्रमण नहीं हो सकता। श्रम तो मजदूर बहुत करते हैं। सुबह से शाम तक उनका श्रम चलता रहता है। लेकिन उनके श्रम का प्रयोजन केवल अर्थ-काम तक सीमित रहता है। अतः वे जीवनभर श्रम करते हुए भी श्रमिक ही कहलाते हैं।

जयघोष मुनि उद्बोधन देते हुए कह रहे हैं कि—

न वि मुंडिण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

(उत्तराध्ययन २५/३१)

केवल सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता और न ओंकार का जाप करने मात्र से ब्राह्मण, अरण्य में निवास करने से ही कोई मुनि नहीं हो जाता और न कुश निर्मित चीवर (वस्त्र) के पहनने मात्र से ही कोई तापस होता है।

सिर तो मुँड़ा लिया, लेकिन अन्य मुण्डन नहीं हुए तो ऐसा व्यक्ति सच्चे अर्थों में श्रमण कहलाने का अधिकारी नहीं होता है।

स्थानांगसूत्र में १० प्रकार के मुण्डन का वर्णन आता है जो इस प्रकार है—

१. श्रोत्रेन्द्रिय मुण्डन—श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों का त्याग करने वाला।
२. चक्षुरिन्द्रिय मुण्डन—चक्षुरिन्द्रिय के विषयों का त्याग करने वाला।
३. घ्राणेन्द्रिय मुण्डन—घ्राणेन्द्रिय के विषयों का त्याग करने वाला।
४. रसनेन्द्रिय मुण्डन—रसनेन्द्रिय के विषयों का त्याग करने वाला।
५. स्पर्शनेन्द्रिय मुण्डन—स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों का त्याग करने वाला।
६. क्रोध-मुण्डन—क्रोध कषाय का त्याग करने वाला।
७. मान-मुण्डन—मान कषाय का त्याग करने वाला।
८. माया-मुण्डन—माया कषाय का त्याग करने वाला।
९. लोभ-मुण्डन—लोभ कषाय का त्याग करने वाला।
१०. शिरोमुण्डन—शिर के केशों का मुण्डन करने-कराने वाला।

इन दस प्रकार के मुण्डन में जब तक प्रथम से नवम तक के मुण्डन नहीं होते हैं, तब तक दसवाँ मुण्डन वांछित लाभ प्राप्त नहीं करवा सकता। कबीरदासजी ने भी इसी बात को दोहे के रूप में कहा है—

मूँड मुँडाये हरि मिलें, हर कोइ लेय मुँडाया

बार-बार के मूँडते, भेड़ न बैकृण्ठ जाय॥

महाश्रमण जयघोष मुनि ने हजारों वर्ष पूर्व उक्त बात कही थी, कि केवल शिर-मुण्डन कर लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता है तथा केवल ओंकार का जाप कर लेने मात्र से ब्राह्मण नहीं बन जाता। जब तक व्यक्ति पूर्व में कहे गये ब्राह्मण के कर्तव्यों का पालन नहीं करता, तब तक वह सच्चे अर्थों में ब्राह्मण नहीं होता है।

न वि मुण्डिण्ण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।

न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तवसो॥

उत्तराध्ययन के पच्चीसवें-यज्ञीय अध्ययन में जो ब्राह्मण की परिभाषा दी गई है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्व में ब्राह्मण परम्परा सम्यक् ज्ञान-दर्शन से युक्त आचरण करने वाली परम्परा रही है। ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए भी कहा गया है कि—

क्षमा दानं दमो ध्यानं, सत्यं शौचं धृति करुणा।

ज्ञान-विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

अर्थात् क्षमा, दान, दम, ध्यान, सत्य, शौच, धैर्य और दया, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य, ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। इन गुणों से जो युक्त हो वही ब्राह्मण है।

□ ब्राह्मण संस्कृति का उद्भव

प्रागैतिहासिकविदों का कथन है कि ब्राह्मण संस्कृति का उद्भव प्रथम चक्रवर्ती भरत की महान् देन है। कभी-कभी एक विशेष घटना चक्र गौरवमय इतिहास का रूप धारण कर लेती है। इसी अनुक्रम में ब्राह्मण संस्कृति के उद्भव के विषय में कहा जाता है कि एक बार भरतेश्वर की राजधानी वनिता नगरी के बाहर प्रथम तीर्थकर धर्म की आदि करने वाले प्रभु ऋषभदेव का अपने शिष्य-परिवार के सहित अष्टापद पर्वत पर पदार्पण हुआ।

भरत चक्री को जब इस बात की जानकारी हुई तब अत्यन्त उल्लासभाव से राज ऋद्धि के साथ भगवान के दर्शनार्थ जाने का भाव बनाया तथा भगवान के सहवर्ती शिष्यों को चारों प्रकार के आहार से प्रतिलाभित करने की भी उनकी भावना बनी। उसी अनुरूप भक्ति-भावना से ओतप्रोत होकर विपुल मात्रा में असण-पाण-खादिम-स्वादिम तैयार करवाकर अनेक गाड़ियों में भरकर वे समस्त आहार सामग्री भगवान के विराजने के स्थान पर ले आये।

प्रभु से विनती की, तो प्रभु बोले—“भरत ! मुनियों को यह आहारादि लेना नहीं कल्पता है।”

मुनिजन अपने निमित्त से बने आहारादि को ग्रहण नहीं करते तथा इसी प्रकार गृहस्थी के द्वारा आहारादि सामने लाकर दिया जाता है, वह भी मुनि के लिए अकल्पनीय है तथा प्रथम एवं अन्तिम तीर्थकर के शासनवर्ती निर्ग्रथ मुनिराजों के लिए ‘राजपिण्ड’ भी त्याज्य है।

बन्धुओं ! निर्ग्रथ मुनिराज गाय की तरह एषणा अर्थात् शुद्ध आहार की खोज (तलाश) करते हैं। उसमें प्रथम एषणा के अन्तर्गत गवेषणा में आधाकर्म आदि १६ उद्गमन के और धात्री आदि १६ उत्पादना के दोषों का शोधन करते हैं। तत्पश्चात् ग्रहणेषणा में

शंकित आदि १० दोषों को टालते हैं। इसी प्रकार ४२ दोषों को टालकर आहारादि ग्रहण करते हैं तथा परिभोगैषणा के पाँच दोष टालकर के भोगते हैं।

बन्धुओं ! वर्तमान में आप लोगों ने इन ४७ दोषों को जाना नहीं, जबकि श्रावक का प्रथम कर्तव्य होता है कि वह उक्त दोषों को सम्यक् प्रकार से जाने। नहीं जानने के कारण ही आज संयम में शिथिलाचार बढ़ रहा है। सन्तों को खुलेआम आज आप सामने ले जाकर बहरा रहे हैं तथा उनके निमित्त से आधाकमी आहार तरह-तरह से बनाते हैं। इसमें संयमी-साधक तो डूबता ही है, पर आप भी डूबते हैं और उनको डुबाने में मदद कर रहे हैं। इसका कटुफल आपको भी भोगना पड़ेगा। यदि आपने जीवन में एक बार भी पूर्ण निर्दोष आहार बहरा दिया तो आपको महाफल की प्राप्ति हो जायेगी और उसके विपरीत यदि सदोष आहार कितनी बार भी बहराया तो भी आपको वांछित लाभ की प्राप्ति नहीं होगी, उलटा आपको कर्मों का बंध अवश्य ही होगा, जो कि निगोद के छेदन-भेदन तक ले जा सकता है।

भगवान ऋषभदेव ने भी उस नरेन्द्र-भरत चक्री को यही बात कही। भरत यह सुनकर सर्वथा निराश हो गये। उनके मन पर उदासी के बादल छा गये। भरत चक्रवर्ती को इस तरह चिन्तामग्न देखकर प्रथम देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र ने सुझाव देते हुए कहा कि इस विपुल मात्रा में लाये गये आहार का सर्वोत्तम उपयोग यह है कि इससे व्रतधारी-साधर्मिकों की सेवा करके तुम लाभान्वित हो सकते हो। भरत को यह सलाह उपयुक्त लगी।

बुलाया गया साधर्मिक बन्धुओं को। स्वयं अपने हाथों से भरतेश्वर ने उन सभी को अत्यन्त भाव-भक्ति के साथ, आदर-सम्मान के साथ भोजन करवाया। उस दिन भरत चक्री को इस कार्य से मानसिक संतुष्टि एवं अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति हुई।

बन्धुओं ! साधर्मिक बन्धु-बांधव की सेवा को आभ्यन्तर तप की श्रेणी में माना जाता है। छह काय के रक्षक अभयदान देने वाले निर्ग्रथ मुनिराज सर्वश्रेष्ठ दान देने वाले माने जाते हैं तथा ऐसे मुनिराजों को दिये गये सुपात्रदान के पश्चात् साधर्मिक भाइयों को दिया गया दान ही श्रेष्ठ माना गया है। कई बार अज्ञान अथवा अल्प ज्ञान के कारण अनेक अच्छे-अच्छे श्रद्धालु इस सेवा के महत्त्व को नहीं समझते हुए इसे पाप मान बैठते हैं।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक श्री भिक्षुजी ने भी शायद इस तथ्य-सत्य पर सम्यक् चिन्तन किये बिना निषेध कर दिया कि श्रमण-निर्ग्रथ के अतिरिक्त आप किसी को भी भोजन-पानी आदि मत कराओ। यहाँ तक कि व्रतधारी श्रावक है या सम्यक्त्वी श्रावक भी है तो भी उन्हें आप भोजन-पानी देते हैं तो पाप है। जबकि आगम में स्पष्ट है कि एक सम्यक्त्वी व्यक्ति के लिए दूसरा सम्यक्त्वी व्यक्ति साधर्मिक है। एक व्रतधारी श्रावक के लिए दूसरा व्रतधारी श्रावक साधर्मिक है। एक महाव्रतधारी श्रमण के लिए दूसरा महाव्रतधारी श्रमण साधर्मिक है। और ऐसे साधर्मिकों की सेवा धर्मदान के अन्तर्गत आती है। सूत्रकृतांगसूत्र में आता है कि मुनि को धर्मदान का निषेध करना नहीं कल्पता है। यहाँ तक कि मुनि अनुकम्पादान का भी निषेध नहीं करते हैं।

वर्तमान में कुछ स्थानकवासी श्रावक-श्राविका भी इस मिथ्या मान्यता से प्रभावित होकर यहाँ तक कह देते हैं कि दयाव्रत में भोजन आदि नहीं करवाना चाहिए। अपने-अपने घर से भोजन लाकर दयाव्रत करना चाहिए। कभी-कभी तो भावातिरेक में साधु-साध्वियाँ भी इस मिथ्या मान्यता को पुष्ट कर देते हैं। जबकि भगवतीसूत्र, शतक १२, उद्देशक १ में स्पष्ट उल्लेख मिलता है एक साधर्मिक बन्धु अपने अन्य साधर्मिक बन्धुओं को दयाव्रत में भोजन करवाता है तो उसे आरम्भ-समारंभ की संज्ञा देकर निषेध नहीं किया जा सकता है।

“तए णं से संखे समणोवासए ते समणोवासए एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं-पाणं-खाइमं-साइमं उवक्खडावेह। तए णं अम्हे तं विपुलं असण- पाण-खाइम-साइमं आसाएमाणा विस्साएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो।”

(भगवती, श. १२, उ. १)

“उस शंख श्रमणोपासक ने दूसरे (उन साथी) श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा-देवानुप्रियो! तुम विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम (भोजन) तैयार कराओ। फिर (भोजन तैयार हो जाने पर) हम उस प्रचुर अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (भोजन) का आस्वादन करते हुए, विशेष प्रकार से आस्वादन करते हुए, एक-दूसरे को परोसते हुए, भोजन करते हुए, पाक्षिक पौषध (दयाव्रत) का अनुपालन करते हुए अहोरात्रयापन करेंगे।

भगवतीसूत्र के इस उद्धरण के अनुसार एक श्रावक अन्य सभी श्रावकों को दयाव्रत में या साधर्मिक सेवा के अन्तर्गत भोजन आदि करवा सकता है। इसे पाप या आरम्भ-समारम्भ की संज्ञा देना जिनवाणी की न्यून प्ररूपणा करना नामक मिथ्यात्व है।

भरत चक्रवर्ती को भी ऐसे व्रतधारी या सम्यक्त्वी बन्धुओं की साधर्मिक सेवा करते अत्यन्त आनन्द आया था। भरत चक्री ने विचार किया—‘आज जो संतोष, जो सुख और जो आनन्द मुझे मिला है, वह प्रतिदिन मिले तो कैसा रहे?’ उसने हाथ जोड़कर सभी साधर्मिक बन्धुओं से निवेदन किया—“आप सभी प्रतिदिन खूब धर्मध्यान करें और नित्य भोजन यहीं आकर कर लिया करें।” जैसे लौकिक कहावत के अनुसार, “भोजन की चिन्ता मिटे तो भजन में निश्चिन्तता आ जाती है।” पर नित्य आकर चक्री की अतिथिशाला में भोजन करना उन्हें शायद उचित नहीं लगा। आमंत्रण था भरत चक्रवर्ती का फिर भी मना कर दिया उन साधर्मिक बन्धुओं ने। उनकी ओर से प्रत्युत्तर था—“हम अपने व्यवसाय-धन्धे से जुड़े हुए हैं। अतः प्रतिदिन आपकी भोजनशाला में हमें भोजन करना उचित नहीं है। आप उन्हें आमन्त्रित कीजिए जो सभी तरह से निवृत्त हैं। जो आरम्भजनक कार्य नहीं करते, स्वाध्याय-सामायिक में रत बन निरन्तर अपूर्व ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहते हैं।”

इन साधर्मिक बन्धुओं के परामर्श से भरतेश्वर ने आरम्भ से निवृत्त सुश्रावकों को सदा के लिए अपनी भोजनशाला में भोजन करने का निमन्त्रण दे दिया और कहा—“आप भोजन करके मेरे पास आकर प्रतिदिन यह कहा करें—**जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मान्माहन-माहन।**”

अर्थात् आप जीते गये हैं, भय बढ़ रहा है, इसलिए आत्म-गुणों को मत हणो, मत हणो।

भरत चक्री का आमन्त्रण स्वीकार कर श्रावकगण वहीं भोजन करने लगे और राजकुमार-राजकुमारियों को जीवादि नवतत्त्वों का ज्ञानाभ्यास करवाते तथा स्वयं भी आत्म-चिन्तन स्वाध्याय-ध्यान में रहते। प्रतिदिन भोजन करने के बाद उद्बोधन में वही बात कहते।

प्रतिदिन के इस बोधप्रद शब्दों को सुनकर भरतेश्वर चिन्तन करते—‘मैं किससे जीता गया हूँ ? मुझे किसने जीत लिया है ? मुझे किसका भय है ? मेरा भय कैसे बढ़ रहा है ? सोलह हजार देवता मेरी सेवा में फिर भी मेरा भय कैसे बढ़ रहा है ?’ चिन्तन और मनन करते-करते स्वयं के मन से ही समाधान देते—‘हाँ-हाँ, ठीक ही तो है। मैं क्रोधादि कषायों से जीता गया हूँ, मैंने छह खण्डों को जीता है, लेकिन ये चारों कषाय मुझे जीते हुए हैं और इन कषायों से ही मेरे लिए भय का स्थान बढ़ रहा है। ये श्रावक बन्धु मेरे साधर्मिक हैं। ये मेरे हितैषी हैं। मुझे नित्य सावधान कर रहे हैं कि—‘ओ मोहान्ध ! माहण-माहण ! आत्म-गुणों का हनन मत करो-मत करो।’ भरत चक्री इस उद्बोधन को सुनने के बाद आत्म-चिन्तन करते और अपने आप से कहते—‘मैं कितना प्रमादी और कैसा विषय-लोलुप हूँ। यह सब सुनता-समझता हुआ भी भूल जाता हूँ। यह कैसी विडम्बना है मेरी ?’ जब-जब उद्बोधन साधर्मिक बन्धुओं से मिलता, विषय-विकारों का प्रवाह रुककर धर्म-भावना प्रवाहित होने लगती। लेकिन निकाचित कर्मोदय को रोकने की सामर्थ्य किसमें है ? किसी में नहीं। इसीलिए पुनः-पुनः भरत का मन भोगों में चला जाता।

भरत चक्री की यही स्थिति चल रही थी कि एक दिन भोजनशाला के अधिपति ने आकर महाराजाधिराज से निवेदन किया—“स्वामिन् ! भोजनशाला में भोजन करने वालों में नकली श्रावकों की संख्या बहुत बढ़ गई है। बहुत-से लोग झूठ-मूठ ही अपने को श्रावक बताकर भोजन कर जाते हैं, जिससे असली श्रावकों के मन में ठेस पहुँचती है।” चक्रेश्वर के महामंत्री ने जब इस समस्या को जाना तो समाधान खोजते हुए भरतेश्वर से निवेदन किया—“असली श्रावक तो नवतत्त्वों का जानकार होता है, बारह व्रतों का स्वरूप जानता है तथा उसका पालन भी करता है। अतः जिसमें ये सब योग्यता हों उनके उत्तरासंग के समान शरीर पर कांकिणी-रत्न से तीन रेखाएँ ज्ञान-दर्शन-देशचारित्र रूप खींच दी जायें तो इस समस्या का हमेशा के लिए समाधान हो जायेगा।”

सभी को यह सुझाव अच्छा लगा। असली श्रावकों की पहचान करके भरतेश्वर के पास भेजा गया। भरतेश्वर ने उनके शरीर पर कांकिणी-रत्न से तीन रेखाएँ खींच दीं। समस्या का समाधान हो गया। साधर्मिक सेवा निरन्तर चलती रही। नये श्रावक परीक्षा देकर उसमें जुड़ते रहे तथा भरतेश्वर को नित्य उद्बोधन से जगाते रहे।

भरत का चिन्तन आगे बढ़ता ही गया, कर्म हल्के होते गये और आखिर शीशमहल में उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन भी प्राप्त हो गया। उनके उत्तराधिकार के रूप में महाराजा आदित्ययश का राज्याभिषेक किया गया। काँकिणी-रत्न चक्रवर्ती के शासन तक ही कार्य करता है। अब वे तीन रेखाएँ मिट चुकी थीं। आदित्य की भावना थी कि यह साधर्मिक सेवा का कार्य बहुत श्रेष्ठ है। इसे इसी प्रकार चालू रखा जाय। रेखा के स्थान पर मंत्रियों ने सुझाव दिया कि राज्य-चिह्न अंकित सोने के तीन तार श्रावकों को पहना दिये जायें, ताकि व्यवस्था सम्यक् प्रकार से चलती रहे। इस प्रकार लम्बे समय तक यह कार्य चलता रहा। श्रावक वही उद्बोधन सुनाते रहे। भरतेश्वर की तरह आदित्ययश आदि आठ पट्टधर राजाओं तक यह क्रम चलता रहा। सभी राजा श्रावकों/माहणों के उद्बोधन पर चिन्तन-मनन करते तथा अपने आप को धिक्कारते। भरतेश्वर की तरह सभी उसी शीशमहल में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते रहे। मोक्ष में जाते रहे।

श्रावकों द्वारा जो उद्बोधन दिया जाता, उसमें मुख्यता माहण-माहण शब्द की थी। समय के अनुसार वे श्रावक माहण के नाम से ही विख्यात होने लगे। जिसके भी गले में परिचय चिह्न के रूप में 'जैनोपवीत' होता उसे माहण के नाम से ही जाना जाता।

कालान्तर में जब साधर्मिक सेवा के अन्तर्गत भोजन-व्यवस्था बन्द कर दी गई तो इन्हीं श्रावकों में अनेक विकृतियाँ प्रारम्भ हुईं। प्राकृत भाषा का यही 'माहण' शब्द संस्कृत में ब्राह्मण बन जाता है। यही (ब्राह्मण) श्रावक जो निवृत्ति लिए हुए थे, पर अब भोजनादि की व्यवस्था न होने से धीरे-धीरे भिक्षाजीवी बन गये, धीरे-धीरे धर्म से विमुख होने लगे। निवृत्त श्रावकों के लिए ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार रूप जो चार लोकोत्तर वेद निरूपित थे, उनके स्थान पर लौकिक वेदों की रचना की गई। हवन-यज्ञों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ तथा 'जैनोपवीत' के स्थान पर 'यज्ञोपवीत' नाम दिया गया। लेकिन आज भी उसे मारवाड़ी भाषा में 'जैनऊ' के नाम से ही ब्राह्मण सम्बोधित करते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण सम्यक्त्व से च्युत होकर लौकिक आराधना के द्वारा अपना निर्वाह करते रहे।

इसी अनुक्रम में मुनि जयघोष विजयघोष ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि सच्चा ब्राह्मण कौन होता है ? तुम जिस क्रियाकाण्ड से जुड़े हो, उससे तुम्हें

मुक्ति मिलने वाली नहीं है। जिस प्रकार श्रमण मुनि का एक श्रेष्ठ गुण 'सिर मुण्डन' को ग्रहण कर लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता है, उसी प्रकार तुमने जैनियों का केवल एक अच्छा गुण ओंकार का जाप ग्रहण कर लिया तो क्या हुआ ?

न ओंकारेण बंधणो।

(उत्तराध्ययन २५/३१)

अर्थात् केवल ओंकार के जाप मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता।

जब तक तुम्हारे भीतर इस अच्छाई के साथ अन्य सारे ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ गुण नहीं आर्येंगे तब तक तुम सच्चे अर्थों में ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं हो।

बन्धुओं ! हजारों की इस जनमेदनी में अनेक ऐसे श्रावक होंगे जो सोचेंगे—'ओम्' शब्द जैनियों का है या नहीं। वैसे तो शब्द कभी किसी का नहीं होता है। जो जिस समय जिस शब्द को अधिक पकड़ लेता है, शब्द उसी तक सीमित बनकर रह जाता है। वैसे लिपि ज्ञान तो भगवान ऋषभदेव ने सबसे पहले ब्राह्मी को दिया, इसीलिए ब्राह्मी लिपि के नाम से विख्यात है। उसमें सभी स्वर-व्यंजन थे। सभी शब्द थे। 'ओम्' भी उसी में था, कहीं बाहर से नहीं आया। फिर कालान्तर में जैनाचार्यों ने जैसे चौदह पूर्वों का सार नवकार में घटित करने का प्रयत्न किया, उसी भाँति नवकार का सार इस 'ओम्' शब्द में मिलता है। व्याकरण के अनुसार इसे इस प्रकार घटित किया जा सकता है—

अरिहन्ताणं	का 'अ'
अशरीरी सिद्धों	का 'अ'
	अ + अ = 'अ'
आचार्यों	का 'आ'
	अ + आ = 'आ'
उवज्झायाणं	का 'उ'
	आ + उ = 'ओ'
मुनि	का 'म्'
	ओ + म् = 'ओम्'

इसीलिए जयघोष मुनि कह रहे हैं कि तुमने जैनियों का केवल 'ओम्' शब्द तो ग्रहण कर लिया, लेकिन तुम्हारे भीतर जैनाचार की शेष अच्छाइयाँ नहीं आईं। अतः तुम सच्चे अर्थों में 'माहण' (ब्राह्मण) नहीं हो।

इसी बात को समझाने के लिए मुनि आगे उपदेश देते हुए कह रहे हैं कि यदि कोई अरण्य में निवास करना प्रारंभ कर दे तो वह मुनि नहीं हो जाता। उसमें मुनि के सारे गुण होंगे, तभी वह मुनि होगा। कुश निर्मित चीवर के पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता। मुनिश्री कहते हैं—

**समयाए समणो होइ, बम्भचरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥**

(उत्तराध्ययन २५/३२)

समभाव धारण करने से श्रमण, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से ब्राह्मण, ज्ञान प्राप्त करने से मुनि और तपश्चरण करने से तापस होता है।

यदि कर्म ऐसे श्रेष्ठ नहीं तो तुम अपने आप को श्रेष्ठ नहीं बना सकते। क्योंकि व्यक्ति जन्म से नहीं, जाति-गोत्र से नहीं, अपितु अपने सद्कर्मों से महान् बनता है।

**कम्मुणा बम्मणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा॥**

(उत्तराध्ययन २५/३३)

कर्म से ही ब्राह्मण और कर्म से ही क्षत्रिय तथा कर्म से ही वैश्य और शूद्र होता है।

जैन परिवार में जन्म ले लिया, पर कर्म शूद्रों के हैं तो वह शूद्र है और शूद्र के घर में जन्म लिया पर हरिकेशी मुनि की भाँति श्रेष्ठ कर्म हैं तो वह जैन है।

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अन्य दर्शनों की भाँति व्यक्ति को जातिगत आधारों पर वर्गीकृत कर राग-द्वेष के बीजारोपण नहीं करता। यहाँ सभी का समान अधिकार है। धर्म एवं सद्कर्मों के आधार पर व्यक्ति स्वतः वर्गीकृत हो जाता है। किसी भी जाति का व्यक्ति जैनाचार की पालना करने पर जैन बन जाता है।

जयघोष मुनि ने विजयघोष ब्राह्मण से कहा—जो अर्हत् प्ररूपित तत्त्वों के ज्ञान से परिपूर्ण होकर सर्वकर्म विमुक्ति के यज्ञ में लग जाता है, वही सच्चा ब्राह्मण है। तुम

अपने आप को द्विज मानते हो। लेकिन जो पंचमहाव्रती हैं, वे ही द्विजोत्तम हैं, वे ही अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं।

□ याज्ञिक विजयघोष द्वारा दीक्षा अंगीकार

मुनि श्रेष्ठ जयघोष के उपदेशों को सुनकर विजयघोष ने अनुभव किया कि मैं यथार्थ में ब्राह्मण नहीं हूँ। उसने मुनिवर को सच्चा याज्ञिक, वेदवेत्ता, ज्योतिषांग-ज्ञाता और धर्मशास्त्रों का पारगामी विद्वान् मानते हुए उन्हें वन्दन, नमन किया और कहा—“मुनिवर्य ! आप स्वयं अपना उद्धार करेंगे ही, दूसरों का उद्धार करने में भी पूर्ण समर्थ हैं। अतः हे उत्तम भिक्षुवर ! आप यज्ञशाला में बने इन भोज्य पदार्थों को भिक्षा में ग्रहण करिए।”

जयघोष मुनिवर ने तब भिक्षा के प्रति अनिच्छा प्रकट की और कहा—“मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज ! अपने आत्म-कल्याण के लिए चिन्तनशील बन शीघ्र ही अभिनिष्क्रमण करो, अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर पंचमहाव्रतधारी मुनि-निर्ग्रन्थ बनो, जिससे तुम्हारा संसार-परिभ्रमण मिट सके।”

विजयघोष मुनिवर जयघोष के उपदेश से संसार-विरक्त बन दीक्षित हो गये।

□ मुनिद्वय साधना से सिद्ध बने

जयघोष व विजयघोष दोनों मुनि दीर्घ तपश्चरण एवं निरतिचार महाव्रतों का पालन कर पूर्व संचित समस्त कर्मों को क्षीण कर आठों कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

बंधुओं ! ऐसे महान् साधकों का गुण कीर्तन करने से हमारे भी कर्म क्षय होंगे तथा अखण्ड आनंद की प्राप्ति होगी।

आनंद ही आनंद !



गर्गाचार्य पहुंच्या छे निर्वाण

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुब्बिं सुणेह मे॥

(उत्तराध्ययन १/१)

आत्म-बंधुओं !

संसार के प्रत्येक प्राणी का परम एवं चरम लक्ष्य है सुख। सभी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व सुखसाता चाहते हैं, दुःख सभी को अप्रिय है। आगम में कहा गया है—

सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया,
सव्वे सत्ता... सुहसाया, दुःखपडिकूला॥

सभी सुखाभिलाषी होते हुए भी सभी की चाह एक जैसी नहीं है, क्योंकि सभी प्राणियों में सुख की धारणा भी अलग-अलग होती है। कोई वस्तु में सुख मानता है तो कोई भोग-उपभोग-परिभोग में और कोई व्रत-प्रत्याख्यान, धर्म-ध्यान में। इसी दृष्टि से प्राणियों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम तो लौकिक सुखाभिलाषी, दूसरे लोकोत्तर सुखाभिलाषी।

सम्यक्त्वियों को छोड़कर अधिकांश प्राणियों की दशा प्रथम नम्बर में आती है तथा मनुष्यों में भी अधिकांश इसी वर्ग में आते हैं। वे भौतिक सुखों की ओर लालायित रहते हैं।

कुछेक मनुष्य लोकोत्तर सुखों की चाह रखते हैं और उसी के अनुरूप उन्हें राह भी मिल जाती है। उसी आत्मानंद की प्राप्ति का मार्ग है—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप धर्म। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं॥

(उत्तराध्ययन २८/३)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग का अनुसरण करने वाले जीव सुगति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

ज्ञान से पदार्थों को जानकर दर्शन से उन पर श्रद्धा करता हुआ जब उपादेय को आचरण में उतार लिया जाता है तब व्यक्ति सम्यक् प्रकार से संयोगों से मुक्त हो जाता है। ऐसा साधक अणगार, भिक्षु, मुनि, श्रमण आदि कहलाता है। ऐसे मुनिधर्म का मूल 'विनय' माना गया है। विनय का आशय—'अष्टविध कर्मों का जिससे विनयन (उन्मूलन) किया जाए, उसे विनय कहते हैं।'

विनय का अर्थ दासता, दीनता या गुरु की गुलामी आदि लगाना बहुत बड़ी भूल है। स्वार्थसिद्धि के लक्ष्य से की गई औपचारिकता भी विनय के अन्तर्गत नहीं आती है, अपितु गुणीजनों और गुरुजनों के महान् मोक्षसाधक पवित्र गुणों के प्रति सहज प्रमोदभाव आने पर अपने आप को मानसिक, वाचिक और कायिक रूप से समर्पित करना, जिससे गुरु हमको अपनी श्रुतसम्पदा एवं आचारसम्पदा से लाभान्वित कर सके, वही सच्चा विनयभाव है।

वृहद्वृत्ति के अनुसार विनय के मुख्य दो रूप फलित होते हैं—(१) लौकिक विनय, (२) लोकोत्तर विनय। लौकिक विनय में अर्थ-विनय, काम-विनय, भय-विनय और लोकोपचार-विनय आते हैं। ये चारों विनय लौकिक व्यवहार में किये जाते हैं। इन्हें धर्म मानकर नहीं किया जाता, केवल लौकिक व्यवहार मानकर किया जाता है। जबकि लोकोत्तर विनय मोक्ष-विनय कहा जाता है जिसे व्यक्ति धर्म मानकर करता है। वह पाँच प्रकार का कहा गया है—(१) दर्शन-विनय, (२) ज्ञान-विनय, (३) चारित्र-विनय, (४) तप-विनय और (५) उपचार-विनय। औपपातिकसूत्र में इसी के सात प्रकार बताए गये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं मन, वचन, काया और लोकोपचार विनय। इसके आगे चलकर अनेक भेद-भेदान्तर हो जाते हैं।

हमारे आगमों में तो यहाँ तक कह दिया कि जो शिष्य विनीत नहीं होता, उसकी कैसी दुर्दशा होती है।

जहा सुणी पूड़-कणी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ॥

(उत्तराध्ययन १/४)

जिस प्रकार सड़े कान की कुतिया (घृणापूर्वक) सभी स्थानों से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाला दुःशील वाचाल शिष्य भी सभी जगह से (अपमानित करके) निकाल दिया जाता है।

शिष्य विनयधर्म का पालन तभी कर पायेगा, जब वह अपने आप को अनुशासित कर लेगा। मुख्य रूप से अनुशासन के दस सूत्र हैं—

१. गुरुजनों के समीप सदा प्रशान्तभाव में रहे।
२. वाचाल न बने, अर्थात् बार-बार बिना कारण नहीं बोले।
३. निरर्थक बातें छोड़कर सार्थक पद-ज्ञान सीखे।
४. गुरु के द्वारा अनुशासित करने पर क्रोध न करे।
५. क्षमाभाव धारण करे।
६. क्षुद्रजनों के साथ सम्पर्क, हास्य एवं क्रीड़ादि न करे।
७. चाण्डालिक कर्म न करे।
८. अध्ययनकाल में अध्ययन करके फिर ध्यान करे।
९. अधिक न बोले।
१०. कुकृत्य किया हो तो छिपाए नहीं, जैसा हो, वैसा गुरु से कहे।

ये दस नियम केवल मुनि के लिए ही अनिवार्य नहीं हैं, अपितु प्रत्येक विनीत व्यक्ति के जीवन में ये दस बातें होनी अनिवार्य हैं। इन दस नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति निकट भव में मोक्ष के सुखों को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष प्राप्ति से

पूर्व भी विनयी शिष्य को अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। उत्तराध्ययन (अ. १) में इन उपलब्धियों के मुख्य बारह नाम बताये गये हैं—

१. लोकव्यापी कीर्ति मिलना।
२. धर्माचरणकर्त्ताओं के लिए आधारभूत होना।
३. पूज्यवरो की प्रसन्नता।
४. विनयाचरण से परिचित पूज्यों की प्रसन्नता से प्रचुर श्रुतज्ञान की प्राप्ति।
५. शास्त्रीय ज्ञान की सम्मानीयता।
६. सर्व-संशय-निवृत्ति।
७. गुरुजनों के मन को रुचिकर लगना।
८. कर्म (पुरुषार्थ) सम्पदा की सम्पन्नता।
९. तप-समाचारी एवं समाधि की सम्पन्नता।
१०. पंचमहाव्रत पालन से महाद्युतिमत्ता।
११. देव-गन्धर्व-मानव-पूजनीयता।
१२. देहत्याग के पश्चात् सर्वथा मुक्त अथवा अल्पकर्मा महर्द्धिक देव होना।

इसी वन्दन-नमन-विनय गुण के द्वारा व्यक्ति तीर्थंकर गोत्र तक उपार्जित कर लेता है। विनय का सही अर्थ है—अपने आपको अहं से मुक्त कर देना। जब अहं नष्ट होता है, तब व्यक्ति गुरु के अनुशासन को सुनता है और जो गुरु कहते हैं, उसे स्वीकार करता है, उनके वचनों की आराधना करता है। अपने मन को आग्रह, दुराग्रह से मुक्त करता है। यही मुक्ति उसे जन्म-मरण से हमेशा के लिए मुक्ति दिला देती है।

वर्तमान में जो पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय स्थिति बन रही है, वह अत्यधिक चिन्ताजनक है। उसका मूल कारण जीवन के उषाकाल से ही व्यक्ति में विनय का अभाव होते जाना है। इससे न परिवार सुखी है, न समाज में शान्ति है और न राष्ट्र के अधिनायक कुछ करने में समर्थ हैं।

आज हम आपको जिस मुमुक्षु भव्य आत्मा का वर्णन सुनायेंगे, उनके जीवन में भी कुछ ऐसी विषम स्थिति बनी कि वे स्वयं अपने आप को अशान्त महसूस करने लगे। अन्ततः उन्होंने शान्ति का मार्ग खोज ही लिया और मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

मुनि गर्गाचार्य

‘बड़ी साधु वन्दना’ की २५वीं कड़ी के अन्तिम दो चरणों में श्री गर्गाचार्य का नाम आया है। आपको स्मरण होगा कि ‘बड़ी साधु वन्दना’ के प्रवचनों का सिलसिला जब प्रारम्भ हुआ था तो प्रथम प्रवचन ‘नमूं’ शब्द को लेकर ‘नमन, नमना, विनय करना’—विषय पर हुआ था। अनेक आगमों के जिन महनीय मोक्षगामी महापुरुषों को इस पावन रचना में एक भवावतारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने भावपूर्वक नमन-वन्दन किया है, उसी के अन्तर्गत मुनि गर्गाचार्य के चरित्र का भी सम्बन्ध ‘विनय’ से ही है। गुरु के प्रति शिष्य विनीत हो—यह साधक जीवन की पहली शर्त है। जब तक जीवन में विनय नहीं, तब तक विवेक नहीं आ पायेगा और विवेक के बिना न ज्ञान का मूल्य है, न चारित्र का महत्त्व। एक कवि ने अपनी इन पंक्तियों में विनय के महत्त्व का कैसा सुन्दर प्रतिपादन किया है—

□ कथनी-करनी विनयपूर्ण हो

प्रभो ! हम सीखें विनय अमोल !....

(१)

विनय बिना विद्या का गौरव, रह जाता है गोला।
वृक्ष नहीं झुकना सीखें तो, फिर क्या उनका मोल॥

(२)

पूर्व दिशा में नमती कलियाँ, जब होती है भोर।
सब अंगों में उत्तम मस्तक, झुके चरण की ओर॥

(३)

कहने से पहले कथनी को, हिए तराजू तोल।
कथनी-करनी विनयपूर्ण हो, कर ले पक्का कौल॥

तात्पर्य यह कि जीवन के हर पक्ष में, हर कार्य में, हर वचन में विनय टपकना चाहिए। शिष्यों में यदि विनय होगा तो गुरु एवं शिष्य दोनों साधना का सुफल प्राप्त कर सकेंगे। शिष्य यदि विनयशील नहीं है तो वे स्वयं तो साधना से च्युत होंगे ही, अपने गुरु को भी समाधिस्थ नहीं होने देंगे।

□ प्रतिसंधान कुशल थे आचार्य

उत्तराध्ययनसूत्र में 'खलुंकीय' नामक सत्ताईसवें अध्ययन में आचार्यप्रवर गर्ग का वर्णन आता है। गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने से इन्हें गर्गाचार्य भी कहते हैं। गर्गाचार्य अपने आदर्श जीवन एवं उपदेशों से जीवों को धर्म में स्थिर करने वाले स्थविर मुनि थे, वे गच्छ को धारण करने वाले गणिवर थे, सर्वशास्त्र-निपुण थे। उनके अनेक शिष्य थे, पर कर्म-संयोग की बात कि वे सभी शिष्य अविनीत थे। उनके अविनय से बार-बार आचार्य गर्ग की चित्त-समाधि टूट जाती थी, पर आचार्य प्रतिसंधान में कुशल थे, अर्थात् वे पुनः अपने चित्त को समाधि में ले आते थे।

□ अविनीत, अवगुणी शिष्य

गर्गाचार्य का कोई शिष्य अपने ऋद्धि-अहंकार में रहता हुआ सोचता था कि मेरे श्रावक धनाढ्य हैं, अमुक कोटिपति, नगरश्रेष्ठी मेरा भक्त है, मेरे पास उत्तम वस्त्र व पात्र हैं। कोई अन्य शिष्य सरस, स्वादिष्ट आहार लाता, सेवन करता। वह न तो रुग्ण संतों की सेवा करता और न तपस्या करता। उसे तो अपने 'रस' पर ही गर्व था, मुझे सरस मिल जाता है। एक अन्य शिष्य ऐसा भी था जो एक ही स्थान पर सुख-सुविधाओं को देखकर जम गया था, अन्यत्र विहार ही नहीं करता था, न परीषह सहन कर सकता था। उसे अपने सातावेदनीय के उदय से प्राप्त सुख का ही गर्व था। कोई हठाग्रही था, कदाग्रही था—वह अपनी मान्यताओं, विचारों पर अड़ा रहता था। कोई अपमान के डर से भिक्षा के लिए नहीं जाता तो कोई अत्यन्त क्रोधी था।

उनके कुछ शिष्य आलस्य में डूबे रहते, स्वाध्याय से दूर रहते, प्रमाद में जीवन बिताते तो कुछ अहं में मग्न रहते थे। ये शिष्य आचार्य-भगवन् द्वारा हेतुओं और कारणों से समझाए जाने पर भी समझते नहीं थे। चित्त की असमाधि होने पर भी गुरु गर्गाचार्य

चाहते थे कि इन्हें कुछ विवेक-बुद्धि आए, ये कुछ ज्ञान प्राप्त करें, इन्हें मेरा प्रतिबोध लगे। गुरु गर्गाचार्य जब भी इन्हें उपदेश देते तो कुछ शिष्य बीच-बीच में वार्त्ता करते, कुछ गुरुवचनों में दोष निकालते और वे आचार्य के उन शिक्षाप्रद वचनों के प्रतिकूल बार-बार आचरण करते।

गुरु किसी एक से कहते—“जाओ, अमुक के यहाँ से भिक्षा ले आओ।” तो वह पलटकर गुरुजी को कहता—“मुझे तो अमुक श्रावकजी जानते ही नहीं, उनके घर की श्राविका भी मुझे नहीं जानती, वह मुझे आहार नहीं देगी।” कभी किसी दूसरे शिष्य से भिक्षाचरी हेतु कहते तो वह कहता—“इस घर में तो आज कोई नहीं है, अमुक श्राविका तो बाहर चली गई होगी।” गुरुदेव किसी तीसरे से कहते तो वह फटाक से कह देता—“मैं आज नहीं जाऊँगा, किसी दूसरे को भेज दीजिए।”

गर्गाचार्य कभी किसी विशेष कार्य से किसी शिष्य को बाहर भेजते और वह जाता तो इधर-उधर भटककर बिना कार्य किए वापस आ जाता। गुरु-आज्ञा को वे सारे शिष्य बेगार की तरह समझते थे और सुनकर आँख-भौंह टेढ़ी कर वचनों की अवमानना किया करते थे। वे गुरु से दूर-दूर रहा करते थे कि कहीं इनका काम करना पड़ेगा।

□ अविनीत शिष्यों के प्रति मुनि का चिन्तन

यह सब देखकर गुरु गर्गाचार्य बहुत ही दुःखी होते। वे अपने चित्त को समाधि में लाने का निरन्तर प्रयत्न करते; फिर भी चित्त असमाधिस्थ हो जाता। उन्होंने विचार किया कि किसी वाहन को गति देने वाले वृषभादि पशु यदि विनीत हों, अनुशासित हों, हाँकने वाले के संकेत को समझकर तदनुरूप गति करने वाले हों तो वाहन पर बैठे पुरुष का पथ सुखपूर्वक पार हो सकता है। मैं जिन शिष्यों से युक्त धर्मरथ का सारथी हूँ, यदि ये भी विनीत होते तो मैं तो सुखपूर्वक संयम-यात्रा तय कर भव-सागर पार कर लेता।

वाहन में यदि अविनीत, दुष्ट प्रवृत्ति के वृषभ, बैल जुते हों तो हाँकने वाला क्लेश पाता है, असमाधि का अनुभव करता है और यदि सारथी का चित्त आवेश में आये तो वह उन्हें चाबुक से पीटता है, कील से बींधता है, पूँछ मरोड़ता है। बैल दुष्ट हों तो वे

फटकार, मार से भी नहीं समझते, कोई जुए की कील तोड़ देता है तो दूसरा उन्मार्ग पर चल पड़ता है। कोई गिर पड़ता है, कोई बैठ जाता है, कोई लम्बा लेट जाता है, कोई छलाँगें लगाता है।

मेरे शिष्य भी ऐसे ही हैं। मैंने उन्हें पहचानने में भूल कर दी। अयोग्य बैल वाहन में जोते जाएँ तो वे वाहन तोड़ देते हैं, ऐसे ही मेरे अयोग्य शिष्य भी मेरे धर्मध्यान को तोड़ने में लगे हैं।

□ आज गुरु छिपाते हैं शिष्यों के अवगुण

बंधुओं ! आज की स्थिति कितनी भिन्न है ! आज तो गुरुओं को शिष्यों की ऐसी भूख है कि वे उनकी योग्यता की परख भी नहीं करते। बात तो इससे भी आगे चली जा रही है। मालूम हो जाता है कि व्यक्ति अयोग्य है, अमुक व्यसन हैं इसमें, व्यसन छूट नहीं रहे हैं इससे, पर हाय रे शिष्य बनाने की तीव्र बुभुक्षा, जान-बूझकर अयोग्य शिष्य बनाये जाते हैं, निभाये जाते हैं, उनके अवगुणों को अन्दर में पोषित और बाहर में छिपाया जाता है। यदि योग्यता को परखकर दीक्षा दी जाती है तो बुराइयाँ समाप्त हो सकती हैं।

□ गली के गर्दभ की भाँति शिष्यों का त्याग

गर्गाचार्य खिन्न हुए सोचते हैं कि मुझे ऐसे अविनीत, दुष्ट-प्रवृत्ति के, अनुशासनहीन, उद्दण्ड शिष्यों से क्या लाभ होने वाला है ? इनसे तो मेरी आत्मा क्लेश पाकर अवसन्न होती है। मुझे इन शिष्यों को गली-गली में भटकने वाले आलसी और प्रमाद में रहने वाले गदहों की भाँति मानकर इनका त्याग कर देना चाहिए। साधना में आलसी और निरुत्साह बने इन कुशिष्यों को प्रेरणा देने में ही मेरा सारा समय चला जाता है। आत्म-साधना के लिए न समय बचता है, न शांत वातावरण ही मिल पाता है।

□ एकल-विहारी गर्गाचार्य और शास्त्रीय विधान

यही सब सोचकर गर्गाचार्य मुनिवर ने गलिगर्दभरूप उन अविनीत शिष्यों का त्याग कर दिया। वे आत्म-साधना में लीन होकर उग्र बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण करते हुए एकाकी ही विचरण करने लगे।

जैन परम्परा के अनुसार साधु तीन अवस्थाओं में अकेला विचरण-विहार कर सकता है—

१. यदि वह एकल-विहार-प्रतिमा अंगीकार करे।
२. यदि वह जिनकल्प स्वीकार करे।
३. यदि वह मासिकी (एक-एक माह की) भिक्षुक-प्रतिमाएँ स्वीकार करे।

प्रथम जो अवस्था बतलाई है एकल-विहार-प्रतिमा धारण करने की, उसके लिए भी साधक में आठ गुणों का होना आवश्यक बताया है। ठाणांगसूत्र के आठवें स्थान के प्रथम सूत्र में लिखा है—

“अट्ठहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरिहति एगल्ल-विहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, तं जहा-सड्ढी पुरिसजाते, सच्चे पुरिसजाते, मेहावी पुरिसजाते, बहुस्सुत्ते पुरिसजाते, सत्तिमं पुरिसजाते, अप्पाधिगरणे पुरिसजाते, धित्तिमं, वीरिय संपण्णे।”

अर्थ यह कि आठ स्थानों (गुणों) से युक्त संयम-साधक अणगार एकल-विहार-प्रतिमा धारण करने के योग्य होता है। वे आठ स्थान या गुण निम्न हैं—

१. **श्रद्धावान**—वह साधक जो अपने संयम एवं महाव्रतरूप जीवन के कर्तव्यों के प्रति पूर्ण आस्था रखता हो। ऐसे साधक के लिए मेरु पर्वत की भाँति सम्यक्त्व में अडोल और दृढ़ चारित्रवान होना आवश्यक है।

२. **सत्यवादी**—वह सत्यभाषी और अर्हत् प्ररूपक-तत्त्व-भाषी हो।

३. **मेधावी**—उसे श्रुत-ग्रहण की प्रखर बुद्धि से युक्त होना चाहिए।

४. **बहुश्रुत**—वह नौ-दश पूर्व के ज्ञान का धनी हो।

५. **शक्तिमान**—तपस्या, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पाँच तुलाओं से जो साधक अपने को तोल लेता है, वह शक्तिमान कहलाता है।

‘तपस्या-तुला’ पर तुलने का तात्पर्य है कि जो छह मास तक भूख से पराजित न हो। भय और निद्रा को जीतने का अभ्यास ‘सत्त्व-तुला’ है। इसके अभ्यास के लिए साधक को पहली बार उपाश्रय के भीतर सभी साधुओं के सो जाने पर रातभर कायोत्सर्ग करना चाहिए। दूसरी बार उपाश्रय के बाहर, तीसरी बार किसी चौराहे पर, चौथी बार

किसी शून्य गृह में और पाँचवीं बार किसी श्मशान में। तीसरी जो 'सूत्र-तुला' है, उसका तात्पर्य यह कि साधक सूत्र-परावर्तन से बिना सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र गति के काल प्रमाण को ज्ञात करने की क्षमता प्राप्त कर ले। 'एकत्व-तुला' के द्वारा वह शरीर और आत्मा को अलग-अलग मानता हुआ अखण्ड चैतन्य-पिण्ड का ज्ञाता और भेद-विज्ञान को जानने वाला बन जाता है। 'बल-तुला' के द्वारा साधक अपने मानसिक, वैचारिक, आत्मिक बल को इतना सशक्त बना लेता है कि भयंकर से भयंकर उपसर्गों व परीषहों के आने पर भी उनसे चलायमान नहीं होता।

जिन-कल्प धारण करने वाले साधक के लिए इन पाँच तुलाओं में उत्तीर्ण होना शास्त्रकारों ने आवश्यक माना है।

६. **अल्पाधिकरण**—एकल-विहार-प्रतिमा धारण करने वाले साधक को उपशान्त कलह की उदीरणा कर लेनी चाहिए तथा नये कलहों का उद्भावक नहीं होना चाहिए।

७. **धृतिमान**—वह रति-अरति में समभाव रखने वाला हो तथा अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करने में धैर्यवान हो।

८. **वीर्य-सम्पन्न**—स्वीकृत साधना में उस साधक का उत्साह निरन्तर बढ़ते रहना चाहिए।

□ आगमानुसार एकल-विहारी श्रमणचर्या

बन्धुओं ! वर्तमान में भी अनेक एकल-विहारी अणगार मिल जायेंगे, पर वे आगम की मान्यताओं की तुला पर खरे नहीं उतरेंगे। सूत्रकृतांगसूत्र के 'वैतालीय' नामक द्वितीय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में सूत्रांक १२२ से १२८ में एकल-विहारी मुनिचर्या का विस्तृत उल्लेख है—

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सया।
 भिक्खू उवधाणवीरिए, वड्ढगुत्ते अज्झत्तसंवुडो॥
 णो पीहे णा यावपंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजते।
 पुट्ठो ण उदाहरे वयं, न समुच्छे नोय संथरे तणं॥
 जत्थऽत्थमिए अणाउले, सम-विसमाणि मुणीऽहियासए।
 चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सिरसिवा सिया॥

तिरिया, मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽधियासिया।
लोमादीयं पि ण हरिसे, सुन्नागारगते महामुणी॥
णो अभिकंखेज्ज जीवियं, णो वि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुवेति भेखा, सुन्नगारगयस्स भिक्खुणो॥
उवणीततरस्स ताइणो, भयमाणस्स विवित्तमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाणं भए ण दंसए॥
उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्समुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु रायिहिं, असमाही उ तहागयस्स वि॥

ये सात गाथाएँ एकाकी विचरण करने वाले साधु में क्या योग्यताएँ हों तथा उनकी आचार-संहिता क्या हो, इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देती हैं।

□ एकल-विहार श्रमणचर्या के बावीस सूत्र

एकाकी विचरक संतों की इन गाथाओं में वर्णित आचार-संहिता का विवरण टीकाकार ने निम्न बाईस सूत्रों में दिया है—

- (१) एकाकी साधु कायोत्सर्ग, आसन व शयन अकेला ही करे।
- (२) सभी परिस्थितियों में समाधियुक्त होकर रहे।
- (३) मनोगुप्त, वचनगुप्त और तपस्या में पराक्रमी हो।
- (४) शून्य गृह का द्वार न खोले, न बन्द करे।
- (५) किसी के पूछने पर सावद्य-वचनयुक्त प्रत्युत्तर न दे।
- (६) मकान का कचरा न निकाले।
- (७) मकान में घास न बिछाए।
- (८) जहाँ सूर्यास्त हो जाये, वहीं क्षोभरहित होकर ठहर जाये।
- (९) अनुकूल और प्रतिकूल आसन, शयन और स्थान को सहन करे।
- (१०) वहाँ डांस-मच्छर आदि का उपद्रव हो या भयंकर राक्षसादि हों अथवा सर्प आदि हों तो उनको समभाव से सहन करे।

- (११) शून्यगार स्थित साधु दिव्य उपसर्ग या मनुष्य-तिर्यचगत उपसर्ग सहन करे।
 (१२) भयभीत न हो, रोंगटे खड़े न होने दे।
 (१३) भयंकर उपसर्ग पीड़ित होने पर भी पूजा प्रार्थी न हो, न मरने की इच्छा करे।
 (१४) शून्यगृह स्थित साधु सतत अभ्यास द्वारा वहाँ आये भयंकर प्राणियों को सहन करे।
 (१५) अपनी आत्मा को ज्ञान-दर्शन में स्थापित करे।
 (१६) स्व-पर-त्राता बने।
 (१७) विविक्त-आसन-सेवी बने।
 (१८) अपनी आत्मा में भय-संचरण न होने दे।
 (१९) गरम जल गरम-गरम ही पीये।
 (२०) श्रुत-चारित्रधर्म में स्थित रहे।
 (२१) असंयम से लज्जित हो।
 (२२) शास्त्रोक्त आचारवान मुनि भी असमाधिकारक राजादि का संसर्ग न करे।

□ वर्तमान में एकल-विहारी संत : कितना परिवर्तित दृष्टिकोण ?

बन्धुओं ! आज तो अनेक संत जरा भी मत-भिन्नता हुई कि संघाड़े से अलग हो एकल-विहारी बन जाते हैं। एकल-विहार की जड़ में आज जप, तप, संयम, नियम, गुणादि न होकर हठाग्रह, रसलोलुपता, सुविधाभोग, स्वेच्छाचरण ही मुख्य हैं। आगमकार लिखते हैं—एकाकी विचरण करने वाले साधु को कठोर साधना करनी पड़ती है। जरा-सी स्थान की, आहार की, पानी की प्रतिकूलता हुई या देखा कि लोगों द्वारा मेरे सम्मान-सत्कार में कमी आ रही है, तो मन उचाट हो जाता, वाणी में रोष-कठोरता व्याप्त हो जाती है। वस्तुतः एकाकीचर्या का लाभ उसे ही मिल सकता है, जो पहले अपने आप को एकलचर्या के योग्य बनाने का पूर्ण अभ्यास कर ले। अन्यथा एकाकीचर्या में लाभ की अपेक्षा संयम में हानि ही अधिक उठानी पड़ सकती है। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में बताया है कि

साधक असमाधि-स्थानों से दूर रहकर श्रुत, विनय, आचार एवं तप-इन चार प्रकार की समाधि में स्थित हो।

□ एकल-विहार और आठ अवगुण

वस्तुतः साधु यदि समूह या संघाड़े के साथ रहेगा तो उसे समूह की रीति-नीति अनुसार चलना पड़ेगा। उसे स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, शयन, आसन, प्रतिक्रमण आदि कालोकाल करने ही होंगे। साधु यदि एकल-विहारी हो गया किन्तु ग्राम के बाहर अवस्थित हो तो बाधा नहीं है। (वर्तमान में तो एकल-विहारी भी ग्राम के अन्दर या शहर के भीतरी भागों में ही अवस्थित होते हैं, जबकि यह एकाकीचर्या में निषिद्ध है)। पूर्वी का जिस काल से विच्छेद हुआ, उस काल से एकल-विहार आगम-मर्यादा के विरुद्ध हो गया। इस पर भी कोई एकाकी विहार करता है और उसे गर्गाचार्य-जैसे उद्धरण देकर उचित सिद्ध करता है तो यह श्रोताओं के अल्प-ज्ञान का लाभ उठाना ही सिद्ध होता है। मैं यदि एक पंक्ति में कहूँ तो वर्तमान के एकल-विहार शास्त्रोक्त आठ गुणों के स्थान पर आठ अवगुणों के कारण एकल-विहारी हैं, अकेले रहते हैं, अकेले विचरण करते हैं।

□ गर्गाचार्य का उत्कृष्ट संयम-पालन व मुक्ति

मुनिश्रेष्ठ गर्गाचार्य एकल-विहारी-प्रतिमा के आठ गुणों के धारक थे। अपने अन्तिम काल तक वे निरतिचार संयम का पालन करते रहे, एकल-विहारी बन समाधियुक्त रहे, उग्र तपश्चरण से पूर्व संचित कर्मबन्धन नष्ट कर अन्तिम समय में समाधियुक्त संथारा कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

□ जीवन में आदर्शों को उतारें तो सफलता, सिद्धि, मुक्ति

उत्तराध्ययनसूत्र के मोक्षगामी महान् तेजस्वी जिन साधकों को एक भवावतारी आचार्यश्री जयमलजी म. सा. ने अपनी 'बड़ी साधु वन्दना' की पच्चीसवीं कड़ी तक भाव-वन्दन कर सुस्मरण किया, इन सब का विस्तृत जीवन-प्रसंग, उनके विशेष आदर्श आपने चातुर्मास के विगत दिनों में सुने। अपनी इस रचना की छब्बीसवीं कड़ी में पूज्य आचार्य श्री जयमलजी म. सा. कहते हैं—

श्री उत्तराध्ययनमां, जिनवर कस्या बखाणा।
शुद्ध मन से ध्यावो, मन में धीरज आण॥२६॥

अर्थात् उत्तराध्ययनसूत्र में जिनेश्वर भगवान ने जिन राग-द्वेषजयी वीतरागी पुरुषों का वर्णन किया है, उनकी स्तुति यहाँ की गई है। श्रद्धालु जन शुद्ध मन से, धैर्य एवं संतोष के साथ इनका स्मरण कर अपने कर्म-भार को हलका बनाएँ।

आपको और हमें भी यही करना है। महापुरुषों के स्मरण द्वारा, उनके आदर्शों का ध्यान धर, जीवन को इसी अनुरूप बनाते हुए हम सभी कर्मों के भार को हल्का, और हल्का, और अधिक हल्का बनाते जायें तो जीवन के चरम एवं परम लक्ष्य मुक्ति के सोपान पर चढ़ सकेंगे। यही है अनन्त सुख, अनन्त शांति का मार्ग।

आनंद ही आनंद !



शंका टली : समकित मिली

(स्कंदक संन्यासी)

सेवो सिद्ध सदा जयकार, जांसे होवे मंगलाचार॥टेर॥
अजअविनाशी-अगम-अगोचर, अमल-अचल अविकार।
अन्तर्यामी त्रिभुवन स्वामी, अमित-शक्ति-भंडार॥१॥
कर-पणट्ठ-कमट्ठ-अट्ठ-गुणयुक्त मुक्त संसार।
पायो पद परमेष्ठी तास पद, वंदू बारम्बार॥२॥

आत्म-बंधुओं !

प्रातः प्रार्थना के पावन काल में सकल कार्य-सिद्ध महापुरुषों की यह स्तुति अनेकानेक बार आपने-हमने उच्चारित की है। पहली पंक्ति में कहा गया है कि यदि आचरण में मंगलता लानी है तो सिद्ध-प्रभु को भजें, उनकी सेवा करें, स्तुति करें। आगे की दो पंक्तियों में बताया गया है कि वे सिद्ध कैसे हैं ? क्या-क्या विशेष गुण हैं उनमें ? और उससे आगे चौथी व पाँचवीं इन दो पंक्तियों में उन्होंने परमेष्ठी पद कैसे प्राप्त किया, उसे प्राप्त करने पर उनको क्या विशिष्टताएँ प्राप्त हुई आदि बातों का वर्णन है। कहा है—“कर-पणट्ठ-कमट्ठ” अर्थात् आठों ही कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि) को प्रनष्ट (पूर्ण नष्ट) करके जो सिद्ध बन गए, इस कथन से गीतकार ने बताया कि कर्म सर्वथा नष्ट किए जाएँ, तभी सिद्ध-गति मिलती है और यही सिद्ध-गति साधक की सिद्धि है।

□ रुकना चाहते हैं पर रुकेंगे नहीं

जीव अनादिकाल से चार गति-चौरासी लाख जीवयोनियों में इन अष्ट-कर्मों का वेदन कर रहा है। वह कर्म बाँधता है, भोगता है, फिर बाँधता है, फिर भोगता है। यही क्रम अनादि से चल रहा है। आपको कहीं जाना है, आप अपने घर से यात्रा के लिए

तैयार होकर निकले, स्टेशन पहुँचे, पर गाड़ी अभी आई नहीं है। आप गाड़ी की प्रतीक्षा में समय व्यतीत करने के लिए मजबूर हैं। समय काटने के लिए आप चले जाते हैं 'प्रतीक्षालय' अर्थात् वेटिंग रूम में। बैठ जाते हैं वहाँ आप एक आरामदेह बेंच पर। वेटिंग रूम में अखबार है, पत्रिकाएँ हैं, चाय देने वाला है, नाश्ता देने वाला है। तात्पर्य यह कि आवश्यकता की अनेक सुख-सुविधाएँ हैं। शौच-गृह और स्नान-गृह भी हैं। आप इन सभी सुविधाओं को देख प्रसन्न होते हैं, सोचते हैं—यहाँ बड़ा आराम है, समय सरलता से कट सकता है। तभी गाड़ी की सीटी सुनाई देती है। गाड़ी आ रही है स्टेशन पर। आपको इसी गाड़ी में बैठकर अपने गन्तव्य पर जाना है। क्या आप वेटिंग रूम की सुख-सुविधाओं से संतुष्ट हो गाड़ी मिस (miss) कर देंगे, छोड़ देंगे अपनी यात्रा ? नहीं.... कदापि नहीं !

□ रुकना नहीं चाहते पर जाएँगे नहीं

इसी भाँति गाड़ी के न आने तक आपने जिस वेटिंग रूम में बैठकर गाड़ी का 'वेट' करने का निश्चय किया—वहाँ मच्छरों का उत्पात है, गंदगी से फर्श अटा पड़ा है। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, बैठने की बेंचें टूटी-फूटी दशा में हैं। अन्दर भोजन, चाय, पानी अनुपलब्ध हैं और यदि हैं भी तो इस तरह की गंदगी से युक्त कि चाह ही न हो उन्हें स्वीकार करने की। मजबूरी है आपकी कि आपको समय बिताने हेतु ऐसे स्थान पर रुकना पड़ा। आप वहाँ रुकना, ठहरना नहीं चाहते, पर गाड़ी लेट है। आपकी विवशता है कि आप वहाँ से हट नहीं सकते। अनेक दुःखों का वेदन करके भी आप वहाँ बैठे हैं, समय को पीछे धकेल रहे हैं। बाहर निकल भी आएँ तो कहीं सुरक्षित, आरामदेह स्थान नहीं है। आप वहाँ से निकलना चाहते हुए भी गाड़ी आए बगैर वहाँ से जा नहीं सकते।

□ कर्म है तो जीवन गतिमान है

बंधुओं ! यही बात आयुष्यकर्म के साथ है। जीव अपने अगले भव का आयुष्य इस भव में बाँध लेता है। जितना आयुष्य बँधा है, उतना भोगे बिना जीव आगे अन्य योनि में नहीं आ सकता। कैदी जेल में से छूटना चाहता है, पर सजा का समय पूर्ण हुए बगैर छूट नहीं सकता तथा सजा पूर्ण होने के बाद यदि वह रुकना भी चाहेगा तो कोई उसे वहाँ रुकने नहीं देगा।

जब तक आयुष्य है, जीवन का सफर गतिमान है। आयुष्य जिस दिन पूर्ण होगा, गाड़ी स्वतः अगले सफर की तैयारी कर लेगी और जैसे ही नए जीवन के लिए हरी झंडी मिलेगी, गाड़ी यह स्टेशन छोड़, अगले स्टेशन के लिए रवाना हो जाएगी। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन और उसमें भी विशेषतः जैनदर्शन विशुद्धतः कर्मवाद की आधारशिला पर अपनी भव्याकृति टिकाए सुस्थित है। जैनदर्शन की मान्यता है कि जड़ द्रव्यों में पुद्गल एक द्रव्य है। 'पच्चीस बोल' में बीसवाँ बोल है छह (षट्) द्रव्यों के तीस भेद। यहाँ छह द्रव्यों के नामों में धर्मास्तिकाय आदि बताए हैं—इनमें एक पुद्गलास्तिकाय भी है। कर्मवर्गणा भी पुद्गल ही हैं। ये 'कर्म' परमाणु समूह रूप अनंत प्रदेशी चउस्पर्शी स्कंध होते हैं। अतः सूक्ष्म भौतिक द्रव्य माने जाते हैं। इन कर्मों से आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित होने को ही कर्मबंधन कहा जाता है। बंधन चाहे वह कैसा भी हो, महान् दुःख का कारण है। समस्त दर्शन और समग्र आध्यात्मिक चिन्तन जिस एक ही दिशा में सदैव प्रवाहित रहा है, वह दिशा है बंधन से मुक्ति की ओर।

□ क्या है कर्मबंधन ?

आत्मा का अनात्मा से, जड़ का चेतन से या देह का देही से जो संयोग है, वह विजातीय तत्त्वों का सम्बन्ध है और वही बंधन है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने 'कर्मग्रंथ' में स्पष्ट किया है—“आत्मा जिस शक्ति-विशेष से कर्म-परमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीव (आत्म) प्रदेशों से सम्बन्धित करता है तथा इस सम्बन्ध के कारण कर्म-परमाणु और आत्म-प्रदेश एक-दूसरे को जिस तरह प्रभावित करते हैं—वह बंधन है।” इसी तरह आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में बताया है कि “जीव अपने कषायभाव के कारण जिस तरह कर्म-पुद्गलों से आक्रांत होता है, वह क्रिया ही कर्मबंधन है।”

□ कर्मबंध का कारण : आश्रव

आचार्य उमास्वाति लिखते हैं—कर्मबंध का मुख्य कारण आश्रव है।

क्या आपमें से कोई बताएगा कि आश्रव किसे कहते हैं ? कोई नहीं ! खैर मैं ही बता देता हूँ, आत्मा में कर्मवर्गणा के परमाणु-पुद्गलों के आने के द्वार को आश्रव कहा गया है। इसे संवर यानि त्याग व्रत से रोका जा सकता है।

जिन महापुरुषों ने चतुर्विध कषायों को क्षीण कर दिया है, उपशान्त बना दिया है, उनकी क्रियाओं के द्वारा जो आश्रव होता है वह ईर्यापथिक आश्रव होता है, अर्थात् चलते समय मार्ग की धूलि के कण वस्त्र पर लगते हैं, पर अगले ही क्षण अलग हो जाते हैं। कषायरहित क्रिया की भी यही दशा है। प्रथम क्षण में आश्रव होता है, पर अगले ही क्षण वह निर्झरित हो जाता है।

□ देह है तो कर्म हैं : कर्म हैं तो देह है

इस कर्म-सिद्धान्त-निरूपण से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक देह है, तब तक कर्मबंधन होंगे ही। कर्मबंधन से छूटना है, मुक्ति प्राप्त करना है तो साधक को निष्कर्म बनना होगा, अयोगी बनना होगा, स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से छूटना होगा। भगवतीसूत्र के अठारहवें शतक के आठवें उद्देशक में गणधर गौतम ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान महावीर के सम्मुख अपनी जिज्ञासा रखी—“हे प्रभु ! एक भवितात्मा अणगार (9३वें गुणस्थानवर्ती श्रमण) ध्यानपूर्वक, विवेक के साथ अपने आगे की साढ़े तीन हाथ प्रमाण जमीन को देखता हुआ चल रहा है। ऐसे समय में एक क्षुद्र प्राणी अचानक उसके पाँव के नीचे आकर दब जाता है और काल-कवलित हो जाता है। उस श्रमण को कैसी क्रिया लगेगी ?”

प्रभु फरमाते हैं—“हे गौतम ! साधक के चलने की क्रिया में विवेक है और है कषाय का अभाव। अतः उसे ईर्यापथिक क्रिया ही लगेगी।”

□ कब बँधते हैं कर्म ?

बात चल रही थी आयुष्यकर्म की। आठ कर्मों में से आयुष्य को छोड़ शेष सात कर्म तो निरन्तर बँधते रहते हैं, आयुष्यकर्म जीवन में एक ही बार बँधता है और वह भी अगले जन्म के लिये, जबकि बाकी के सात कर्म आने वाले पहले, दूसरे या संख्यातवें किसी भी भव के लिए बँध सकते हैं, अर्थात् बँधे हुए कर्म कितने ही भवों बाद उदय में आ सकते हैं। आयुष्यकर्म जीवन के दो-तिहाई आयुष्य बीतने व एक-तिहाई शेष रहने पर बँध सकता है। उस समय नहीं बँधे तो शेष आयु के दो-तिहाई बीतने व एक-तिहाई शेष रहने पर बँधता है। उस समय भी नहीं बँधे तो आगे भी यही क्रम रहता है, पर आयुष्य पूर्ण होने से पूर्व बँधता जरूर है, यदि उसका संसार परिभ्रमण शेष है तो।

□ प्रतिपल उत्तम विचार रखें

आयुष्यकर्म का बंधन जीवन में जिस समय भी हो, उस समय जीव के मन के जैसे अध्यवसाय होते हैं, उसी के आधार पर उसे भोगा जाता है। उत्तम अध्यवसायों में बँधा है आयुष्यकर्म, तो आने वाले भव में उत्तम शरीर, उत्तम जाति, उत्तम कुल, वैभव आदि की प्राप्ति होती है। उत्तम श्रुत और उत्तम संगति मिलती है। आप सभी को उत्तम कुल, उत्तम धर्म, देव-दुर्लभ मानव-भव, शास्त्र-श्रवण के प्रसंग, धर्माचरण के प्रसंग आदि मिले हैं तो यह मानकर चलें कि निश्चय ही आपने अपने इस जन्म का पूर्वभव में जो आयुष्य बंध किया, वह उत्तम भावों, उत्तम अध्यवसायों, उत्तम विचारों में किया है। इस जीवन में न मालूम कब अगले भव का आयुष्य बंध हो। अतः सजग-सचेत बनकर प्रतिपल-प्रतिक्षण उत्तम विचार रखें। धर्मशास्त्रों का, धर्म-गुरुओं का यही सन्देश है। उत्तम विचारों के साथ धर्माचरण करेंगे तो मुक्ति का पथ प्रशस्त होगा।

□ संन्यासी खंधक

जिन महान् पुरुषों ने उत्तम अध्यवसायों से, उत्तम धर्माचरण करते हुए श्रेष्ठ संयम का पालन किया और मुक्ति-पथ प्रशस्त कर मुक्ति में जा विराजे या मुक्ति के अधिकारी बने, ऐसे ही बिरले महापुरुषों के गुणानुरागी आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. गुणानुवाद कर रहे हैं। वे स्वयं गुणी थे, अतः उन्हें गुणवान महापुरुष और उनके महान् गुण ही ध्यान में रहते थे। अवगुणी केवल अवगुण देखता है, गुणी पुरुषों में भी उसकी नजर अवगुण ही ढूँढ़ती है, पर गुणी पुरुष सदैव गुणियों के गुण पर ही दृष्टिपात नहीं करते, अपितु अवगुणी पुरुष हों तो भी उनमें गुण देखकर उन्हें ग्रहण करने में प्रयत्नशील बनते हैं।

हमारे आज के प्रवचन का प्रसंग है, स्कंधक संन्यासी। 'बड़ी साधु वन्दना' में पूज्य श्री जयमलजी म. सा. कहते हैं—

वलि खंधक संन्यासी, राख्यो गौतम स्नेह।

महावीर समीपे, पंच महाव्रत लेह॥२७॥

तप कठिन करीने, झौंसी आपणी देह।

गया अच्युत देवलोके, चवि लेसी भव छेह॥२८॥

□ गणधर गौतम के पूर्व परिचित खंधक का गौतम से मिलन

भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी तथा संन्यासी खंधक के दीक्षा-पूर्व का परिचय था, मैत्री थी। एक बार प्रभु राजगृही नगरी के गुणशील उद्यान से विहार कर जनपदों में विचरण करते हुए कृतंगला नामक नगरी में पधारे और नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित छत्रपलाश नाम के चैत्य (उद्यान) में विराजे। यहाँ प्रभु का समवसरण लगा, धर्मोपदेश हुए, जनता धर्मोपदेश-श्रवण हेतु आने लगी। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु ने यहाँ गणधर गौतम को अपने पास बुलाया और कहा—“गौतम ! आज तुम अपने पूर्व के साथी को देखोगे।” गौतम स्वामी के पूछने पर प्रभु ने नाम बताया—“स्कंदक तापस को।” इस पर गौतम स्वामी ने पूछा—“अहो भगवन् ! उसके यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?”

□ मिलने का प्रयोजन, पाँच प्रश्न

प्रभु ने तब सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। उन्होंने कहा—“हम जहाँ स्थित हैं, उस स्थान से कुछ ही दूरी पर श्रावस्ती नामक नगरी है। उस नगरी में गर्दभाल परिव्राजक का शिष्य कात्यायन गोत्रीय तुम्हारा पूर्व परिचित स्कंदक तापस वेदों का, इतिहास और पुराणों का सांगोपांग ज्ञाता, पाठक, धारक व पारक है। वह गणित, छन्द, काव्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष आदि अनेक शास्त्रों में निष्णात तथा नीति एवं दर्शनशास्त्रों का धुरन्धर ज्ञाता है।”

इसी श्रावस्ती नगरी में पिंगल नामक निर्ग्रन्थ साधु एक बार स्कन्दक तापस के यहाँ गया और उससे आक्षेपपूर्वक पाँच प्रश्न पूछे—

१. लोक सान्त है या अनन्त है ?
२. जीव सान्त है या अनन्त है ?
३. सिद्धि सान्त है या अनन्त है ?
४. सिद्ध सान्त है या अनन्त है ?
५. किस प्रकार के मरण से जीव संसार बढ़ाता है और किस प्रकार के मरण से जीव संसार घटाता है ?

□ समाधान-प्राप्ति के लिए प्रभु के समवसरण में तापस स्कंदक

स्कंदक तापस इन प्रश्नों के उत्तर न देकर चुपचाप रह गया। वह सोचने लगा—‘जो उत्तर मैं इन प्रश्नों के दूँगा, क्या वे उत्तर सही होंगे ?’ इस तरह उसके मन में शंका की उत्पत्ति हो गई। शंका के बाद कांक्षा भी उद्भूत हुई—‘इनको शायद सही उत्तर आते होंगे, मैं कैसे जानूँगा ? मुझे कैसे आँगे इन प्रश्नों के उत्तर ?’ **वितिगिच्छा (विचिकित्सा)** के रूप में उसके मन में यह विचार आया—‘मैं जो उत्तर दूँ तो उससे जिज्ञासु-प्रश्नकर्ता जो निर्ग्रन्थ है, वह शान्त, सन्तुष्ट होंगे या नहीं ? उन्हें सन्तुष्टि नहीं हुई तो वे मुझे क्या कहेंगे ?’

तापस की बुद्धि में खेद और मन में क्षोभ उत्पन्न हो गया। अब वह सोचने लगा—‘मैं क्या करूँ, मैं तो कुछ जानता नहीं, फिर किन से सत्य-समाधान प्राप्त करूँ ?’

धर्मप्रेमी बंधुओं ! मान्यता, विश्वास, आस्था, श्रद्धा, दृष्टि यदि विवेकपूर्ण और सत्य-सिद्धान्ताधारित है तो सम्यक् है और यदि वह असत्य की आधारभूमि लिए है तो मिथ्या है। सम्यक् विश्वास में जब शंका आए, कांक्षा उत्पन्न हो, विचिकित्सा हो तो वह सम्यक्त्व को मलिन बनाती है और यदि मिथ्या-मान्यता में शंका आदि की उत्पत्ति हो तो सम्यक्त्व की ओर गति करने की दृष्टि बनने लगती है।

प्रभु महावीर ने गौतम से कहा—“हे गौतम ! उन्हीं पाँच प्रश्नों के समाधान हेतु तुम्हारा पूर्व साथी स्कंदक तापस यहाँ आएगा ?”

इस पर गौतम स्वामी ने प्रभु से पूछा—“प्रभु ! क्या वह स्कंदक परिव्राजक आपके पास मुण्डित होकर अणगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है ?”

प्रभु ने फरमाया—“हाँ गौतम ! वह मेरे पास अणगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है।”

बंधुओं ! इधर प्रभु अपने शिष्य गौतम को बता रहे थे, उधर यही हो रहा था। वैशालिक श्रवणरसिक पिंगलक निर्ग्रन्थ के द्वारा उपर्युक्त पाँच प्रश्न पूछे गए। स्कंदक उनका उत्तर न दे सका। उसके मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे।

स्कंदक तापस चिन्तन करने लगा—‘सत्य-समाधान कहाँ मिलेगा ? कौन है ऐसा विज्ञ, सर्वज्ञ जो मुझे इस पिंगल-निर्ग्रन्थ द्वारा पूछे गए इन पाँच प्रश्नों का सौ प्रतिशत सही समाधान दे सके ?’

उधर वह तापस इस प्रकार का चिन्तन कर रहा था, इधर श्रावस्ती नगरी के सहस्रों जिन-भक्त यह सुनकर कि प्रभु महावीर निकट ही कृतंगला नगरी में छत्रपलाश उद्यान में विराजे हैं, प्रभु के दर्शन करने, उन्हें वन्दन करने, उनका उपदेश श्रवण करने हेतु श्रावस्ती से निकलकर कृतंगला की ओर जाने लगे। प्रभु दर्शनार्थ जाते हुए इन लोगों के मुँह से स्कंदक ने भी सुना कि कृतंगला नगरी के बाहर छत्रपलाश उद्यान में महावीर पधारे हैं तो उसके भी मन में विचार आया—‘मैं भी उन महनीय महापुरुष के दर्शन करूँ, उन्हें वन्दन करूँ और उनसे इन पाँच प्रश्नों का उचित समाधान प्राप्त करूँ।’

स्कंदक तापस था। अतः प्रभु के पास जाने के लिए संकल्पित हुआ तो अपने लिए नियत परिव्राजकों के मठ में गया। वहाँ जाकर उसने तापस के धारण करने योग्य गेरुए वस्त्र धारण किये, रुद्राक्ष की माला गले में डाली, पैरों में खड़ाऊँ पहनीं, भाल पर त्रिदण्ड अंकित किया, छाता लिया और आसन विशेष साथ लेकर श्रावस्ती नगरी के राजमार्गों से होते हुए कृतंगला नगरी के छत्रपलाशक उद्यान की ओर प्रस्थान किया, जहाँ प्रभु महावीर विराजमान थे।

□ गौतम द्वारा स्कंदक का सुस्वागत : कारण तापस का मिथ्यात्व आज नष्ट

जब स्कंदक परिव्राजक उस प्रदेश में पहुँचा, जहाँ प्रभु महावीर विराजमान थे, तब प्रभु और गौतम उन्हीं के आगमन के विषय की बातें कर रहे थे। स्कंदक को समवसरण के निकट आया जानकर गौतम स्वामी अपने आसन से उठे, स्कंदक के सामने आए और बोले—“आओ स्कंदक ! तुम्हारा सुस्वागत है !”

बंधुओं ! गौतम स्वामी अत्यन्त प्रसन्न थे। प्रसन्नता इस बात की नहीं थी कि उनसे उनका एक पूर्व परिचित मिल रहा था, बल्कि प्रसन्नता का कारण था अपने पूर्व परिचित के मिथ्यात्व के नष्ट होने के प्रसंग की उपस्थिति। स्वयं गौतम स्वामी प्रभु महावीर की चरण-सेवा में प्रथम बार उपस्थित हुए, तब वे मिथ्यात्वी थे, इन्हीं चरण-शरण की कृपा से ही तो उनकी आत्मा का उद्धार हुआ था।

□ आज तापस का उदाहरण देकर मिथ्यात्वी व कुतीर्थी जनों को आदर देना क्या उचित है ?

गौतम स्वामी तो निश्चय में जानते थे कि स्कंदक परिव्राजक का मिथ्यात्व नष्ट होने वाला है, पर आज न तो वैसा दृढ़ सम्यक्त्व है और न ही किसी के पास इस तरह

का ज्ञान कि निश्चय में कुछ जान सके ? आज बड़े-बड़े समारोह आयोजित होते हैं, जिनमें अन्य तीर्थिक साधु-संतों, महंत-मठाधीशों को आमन्त्रित किया जाता है। स्वयं जैनधर्म में दीक्षित निर्ग्रन्थ संत उनके प्रशस्ति गीत सुनाते हैं और संकेत देकर, भरे समारोह में बोलकर, कहकर उनका सम्मान कराते हैं—क्या है यह सब ? क्या यही धर्म है ? क्या यही सम्यक्त्व है ? क्या यही है जिनवचनों में श्रद्धा और प्रतीति ?

□ क्या साधु को इससे सम्यक्त्व में दोष नहीं लगता ?

सम्यक्त्व के सड़सठ बोल के स्तोक में सम्यक्त्व के पाँच दूषण बताए गए हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाषंड-प्रशंसा, पर-पाषंड-परिचय। सम्यक्त्व के ये अतिचार-दोष सम्यक्त्व को मलिन बनाते हैं। क्या मिथ्यामति लोगों, जिनधर्म के विपरीत प्रचारकों की प्रशंसा करना, उनके जप-तप, साधना की या उनकी जो मुग्ध कर देने वाली शब्द-सृष्टि है, भाषण-कला है, वक्तृत्व शैली है, उस पर मुग्ध हो जाना और इस गुण के कारण उनका सम्मान करना सम्यक्त्व में दोष नहीं है ? चिन्तक, मनीषी, प्रबुद्ध जन इस पर विचार करें, जैन समाज के अग्रणी अपनी आँखों से सस्ती प्रसिद्धि, मिथ्या प्रदर्शन, मिथ्या गौरव, पद-लिप्सा आदि के परदे हटाकर इस विषय पर सोचें और कुछ ठोस निर्णय लें, जिससे संयम की शिथिलता, सम्यक्त्व के अतिचार आदि से बचा व बचाया जा सके। समय रहते इस समकित रत्न की सुरक्षा के पूर्ण प्रयत्न होने ही चाहिए।

□ सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने बताया था

गौतम स्वामी ने उन्हें भावी संयमी, अणगार, विशुद्ध सम्यक्त्व में आने वाला व्यक्ति मानकर उनका स्वागत किया और उन स्कंदक परिव्राजक से कहा—“हे स्कंदक ! श्रावस्ती के पिंगल-निर्ग्रन्थ ने तुमसे पाँच प्रश्न किए थे, जिनके उत्तर तुम नहीं दे सके। अतः उनके समाधान हेतु भगवान महावीर के पास आए हो।” इतना कह गौतम स्वामी ने वे ही पाँच प्रश्न स्कंदक के समक्ष दोहरा दिए और पूछा—“क्या यह बात सत्य है या नहीं ?”

स्कंदक ने कहा—“हाँ गौतम ! यह सत्य है ! पर तुम्हें मेरे मन की बात और इस सारे वृत्तान्त का पता कैसे चला ?”

इस पर गौतम स्वामी ने मुस्कराकर कहा—“स्कंदक ! मेरे धर्मगुरु श्रमण भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, उन्होंने ही मुझे यह सब वृत्तान्त और तुम्हारे मन की गुप्त बात बताई है।”

□ तापस के प्रश्नों का समाधान

गौतम स्वामी ने यह कहकर स्कंदक को अपने साथ लिया और जहाँ उनके धर्मगुरु भगवान महावीर थे, वहाँ आए। प्रभु महावीर उस काल में व्यावृत्त-भोजी (प्रतिदिन सूर्य के प्रकाश में आहार करने वाले) थे। अतः उनके शरीर की शोभा अद्वितीय थी। उन्हें देख स्कंदक अत्यन्त हर्षित हुआ, निकट आकर उसने दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार कर प्रभु की पर्युपासना की। तब भगवान महावीर ने उससे कहा— “स्कंदक ! जिन पाँच प्रश्नों के समाधान हेतु तुम उपस्थित हुए हो, उनके उत्तर सुनो।”

□ लोक : सांत भी, अनंत भी

पिंगलक का पहला प्रश्न था—लोक सांत है या अनन्त ? हे स्कंदक ! लोक के चार भेद हैं—द्रव्य-लोक, क्षेत्र-लोक, काल-लोक और भाव-लोक। उन चारों में से द्रव्य से लोक एक है और अन्त वाला है। क्षेत्र से लोक असंख्य कोटाकोटि योजन लम्बा-चौड़ा है। अतः अन्त वाला है। काल से लोक पूर्व में प्रत्येक काल में था, वर्तमान के हर काल में और भावी प्रत्येक काल में रहेगा। अतः अनादि-अनंत है। भाव से लोक अनंत वर्ण-गंध-रस-पर्यायरूप है। अतः अनंत है। इस प्रकार हे स्कंदक ! द्रव्य-लोक सांत है, क्षेत्र-लोक सांत है, काल-लोक अनंत है और भाव-लोक भी अनंत है।

□ द्रव्य व क्षेत्र से जीव सांत, पर काल व भाव से अनंत

दूसरा प्रश्न जीव के विषय में था। द्रव्य से जीव एक द्रव्य है—अंत सहित है। क्षेत्र से जीव असंख्यात प्रदेशी है—अंत सहित है। काल से जीव नित्य है—अन्तरहित है और भाव से जीव के अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायरूप है। अतः अन्तरहित है। इस प्रकार द्रव्य एवं क्षेत्र से जीव सांत तथा काल एवं भाव से जीव अनंत है।

□ सिद्धि और सिद्ध भी सांत व अनंत

ऐसा ही तीसरा प्रश्न सिद्धि के विषय में था, सो हे स्कंदक ! सिद्धि भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से चार प्रकार की है। द्रव्य से सिद्धि एक है। अतः अंत सहित है। क्षेत्र से सिद्धि पैतालीस लाख योजन की लम्बी-चौड़ी तथा एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ झाड़ेरी (विशेषाधिक) परिधि वाली है। अतः अन्त सहित है। काल से सिद्धि अनादिकाल से है और अनंत काल तक रहेगी। अतः

अनंत है। भाव से सिद्ध अनंत वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-गुरुलघु-अगुरुलघु-पर्यायरूप है। अतः अंतरहित है। इस प्रकार सिद्ध सांत भी है, अनंत भी है।

चौथे प्रश्न का समाधान देते हुए प्रभु महावीर ने स्कंदक परिव्राजक को बताया कि सिद्ध भी द्रव्य से एक हैं। अतः सांत हैं। क्षेत्र से असंख्य प्रदेश वाले तथा असंख्य आकाश-प्रदेशों की अवगाहना किए होते हैं सिद्ध। अतः अंत सहित हैं। काल से कोई भी एक सिद्ध सादि अनंत है। भाव से सिद्ध अनंतज्ञान-चारित्र-गुरुलघु-अगुरुलघु-पर्यायरूप है। अतः अनंत हैं। इस प्रकार हे स्कंदक ! सिद्ध सांत भी हैं और अनंत भी।

□ बालमरण : पंडितमरण

अंतिम और पाँचवें प्रश्न में संसार घटाने और बढ़ाने वाले दो तरह के 'मरण' की व्याख्या करते हुए सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर महावीर ने कहा—“हे स्कंदक ! मैंने मरण के दो प्रकार बताए हैं—बालमरण और पंडितमरण।”

बालमरण बारह प्रकार का होता है—

१. बलन्मरण—तड़फते हुए मरना।
२. वशार्तमरण—विषयों के वशीभूत होकर पराधीनता में तिल-तिलकर मरना।
३. अन्तःशल्यमरण—शस्त्रादि के शरीर में प्रवेश से या सन्मार्ग से भटककर मरना।
४. तद्भवमरण—मरकर उसी भव में पुनः उत्पन्न होना और मरना।
५. गिरिपतन—पर्वत से गिरकर मरना।
६. तरुपतन—पेड़ से कूदकर मरना।
७. जल-प्रवेश—पानी में डूबकर मरना।
८. ज्वलन-प्रवेश—अग्नि में प्रविष्ट होकर, जलकर मरना।
९. विषभक्षण—विष से मरना।
१०. शस्त्रावपाटन—शस्त्राघात से मरना।
११. वैहानसमरण—फाँसी द्वारा मरना।
१२. गृध्रपृष्ठमरण—गिद्ध जैसे पक्षियों द्वारा पीठ आदि शारीरिक अवयवों का माँस खाए जाने से मरण प्राप्त करना।

इन बारह प्रकार के बालमरण में जीव यदि मरता है तो वह अनंत बार नारक भवों को प्राप्त करता है, नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देव इस चातुर्गतिक अनादि-अनंत संसाररूप वन में बार-बार परिभ्रमण करता है। इस तरह बारह प्रकार के बालमरण से जीव अपने संसार को बढ़ाता है।

हे स्कंदक ! बालमरण संसार बढ़ाता है तो पंडितमरण संसार घटाता है। पंडितमरण दो प्रकार का है—पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान।

पादपोपगमन में यावज्जीवन चारों आहारों का त्याग कर जीव वृक्ष की कटी हुई शाखा की भाँति स्थिर, निश्चल, अडिग होकर मरण प्राप्त करता है। यह पादपोपगमन पंडितमरण भी दो प्रकार का है—निर्हारिम और अनिर्हारिम।

बंधुओं ! यहाँ निर्हार शब्द का अर्थ है—बाहर निकलना। जिस साधक का जीव भक्त-प्रत्याख्यान या पादपोपगमन पंडितमरण से उपाश्रय में निकलता है और फिर उसकी पार्थिव देह को उपाश्रय से बाहर निकालकर संस्कारित किया जाता है, वह निर्हारिम पंडितमरण है। यदि साधक अरण्य में पंडितमरण प्राप्त करता है तो उसके पार्थिव शरीर को वहाँ से कहीं बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह अनिर्हारिम पंडितमरण कहलाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान पंडितमरण का अर्थ है—यावज्जीवन तीन या चारों ही आहारों का त्याग कर शरीर की सार-सँभाल न करते हुए मृत्यु को प्राप्त करना।

पादपोपगमन 'अप्रतिकर्म' होता है अर्थात् संधारे की अवस्था में दूसरे मुनियों से किसी भी प्रकार की सेवा नहीं कराई जाती है। भक्त प्रत्याख्यान 'सप्रतिकर्म' होता है। इस संधारे में दूसरे मुनियों से सेवा कराई जा सकती है।

भक्त-प्रत्याख्यान या पादपोपगमन—दोनों ही प्रकार के पंडितमरणों से जीव जब मरता है तो नरकादि अनंत-भवों, दुर्गतियों को प्राप्त नहीं करता और चातुर्गतिक अनादि-अनंत संसाररूप वन में पुनः-पुनः परिभ्रमण नहीं करता, अर्थात् वह अपने संसार-परिभ्रमण को घटाते हुए संसाररूपी अटवी को पार कर जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें अध्याय की तीसरी गाथा में बताया है—

बालाणं तु अकामं तु, मरणं असङ्गं भवे।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सङ्गं भवे॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो बाल अर्थात् अज्ञानी जीव हैं, वे अकाम मृत्यु से मरते हैं और पुनः-पुनः मरण को प्राप्त करते हैं, अर्थात् बार-बार जन्म-मरण करते हैं। लेकिन जो पंडित अर्थात् ज्ञानी-पुरुष हैं उनका मरण 'सकाममरण' होता है और ऐसा मरण उत्कृष्ट एक बार ही होता है (केवल ज्ञानियों की अपेक्षा), उन्हें पुनः मरना नहीं पड़ता, वे अमर हो जाते हैं, मुक्त बन जाते हैं।

□ पंडितमरण के अन्य नाम

पंडितमरण को उसके भिन्न-भिन्न विशिष्ट गुणों के कारण, भिन्न-भिन्न पाँच प्रकार के नामों से जाना जाता है—(१) मुमुक्षु जीवों की कामना जन्म-जरा-मृत्यु से बचने की होती है। इस कामना की सिद्धि जिस मरण से हो वह 'सकाममरण' के नाम से जाना जाता है। (२) सब प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि से चित्त जब निवृत्त होता है और शांति के साथ धर्मध्यान में लगा रहता है तभी सकाममरण होता है। अतः इसका दूसरा नाम 'समाधिमरण' है। (३) मृत्यु के समय तीन या चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है। अतः यह 'अनशन' भी कहलाता है। (४) अन्तिम बार तृण, घास आदि बिछौने में शयन करने के कारण इसे 'संधारा' भी कहते हैं। (५) सकाममरण के समय अपने जीवनभर के दोषों का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण कर उनकी आलोचना, निन्दा, गर्हा की जाती है एवं माया, मिथ्यात्व, निदान रूप तीनों शल्यों को दूर किया जाता है। अतः इसे 'संलेखना' भी कहा जाता है।

□ पंडितमरण (संधारा) आत्मघात नहीं है

सकाममरण अथवा पंडितमरण को संधारा, संलेखना, समाधि, अनशन आदि नाम देने से यह तो स्पष्ट है कि इस प्रकार के मरण में साधक मृत्यु के आगमन से पहले ही आहार-पानी आदि का परित्याग करके मृत्यु के सन्मुख होकर मरण को आमंत्रण देता है। क्या यह आत्मघात, आत्महत्या, अपघात जैसा ही महापाप नहीं है ? ऐसा प्रश्न अनेक अज्ञानी, अविवेकी, अविचारी, अल्पमति पुरुषों द्वारा किया जाता है।

वस्तुतः आत्मघात और समाधिमरण में आकाश-पाताल का अन्तर है। साम्प्रदायिक विद्वेषवश कभी दो सम्प्रदायों में लाठी-भाटा जंग हो जाए या दो लुटेरों के या दो डाकुओं के दल आपस में भिड़ जाएँ, ऐसी स्थिति में राग-द्वेष युक्त क्रूरता वाला व्यक्ति किसी प्रसिद्धि को, किसी विशिष्ट शुभ फल को प्राप्त नहीं करता।

सेना में लड़ने वाला सैनिक यदि युद्ध-कौशल का प्रदर्शन कर मरण प्राप्त करता है तो राष्ट्र उसका सम्मान करता है।

इन दो उदाहरणों में प्रत्यक्ष है कि मरण-मरण में अन्तर तो है ही। आत्मघात और संधारापूर्वक मरण में भी गहन अन्तर है। आत्मघात करने वाला व्यक्ति कषाय के वशीभूत होकर आत्मघात करता है, कभी वह क्रोध में पागल होकर अपघात करता है तो कभी अपना मान खंडित देखकर कुँ-बावड़ी की शरण लेता है। कभी सांसारिक दुःखों से, आत्मीय-जनों के बिछोह से, व्यवसाय में घाटा होने से विष पीता है, अग्नि प्रवेश करता है, चाकू मारकर मर जाता है या स्वयं पर बन्दूक की गोली दाग लेता है। उसकी मृत्यु में हाय है, त्रास है, पागलपन है, प्रलाप है, राग-द्वेष है, ईर्ष्या है।

इसके अतिरिक्त आत्मघात करने वाला जीव कभी यह विचार नहीं करता कि अब मेरे जीवन का अन्त निकट है, उसमें तो हठात् प्राण-त्याग किया जाता है, जबकि समाधिमरण का रूप-स्वरूप इससे बिलकुल अलग है।

समाधिमरण क्रोध-मान-माया-लोभ इन कषाय-चतुष्क के उदय की दशा में नहीं किया जाता। यह तो कषायों के उपशान्त होने पर ही किया जाता है। इसमें साधक की केवल आत्म-कल्याण की भावना रहती है। वह संसार ही नहीं, अपितु स्वयं अपने शरीर की आसक्ति से हटकर चारों या तीनों आहारों का त्याग करता है। साधक संधारा तब करता है जब वह यह महसूस करता है कि मृत्यु सन्निकट है या कोई ऐसा उपसर्ग जिसमें जान जा सकती है या असाध्य रोग या दुर्भिक्ष आदि उपस्थित हो जाएँ और उनके कारण प्राणों पर संकट आ पड़े।

इस तरह मृत्यु को सन्निकट जान प्रसन्न भाव से या समभावपूर्वक शरीर से ममता हटाकर शान्ति और समाधि के साथ मृत्यु का वरण ही समाधिमरण है।

‘पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय’ नामक ग्रंथ में बताया है—

नियन्त्रेऽत्र कषायाः हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।

संल्लेखनामपिततः प्राहुरहिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्॥

अर्थ यह है कि हिंसा के कारणरूप कषायों को कम करने के लिए जो कार्य किया जाता है, उसे अहिंसा ही कहते हैं। अतः अहिंसा की सिद्धि के लिए किया जाने वाला संल्लेखना व्रत भी अहिंसारूप ही है। उसमें आत्मघात रूप हिंसा किंचिन्मात्र भी नहीं है।

एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि जैनधर्म के अनुसार, आगम कथन के अनुसार मानव का भव अत्यंत दुर्लभ बतलाया है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं' के अनुसार इस मानव शरीर की रक्षा एवं पालन-पोषण करने से ही व्रत, संयम आदि धर्म-साधनाएँ होती हैं, शुद्ध उपयोग होता है। ऐसे उपकारी शरीर की तो रक्षा करनी ही चाहिए। संथारा करके उसे नष्ट कर देना उचित कैसे कहा जाए ?

□ समाधिमरण क्यों उचित ?

बंधुओं ! शरीर द्वारा धर्म-साधना होती है अतः उसकी सार-सँभार उचित है पर चरम और परम लक्ष्य की प्राप्ति करनी है तो चरम और परम धर्म-साधना रूप समाधिमरण करना ही होगा। उदाहरण के लिए, एक व्यवसायी ने धन-लाभ अर्जित करने हेतु किसी व्यवसाय का प्रारंभ किया। एक दिन उसके व्यावसायिक संस्थान में आग लग जाती है। वह कोशिश करता है कि उसका वह संस्थान अग्नि से बच जाए, जले नहीं पर जब वह अनुभव करता है कि संस्थान तो जलने से अब बच नहीं सकता तब वह क्या करेगा ? तब वह तिजोरी में रखे धन एवं अन्य कीमती पत्रों-पदार्थों को बचाने के लिए प्रयत्नशील बनेगा।

इसी प्रकार आत्म-साधक इस शरीररूपी दुकान की सहायता से तप, संयम, परोपकार आदि अनेक लाभ उपार्जन करते हैं और इसी लाभ के लिए अन्न-वस्त्र आदि से उसका पोषण करते हैं। कभी रोगरूपी साधारण आग लगने पर औषधादि सेवन द्वारा उसकी रक्षा भी करते हैं। किन्तु कभी मृत्युरूप प्रचंड अग्नि लगने का प्रसंग उपस्थित होने पर, शरीर का किसी प्रकार बचाव न होते देख, शरीररूपी उस व्यावसायिक संस्थान या दुकान की आशा छोड़कर सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप त्रिरत्नों की रक्षा में तत्पर हो जाते हैं क्योंकि ये आत्मिक गुण ही अक्षय मोक्ष सुख दिलाते हैं।

यस्त्व विज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।

न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति, यस्माद् भूयो न जायते॥

तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है और जो विचारशील नहीं है, वह सदा अपवित्र है। वह संसार में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है। उसे

मुक्ति पद की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जो सम्यग्ज्ञानी और विचारशील है, जिसका अन्तःकरण सदैव पवित्र रहता है—शुद्ध भाव में रमण करता है, उसे उस अक्षय पद की प्राप्ति होती है, जिससे फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

□ क्या है संलेखना-संथारा ?

‘रत्नकरण्डक श्रावकाचार’ में स्पष्ट उल्लेख है कि—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायाञ्च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः॥

इस आर्या छन्द में संलेखना तप क्या है, कब किया जाता है आदि प्रश्नों के उत्तर हैं। कहा है—प्राणान्तकारी उपसर्ग के आने पर, अन्न-पानी की प्राप्ति न हो सके ऐसे दुर्भिक्ष के पड़ने पर, वृद्धावस्था के कारण शरीर के अत्यन्त ही जीर्ण हो जाने पर, असाध्य रोग उत्पन्न हो जाने पर और इस प्रकार का संकट आ जाने पर जिसमें प्राणों के बचने का कोई उपाय न हो, तब अथवा निमित्त ज्ञान आदि के द्वारा अपनी आयु का निश्चित रूप से अन्त समीप आया जानकर अपने आत्म-कल्याण व धर्म-रक्षा के लिए शरीर त्याग को आर्य (ज्ञानी पुरुष) ‘संलेखना तप’ कहते हैं।

□ अमरता के लिए समाधिमरण

बंधुओं ! जिसने जन्म लिया उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। मृत्यु से बचने का इस संसार में कोई उपाय नहीं है। तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव-जैसे प्रतापी और समर्थ महामना भी मृत्यु से नहीं बच सके। जब मरण निश्चित है तो मरण को बिगाड़कर आत्मा का अहित क्यों किया जाए ? रोते, कराहते, हाय-हाय करते क्यों मरा जाय ? ऐसा उपाय करना है, हमें और आपको भी कि जिससे एक ही बार के मरण से सदा के लिए अमरता प्राप्त हो जाय ! संलेखनापूर्वक समाधिमरण भले ही अत्यन्त विकट है पर पुनः-पुनः मृत्यु के घोर कष्ट भोगने की अपेक्षा तो यह अल्प कष्टकर ही है। अनन्त जन्म-मरण के दुःखों की तुलना में समाधिमरण का कष्ट किसी भी गिनती में नहीं है। वैराग्यशतक में योगी भर्तृहरि ने कहा है—

बालो यौवनसम्पदा परिगतः, क्षिप्रः क्षितौ लक्ष्यते।
वृद्धत्वेन युवा जरापरिणतो व्यक्तं समालोक्यते॥

सोऽपि क्वापि गतः कृतान्तवशतो न ज्ञायते सर्वथा।
पश्यैतद्यदि कौतुकं किमपरैस्तैरिन्द्रजालः सखे!

वे कहते हैं—हे मित्र ! यह शरीर काल के वशीभूत होकर इन्द्रजाल के तमाशे के समान क्षण-क्षण में परिवर्तित हो जाता है। जरा इस ओर दृष्टिपात करें। बाल्यावस्था में यह शरीर सबको प्यारा लगता है—सबके हाथों का खिलौना बना रहता है, मगर बहुत दिनों तक यह हालत नहीं रहती। पुद्गलों का संचय होते-होते यह युवावस्था में प्रवेश करता है और अति मनोहर, सुदृढ़, ताकतवर, छटादार बन जाता है। मगर यह अवस्था भी थोड़े ही दिन ठहरती है। क्षण-क्षण में पलटते-पलटते यह वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। गलित-पलित होकर यह घृणा का पात्र बन जाता है। पहले जिन लोगों को यह शरीर अत्यन्त प्रिय था, उन्हें अब यह अप्रिय लगने लगता है। अन्त में जरा और रोगों से पीड़ित बने इस शरीर पर मृत्यु आक्रमण करती है, तब शरीर जीवरहित अर्थात् मुर्दा बन जाता है। तब इस शरीर के जितने भी पूर्व प्रेमी स्वजन आदि थे, वे इस शरीर के प्रति अपनी समस्त मोह-ममता त्यागकर इसे अग्नि में डालकर खाक बना देते हैं, राख बना डालते हैं। शरीर और कुटुम्बीजनों की इस स्थिति को देखते हुए भी, जानते-समझते हुए भी जीव इस शरीर और कुटुम्बीजनों के प्रति आसक्त बना रहता है, यह कितने आश्चर्य और खेद की बात है ?

□ अमर-मरण के लिए 'बड़ी साधु वन्दना' का स्वाध्याय

इस तरह यह स्पष्ट है कि आत्म-कल्याण के लिए, शाश्वत-सुख की प्राप्ति के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए पंडितमरण आवश्यक है और इस पंडितमरण को अंतिम समय में प्राप्त करना है तो उसके लिए—'बड़ी साधु वन्दना' का नित्य स्वाध्याय भी एक सहायक निमित्त बन सकता है। अनुभव करके देखिए, रसास्वादन करिए, निश्चित जानिए कि प्रतिदिन स्वाध्याय करते रहने पर कुछ ही काल पश्चात् रत्नत्रय आराधन की, व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण की और अंतिम समय संलेखना-संधारा की अंतर्भावना स्वतः जाग्रत होगी। आपको वह स्वर्णिम योग अवश्य मिलेगा जो आपको मोक्ष के प्रशस्त-पथ पर डाल देगा। ऐसे अनेक उदाहरण मैंने स्वयं ने अपने जीवन में सुने ही नहीं, देखे भी हैं। इसके स्वाध्याय से जीवन में सरलता आएगी, कथनी-करनी में एकरूपता आएगी, जीवन स्वतः संयम की ओर बढ़ेगा। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य जैसा

जीवन में है, वैसा ही बाहर लोगों के समक्ष रखा जाए तो संथारा भाव अंतिम समय में आएगा ही। हाँ ! जो कपट-संयमी हैं, अन्दर से कुछ और हैं तथा बाहर से कुछ और नजर आते हैं, जिनकी कथनी और करणी में रात-दिन का अन्तर है, जिनके मुख में प्रभु नाम पर बगल में छुरी है—ऐसे साधकों, संयमी-पुरुषों को संथारा कभी आ नहीं सकता, उनका समाधिमरण संभव नहीं।

□ अमृत-महोत्सव का साज भी देता है उत्तम फल

स्मरण करिए जयगच्छीय श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमलजी म. सा. के समाधिमरण को। जैसा उनका निर्मल संयमी जीवन, जैसी उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र में रमणता, ठीक वैसा ही असाधारण उनका तेरह दिनों तक निरन्तर सजगतापूर्ण चलने वाला समाधिमरण। अंतिम समय में भी विविध प्रकार के त्याग, प्रत्याख्यान, आलोचना और पूर्ण सजगता की अवस्था में संथारे के प्रत्याख्यान लेना। ऐसे उत्तम महापुरुषों के संथारा काल में साथ देने वालों को भी कितना उत्तम लाभ ? कैसा श्रेष्ठ प्रतिफल ? रत्नवंशाचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने श्रुताचार्य स्वामीजी के इस संथारे में तेरह दिनों के संथारे की सेवा की और उन्हें तीन दिन के तेले के साथ तेरह दिन के संथारे का फल मिला (तीन दिन उपवास तथा दस दिन का संथारा काल)।

□ निर्ग्रन्थ समाधिमरण के कुछ आयाम

एक भवावतारी आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. को इकतीस दिन का संथारा आया था। संथारे के १६वें दिन उदव-केशव देवों का उपस्थित होना और महाविदेह से सीमन्धर स्वामी से पूछकर पूज्यश्री को एक भवावतारी कहना। जैन-इतिहास के निकट काल में किसी आचार्य के इतने लम्बे काल तक संथारा चलने का विवरण शायद नहीं मिलता। आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. के संथारा काल में जिन-जिन संत-साधुओं ने समर्पण भाव से सेवा की, उनमें से सोलह संतों को तो एक-एक मास का संथारा आया था, शेष को भी संथारा समाधिमरण का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. के पट्टधर आचार्य श्री रायचंदजी म. सा. को ३० दिन का सजग अवस्था में संथारा आया तथा आचार्य सम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के मुखारविन्द से दीक्षित एवं आचार्य श्री रायचंदजी म. सा. के पट्टधर आचार्य श्री आसकरणजी म. सा. को भी ३० दिन का संथारा आया। वैसे जयगच्छ की गौरवशाली परम्परा में

आज तक सभी आचार्यों को संथारा आया। सभी को संलेखना-संथारापूर्वक पण्डितमरण प्राप्त हुआ।

□ तापस स्कंदक की शंका मिटी तो समकित-रत्न मिल गया

बंधुओं ! स्कंदक का प्रसंग चल रहा था। प्रभु से अपने पाँच प्रश्नों का ही नहीं, उस परिव्राजक ने अनेक अन्य प्रश्नों, शंकाओं का भी समाधान प्राप्त किया। समाधान पाकर वे सम्बोधि को प्राप्त हुए और प्रभु को वंदन-नमन कर उनके श्रीमुख से धर्मकथा सुनी। हृदय में वैराग्य भाव जगने पर स्कंदक परिव्राजक ने प्रभु के श्रीमुख से जैन भागवती श्रमण दीक्षा अंगीकार की और अप्रमत्तभाव से मुनिधर्म का पालन करने लगे। कालान्तर में स्कंदक अणगार ने प्रभु आज्ञा प्राप्त कर एकमासिकी भिक्षु-प्रतिमा, द्विमासिकी भिक्षु-प्रतिमा और इसी भाँति त्रैमासिकी, चातुर्मासिकी, पंचमासिकी, षण्मासिकी एवं सप्तमासिकी भिक्षु-प्रतिमाओं की यथारीति आराधना की। इसके पश्चात् प्रथम सप्त-रात्रि-दिवस की, द्वितीय सप्त-रात्रि-दिवस की एवं तृतीय सप्त-रात्रि-दिवस की फिर एक अहोरात्रि की और तब एक रात्रि की—इस तरह बारहों भिक्षु-प्रतिमाओं का सूत्रानुसार आराधन किया।

अन्तिम एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा का आराधन कर वे पुनः प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए और 'गुणरत्न संवत्सर' तप के आराधन की आज्ञा माँगी।

आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने निम्न विधि से गुणरत्न संवत्सर तप का आराधन किया—

- पहले माह में निरन्तर उपवास, दिन में सूर्य के सम्मुख दृष्टि रखकर आतापना और उत्कुटुक आसन तथा रात्रि में निर्वस्त्र होकर वीरासन में बैठ शीत सहना।
- दूसरे मास में निरन्तर बेला, शेष पूर्ववत्।
- तीसरे मास में निरन्तर तेले का तप, शेष प्रथम मासवत्।
- चतुर्थ मास में निरन्तर चौले करना, शेष प्रथम मासवत्।
- पंचम मास में निरन्तर पाँच-पाँच दिन का तप, शेष प्रथम मासवत्।
- इसी तरह छठे मास में छह-छह उपवास, सातवें मास में सात-सात, आठवें में आठ-आठ, नवमें में नव-नव।

- इसी तरह आगे बढ़ते हुए सोलहवें मास में सोलह-सोलह उपवास निरन्तर करना। दिन में सूर्य आतापना व रात्रि में शीत सहन निरन्तर पूर्व की भाँति करना।

इस 'गुणरत्न संवत्सर' तप की आराधना के पश्चात् स्कंदक मुनि ने अनेक उपवास, बेले, तेले, चौले, पाँच यावत् अर्द्ध-मासखमण व मासखमण आदि की तपस्याएँ कीं।

तपस्या से शरीर उनका शुष्क, रूक्ष, माँसरहित हो गया, उठते-बैठते, चलते समय हड्डियाँ खड़-खड़ की आवाजें करने लगीं। इस प्रकार शरीर तो अत्यन्त कृश बन गया, पर आभ्यन्तर तपश्चरणपूर्वक बाह्य तपस्या से उनकी आत्मा अत्यन्त तेजोमय, उज्ज्वल, निर्मल, विशुद्ध एवं लघुकर्मा बन गई।

कालान्तर में एक दिन स्कंदक परिव्राजक ने प्रभु चरणों में आकर पादपोपगमन संथारा ग्रहण करने की भावना से प्रभु को प्रदक्षिणापूर्वक वंदन-नमन किया। प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर स्वयं ही पंच-महाव्रतों का आलोचना पूर्वक पुनः आरोपण किया, समस्त श्रमण-श्रमणियों से क्षमा-याचना की। विपुलाचल पर आकर एक शिलापट्ट की प्रतिलेखना कर उच्चार-प्रस्रवणादि परिष्ठापनिकी भूमि की प्रतिलेखना की और डाभ का संथारा बिछाकर यावज्जीव चारों आहारों का तीन करण तीन योग से त्याग किया, अठारह पाप-स्थानक का त्याग किया, शरीर के प्रति समस्त ममत्वभाव का त्याग किया और पादपोपगमन संथारा धारण कर लिया। वे एक मास की संलेखना में रहे। एक मास के संथारे के पश्चात् उन स्कंदक मुनि ने समाधिमरण को प्राप्त किया।

गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने बताया—“स्कंदक मुनि अच्युतकल्प देवलोक में बाईस सागरोपम की आयुष्य भोगकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनेंगे।

आनंद ही आनंद !



धर्म-जागरण के प्रत्यक्ष रूप : ऋषभदत्त-देवानंदा

आत्म-बंधुओं !

तीर्थंकर भगवंतों की अनुपम सुधा-वाणी जगज्जीवों का कल्याण करने वाली, सुप्तात्माओं को जागृत करने वाली और धर्म-विमुख प्राणियों को धर्मोन्मुख करने वाली है। प्रभु ने अज्ञान के अन्धकार में, मोह-निद्रा में सुप्त जीवों को जागृति का सन्देश अपनी वाणी में दिया है। जागरण अच्छा या बुरा, यह जिज्ञासा मन में उठना स्वाभाविक है। गौतम के मन में भी जिज्ञासा जाग्रत होती है और वे प्रभु महावीर से अपने मन की जिज्ञासा का समाधान प्राप्त करने हेतु प्रश्न करते हैं—“प्रभु ! जीवों का जागना अच्छा या बुरा ?”

महावीर कहते हैं—“हे गौतम ! जगत् में कुछ जीवों का जागना अच्छा है और कुछ का बुरा। कुछ ऐसे भी जीव हैं, जिनका जागना अच्छा भी है और बुरा भी।”

गौतम ने पूछा—“भगवन् ! ऐसा कैसे ?”

□ जागरण के तीन प्रकार

प्रभु फरमाते हैं—“हे गौतम ! जागरण तीन प्रकार का होता है—(१) धर्म-जागरण, (२) अधर्म-जागरण, और (३) सुदर्शना-जागरण।”

(१) धर्म-जागरण : गजसुकुमाल का

किसे कहते हैं धर्म-जागरण ? धर्म के कार्यों में पूर्ण रूप से लगे रहना। धर्म-जागरण के लिए प्रथमतः दो शर्तें बताई गई हैं—(१) प्रमाद का त्याग करना, और (२) कषाय-चतुष्क एवं मोह का उपशमन करना, शमन करना।

धर्म-जागरण के लिए मन, वचन व काया तीनों योगों से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन आवश्यक है। हृदय में जीवमात्र के प्रति मैत्रीभाव, करुणा और अनुकम्पाभाव से ही सत्यधर्म में रुचि जाग्रत हो सकती है। जहाँ प्रमाद है, वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है, वहाँ अन्य दुर्गुण हैं। अतः वहाँ धर्म कैसे टिक सकता है ? गजसुकुमाल में अप्रमत्तभाव जाग्रत हुआ था। क्या उम्र थी उनकी ? बाल्यावस्था को त्याग तरुणाई की ओर कदम रख ही रहे थे कि प्रमादरहित धर्म-जागरण का भाव उदित हो गया। कषायों का उपशमन हो गया। मोह शान्त हो गया और वे 'जिस दिन दीक्षा, उसी दिन मुक्ति'—कहावत के लिए प्रत्यक्ष चरित्र बन गये।

(२) अधर्म-जागरण : मम्मण सेठ का

धर्म-जागरण से बिलकुल विपरीत है—अधर्म-जागरण। इसमें जीव अधर्म हेतुक पापपूर्ण कार्यों के लिए अपनी नींद जगाता है। चोर चोरी के लिए रात्रि में जागरण करता है, कामी अपनी काम-पिपासा-शान्ति के लिए रात्रियाँ जागते हुए बिताता है, लोभी जहाँ लाभ देखता है, वहीं सजग हो जाता है। फिर उसे न दिन में चैन पड़ता है, न रातों में नींद आती है। शास्त्रों में इसके लिए मम्मण सेठ का दृष्टान्त आता है। महाराज श्रेणिक के राज्य में रहता था मम्मण सेठ। एक रात्रि में महारानी की नींद अचानक जो उचटी तो पुनः आँखों में नींद आई ही नहीं। वे आकर महल के एक झरोखे में बैठ गईं। वर्षा-ऋतु के दिन थे। आकाश में घने काले बादल छाये थे। रह-रहकर घन-गर्जना हो उठती थी। चारों ओर हर क्षण-हर पल दामिनी दमक उठती थी। अचानक कड़ाके की घन-गर्जना के साथ विद्युत् की तेज चमक से दिशाएँ भर गईं। तभी महारानी ने देखा-बरसती हुई मूसलाधार बरसात में इस घनी-अँधेरी रात में भी कोई व्यक्ति नदी किनारे खड़ा होकर उफनती हुई भयावह नदी के जल से लकड़ियाँ खींच-खींचकर निकाल रहा है।

महारानी ने सोचा—'महाराज श्रेणिक के राज्य में ऐसा दरिद्री, गरीब, आफत का मारा व्यक्ति और महाराज को उसकी खबर तक नहीं ! मुझे महाराज को बताना चाहिए।' प्रातःकाल महारानी ने महाराज से रात्रि में देखे हुए प्रसंग की चर्चा की और कहा—“स्वामी ! आपके राज्य में ऐसा दीन-हीन, इतना दुःखी और गरीब व्यक्ति है तो यह आपकी राज्य-व्यवस्था पर प्रश्न-चिह्न लगाने वाली बात होगी ! आप राज्य के स्वामी हैं, अतः आपका यह कर्तव्य बनता है कि आप उसकी खोज-खबर लेकर उसकी सहायता करें।”

राजा श्रेणिक ने सुना तो आश्चर्य तो हुआ ही, खेद भी हुआ कि उसके राज्य में ऐसा दिन व्यक्ति, पर उसे कोई खबर ही नहीं है। प्रातःकालीन कार्यों से निवृत्त हो, श्रेणिक राज-सभा में आये। मंत्रिवर को रात्रि की समस्त घटना बताकर उस व्यक्ति का पता लगाने की आज्ञा दी।

मंत्रिवर ने गुप्तचरों की सहायता से पता लगवाया तो ज्ञात हुआ कि वह लकड़ियाँ बीनने वाला व्यक्ति कोई दिन-हीन नहीं, अपितु मम्मण सेठ है। श्रेणिक को बताया गया तो महाराज श्रेणिक ने जिज्ञासावश मम्मण सेठ को महलों में बुलाया और बरसात की रात्रि में उफनती नदी से खींचकर लकड़ियाँ बीनने का कारण पूछा। इस पर मम्मण सेठ ने कहा—“महाराज ! मैंने स्वर्ण-निर्मित एक बैलों की जोड़ी पूर्ण करने का कार्य प्रारंभ किया था। मैं लगभग अपना कार्य पूर्ण करने के सन्निकट हूँ। जोड़ी तैयार है, पर एक बैल के सिर पर एक सींग लगाने जितने धन की कमी रह गई। बस, उसी की पूर्ति के लिए मुझे घनघोर गर्जन करते बादलों की अंधेरी रात में, मूसलाधार वर्षा में भीगते हुए नदी किनारे जाना पड़ा और लकड़ियाँ बीननी पड़ीं।”

इस पर दयालु महाराज श्रेणिक ने कोषाधिकारी को आज्ञा देकर एक बैल के सिर पर एक सींग बनाया जा सके, उतना स्वर्ण अपने कोष से दिला दिया। मम्मण सेठ के स्वर्ण-बैलों की जोड़ी अब तैयार हो गई पर लोभ नहीं मिटना था, नहीं मिटा। एक और ऐसी ही जोड़ी बनाने की धुन सवार हुई। लग गया वह एक और स्वर्ण-बैल-युगल बनाने में। अब फिर वही रात्रि-जागरण, वही नदी, वे ही लकड़ियाँ। बंधुओं ! यह है अधर्म-जागरण।

(३) सुदर्शना-जागरण

तीसरे प्रकार का जागरण बताया था—सुदर्शना-जागरण, जो आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानता है और सम्यक् दृष्टि से जागरण करता है उसका जागरण ‘सुदर्शना-जागरण’ है। इस प्रकार के जीव धर्म-जागरण भी करते हैं और संसार के कार्य भी करते हैं, अर्थात् सांसारिक कार्यों को करते हुए भी विचार यह लाते हैं कि मुझे धर्म-कार्य करना चाहिए। मैं किन सांसारिक प्रपंचों में फँस गया हूँ ? मेरा वह दिन कब होगा, जब मैं संसार के इस जाल-जंजाल से बाहर निकल सकूँगा ? सुदर्शना-जागरण ही धर्म-जागरण की सीढ़ी है। सुदर्शना-जागरण में जीव अल्प कर्म बंध करता है और बहुल कर्मों की निर्जरा करता है।

□ आपका जागरण कैसा ?

आज अधर्म का जागरण सहज संभव बन जाता है, पर धर्म-जागरण की बात करें तो क्या प्रत्युत्तर मिलेगा ? यही कहेंगे आप कि महाराज ! जाग्रत नहीं हुआ जाता। सुदर्शना-जागरण के अन्तर्गत आपमें से कई श्रावक-श्राविकाएँ पौषध करते हैं, दयाव्रत करते हैं तो संवर भी करते हैं। शास्त्रीय सिद्धांतानुसार मर्यादा यह है कि संवर और पौषध में साधक अल्प-निद्रा ले। शास्त्रकार कहते हैं कि साधक रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे प्रहर में निद्रा ले और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे।

बंधुओं ! लाभ का कोई कारण हो, मुनाफे का प्रसंग हो, धंधे की बात हो रही हो और निद्रा का, रात्रि का, आधी रात का समय हो फिर भी निद्रा उड़ जाती है। रातभर जागरण करना हो तो सांसारिक पाप के, मोह-माया के, राग-द्वेष के, लाभ-लोभ के कार्यों में रात्रि-जागरण कर लेंगे। घर के काम-काज हों, न्यौते की लिस्ट बनानी हो, शादी-ब्याह की तैयारियाँ करनी हों, शादी-ब्याह में जाना हो या वहाँ जाकर समय बिताना हो तो रात जगा लेंगे। टी. वी. देखना हो, सिनेमा में सेकंड शो में आधी रात तक जागना हो, ताश या चौपड़ खेलनी हो तो निद्रा को भगा देंगे, पर स्वाध्याय, ध्यान, संवर पौषध करना हो, सामायिक-प्रतिक्रमण करना हो तो नींद आएगी, जाग नहीं सकेंगे।

धर्म-जागरण करने वाले महापुरुष जन्म-मरण का सदा-सदा के लिए अंत कर देते हैं और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन अविचल, शाश्वत सुखों में लीन हो जाते हैं।

□ आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी म. सा. और धर्म-जागरणा

महान् क्रियोद्धारक, युगान्तरकारी महापुरुष एक भवावतारी आचार्य सम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपने जीवन को धर्म-जागरण में लगाया, धर्म-जागरण को अपनाया। जिस समय इस महापुरुष का धराधाम पर उद्भव हुआ, तब जैन-संतवृंद को यतियों द्वारा घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। यतियों का चारों तरफ बोलबाला था। यति संयम-भ्रष्ट बन आडंबरयुक्त साधना करते हुए मोह-माया के जाल में जकड़ गए थे। ऐसे समय में आपने शास्त्रों के शुद्ध सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करते हुए धर्म के मर्म को जन-जन तक पहुँचाया। यतियों ने इस महापुरुष को घोर उपसर्ग दिए, पर वह महान् साधक मुस्कराते हुए अटल धैर्य के साथ उन उपसर्गों को सहन करते हुए अपनी चर्चाओं से यतियों को परास्त कर शुद्ध श्रमणाचार के पुनर्स्थापन का कार्य करते रहे।

□ धर्म-जागरणा के ज्वलन्त पुरुष : मुनि ऋषभदत्त

उसी महापुरुष द्वारा रचित 'बड़ी साधु वन्दना' में धर्म-जागरणा कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने या मुक्ति के अधिकारी जो बने उन महापुरुषों को भाव-वन्दन किया गया है। कल आपने तापस-स्कंदक के स्तुत्य जीवन को सुना था। आज प्रस्तुत है ऋषभदत्त मुनि का जीवन प्रसंग-

वलि ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन सार।
शिवराज ऋषीश्वर, धन गांगेय अणगार॥२६॥
शुद्ध संयम पाली, पाम्या केवल सार।
ये चारे मुनिवर, पहुंच्या मोक्ष मंझार॥३०॥

□ तीर्थकर महावीर के पुण्यशाली पिता थे ऋषभदत्त

ऋषभदत्त जाति से ब्राह्मण थे और ब्राह्मणकुण्डग्राम के निवासी थे। ऋषभदत्त की पत्नी का नाम था देवानन्दा। दोनों पति-पत्नी धर्मनिष्ठ थे। ऋषभदत्त वेद-वेदांग और पुराण आदि के प्रकाण्ड पंडित तो थे ही, श्रुति-स्मृति-ज्योतिषशास्त्रों के भी ज्ञाता थे। पार्श्वनाथ भगवान के संतानिक श्रावक भी थे। अतः जिनधर्म में दृढ रुचि थी एवं जीव-अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता थे। चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर दशवें देवलोक के देव-भव से च्यवकर ऋषभदत्त ब्राह्मणी के घर देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आए। देवानंदा के गर्भ में प्रभु बयासी अहोरात्र रहे। नियमना तीर्थकर भोगकुल में जन्म लेते हैं। अतः इन्द्र की आज्ञा से हरिणगमैषी देव ने देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ से प्रभु का संहरण करके उन्हें महाराज सिद्धार्थ की पत्नी महारानी त्रिशला के गर्भ में रखा और त्रिशला महारानी का गर्भ ब्राह्मणी के गर्भ में। तीर्थकर महावीर के जीव का ब्राह्मणी के गर्भ में बयासी अहोरात्र रहने का कारण था मरीचि के भव में उनके द्वारा जातिमद का किया जाना।

□ तीर्थकर प्रभु महावीर के दर्शन

ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी दोनों ही श्रावक के बारह व्रतों के धारक थे और थे श्रमण संस्कृति के अनुयायी। एक समय भगवान महावीर नगर के बाहर स्थित बहुशाल नामक उद्यान में अपने श्रमण-परिवार सहित पधारे। नगर के अनेक

श्रावक-श्राविका एवं अन्य जन भगवान का पर्दापण सुनकर उन्हें वन्दन करने, उनके दर्शन करने, उनसे धर्मोपदेश श्रवण करने गए। दोनों ब्राह्मण-दम्पति भी प्रभु-दर्शनार्थ जाना चाहते थे। वे जानते थे कि महावीर धर्मदेव-देवाधिदेव हैं। उनका नाम ही महाशुभफल देने वाला है, दर्शन से तो उससे भी अधिक फल प्राप्त होगा।

स्नानादि कर दोनों ने धर्मसभा के उपयुक्त वस्त्राभूषण धारण किये। रथ सजवाया, रथारूढ़ हो वे दोनों प्रभु-दर्शनार्थ गए। किए प्रभु के दर्शन। मनोहारी, दिव्य, भव्य छटा चेहरे की। ललाट के आसपास चारों ओर चमकता भामण्डल। तीर्थकर की शारीरिक कान्ति एवं चेहरे पर धर्म का प्रदीप्त तेज ही ऐसा होता है कि भव्य-प्राणी दर्शन से ही मन में, अन्तर में, जीवन में परिवर्तन अनुभव करने लगता है।

बंधुओं ! 'बड़ी साधु वन्दना' की कड़ी २६ व ३० में ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन, शिवराज ऋषीश्वर तथा गांगेय अणगार के नाम मिलते हैं। इससे अगले अर्थात् इकतीसवें पद में सती देवानन्दा का प्रसंग है—

भगवंत नी माता, धन-धन सती देवानंदा।

वलि सती जयंती, छोड़ दिया घर-फंदा॥ ३१॥

भगवतीसूत्र, श. ६, उ. ३३ में उल्लिखित सती देवानन्दा की कथा ऋषभदत्त के साथ ही जुड़ी है। अतः उसका भी वर्णन आज ही हो रहा है। बाद में हम इस प्रसंग को छोड़ आगे बढ़ जाएँगे।

□ **देवानन्दा के स्तनों से दुग्ध-धारा ! क्यों ?**

मैं आपको बता रहा था कि ऋषभदत्त व देवानन्दा दोनों ने प्रभु-दर्शन किये। देवानन्दा तो प्रभु की इसी जन्म की माता रह चुकी थी। उसने जब अपने पुत्र को अपने सम्मुख देखा तो पुत्र के प्रति माँ की ममता का ज्वार, वात्सल्य का सागर उमड़ पड़ा। हर्षातिरेक से उसके स्तनों से दुग्ध-धारा बह चली। मेघ की धारा से जैसे कदम्ब-पुष्प खिल उठता है, ठीक वैसे ही देवानंदा का रोम-रोम खिल उठा, उसे रोमांच हो आया। वे श्रमण भगवन्त प्रभु महावीर को निर्निमेष, एकटक देखती रहीं।

धर्म-सभा में अनेक राजा-महाराजा, अमीर-उमराव, श्रावक-श्राविका आदि एकत्रित थे। इतने विशाल जन-समुदाय के मध्य उस महादेवी की ऐसी विस्मयजनक स्थिति को देख सभी सोचते हैं—'ऐसा क्यों ? यह कैसे ?' गौतम स्वामी के मन में भी जिज्ञासा

खड़ी होती है। वे प्रभु से प्रश्न करते हैं—“स्वामी ! यह सब क्या है ? इस ब्राह्मण-स्त्री के स्तनों से दूध की धारा क्यों बहने लगी ?”

□ प्रभु कहते हैं—ये संसार-पक्ष में मेरी गर्भधारक माता हैं !

इस पर प्रभु कहते हैं—“गौतम ! माँ के वात्सल्य का दूध से गहरा सम्बन्ध होता है। यह देवी संसार-पक्ष में मेरी प्रथम माता हैं। मैं दसवें देवलोक से च्यवकर इन्हीं के गर्भ में आया था। बयासी अहोरात्र मैं इनके गर्भ में रहा था। आज वर्षों बाद माता ने पुत्र को देखा तो उसके वात्सल्य का नद पूरे उफान के साथ स्तनों की राह धवल-अमृत-दुग्ध की धारा के रूप में बह चला।”

□ ऋषभदत्त-देवानंदा द्वारा संयम-ग्रहण : मोक्ष-प्राप्ति

ऋषभदत्त एवं देवानंदा ने प्रभु के मुखारविन्द से जब यह वृत्तान्त सुना तो वे अत्यन्त हर्षित, प्रमुदित, आह्लादित हुए। दोनों ने प्रभु के श्रीमुख से आत्म-कल्याणकारी धर्म-देशना सुनी। धर्मोपदेश सुनकर उन दोनों को संसार के प्रति विरक्ति पैदा हुई। वे दोनों प्रभु के पास श्रमणधर्म में दीक्षित बन संयम के पथ पर अग्रसर हुए।

उत्कृष्ट संयम पालन कर एवं कठिन तपश्चरण का आराधन कर दोनों मुमुक्षु जीवों ने अष्टकर्मरूप कारा को तोड़ अपने जन्म-मरण के चक्कर को सदा-सदा के लिए मिटा दिया। वे दोनों सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

□ आप लोगों के प्रत्याख्यान : अन्दर-बाहर की छूट, धारणा प्रमाण

सुदर्शन-जागरणा आप भी तो करते होंगे, करते हैं न ? पर क्या आपकी सुदर्शन-जागरणा वास्तव में जागरणा है ? किस अंश तक सार्थकता है उसमें ? आप वर्तमान में व्रत-प्रत्याख्यान करते हैं और हम संत आपको व्रत-प्रत्याख्यान करवाते हैं, पर करते-कराते हुए सर्वप्रथम जिस बात का ध्यान रखा जाता है, वह है छूट। पहले छूट की बात की जाती है, छूट रख ली जाती है, तब नियम लिए जाते हैं। आप कहते हैं—“महाराज ! प्रत्याख्यान तो करा दें, पर अन्दर और बाहर की छूट है। रोग, बीमारी, भूल-चूक, कारण विशेष की छूट है।”

बंधुओं ! जब अन्दर की भी छूट और बाहर की भी छूट तो फिर प्रत्याख्यान किस बात का ? क्या अर्थ है आपके संकल्प का, नियम का, व्रत का ?

□ ऐसे प्रत्याख्यान कमजोरी के प्रतीक

इस तरह के प्रत्याख्यान लेना या देना कमजोरी के प्रतीक हैं, मन की कमजोरी, आत्म-बल की कमजोरी। इस तरह की कमजोरी यदि है तो भला कैसे वांछित फल मिले प्रत्याख्यानों का ? नियम भले ही कितना ही छोटा हो, पर जब नियम लें तो उसे दृढ़ता से निभाएँ। हो सकता है कोई निमित्त आपके नियम और संकल्प की परीक्षा के लिए खड़ा हो जाए, पर आपको अपने नियम में अडिग रहकर सफल होना है उस परीक्षा में। मन में इतनी शक्ति, इतनी दृढ़ता, इतना साहस हो कि कैसी भी विषम परिस्थितियाँ आएँ, व्यवधान आएँ, पर नियम न टूटे।

□ दृढ़ता नहीं है आपके व्रत-प्रत्याख्यानों में

एक श्रावकजी आए और बोले—“महाराज ! रात्रि-भोजन-त्याग का नियम दिलवा दीजिए।” महाराज ने नियम करा दिए। श्रावक जी अब सूर्यास्त पूर्व भोजन करते। एक दिन किसी जरूरी काम से देर हो गई। घर लौटे तो संध्या हो चुकी थी। रात्रि-भोजन का त्याग था। अतः सोचा आज भोजन नहीं करूँगा। तभी श्रीमती जी ने कहा—“आज तो भोजन कर लीजिए, जरूरी काम से देर हो गई, कोई जान-बूझकर तो खा नहीं रहे रात को। न हो तो महाराज साहब के पास जाकर प्रायश्चित्त ले लीजिएगा।”

श्रावकजी ने भी सोचा—‘बात तो ठीक है। धर्मपत्नी को नाराज करना ठीक नहीं है। भूखा भी रहूँ और इनकी अप्रसन्नता का कारण बनूँ, इससे तो अच्छा यही है कि खाना खा लूँ। कल प्रायश्चित्त ले लूँगा।’

मन कमजोर बन गया, दृढ़ता ढह गई, श्रावकजी ने रात्रि-भोजन-त्याग का नियम तोड़कर खाना खा लिया। मन यदि दृढ़ होता तो श्रावक जी भूखे रहकर भी नियम का अवश्य पालन करते।

□ परख हो तब खरे उतरें !

बंधुओं ! विद्यार्थी वर्षभर विद्यालय में अध्ययन करता है, मेहनत करता है, रात की निद्रा का कई-कई दिन तक त्याग कर विभिन्न विषयों को स्मृति-कोष में सँजोता है, पर वर्ष के अन्त में वार्षिक परीक्षा के उपस्थित होने पर यदि वह परीक्षा में न बैठे तो क्या होगा ? आप भी तो परीक्षा से डरते हैं। जब भी व्रत-नियमों को परखने का, परीक्षा का समय आता है, आप फिसल जाते हैं। होना यह चाहिए कि दूसरे सभी आवश्यक कार्य छूट जाएँ तो भी नियम का कठोरता से पालन हो।

कई श्रावक-श्राविकाएँ प्रतिदिन नियमतः सामायिक करने का व्रत लेते हैं। कुछ दृढ़ होते हैं नियम के प्रति। अतः वे नियमित रूप से बिना व्यवधान के समय पर सामायिक करते ही हैं। जब तक वे सामायिक नहीं कर लेते, मुँह में अन्न-जल नहीं डालते। पर सभी तो दृढ़ नहीं होते। कुछ व्यक्ति प्रमाद से, देर हो जाने पर, आवश्यक कार्य हो जाने से नियम-पालन में शिथिल बन जाते हैं। मन कमजोर तो नियम भी कमजोर ? ऐसे मनोबल-शिथिल व्यक्ति मन को एक आश्वासन दे डालते हैं कि कोई बात नहीं, आज नहीं हुई सामायिक तो कल दो कर लेंगे। दृढ़ मनोबल वाले अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिनके नियम है माला फेरने का और वे जब तक माला नहीं फेर लेते, तब तक घर से बाहर कदम नहीं रखते। बड़े से बड़े लाभ की बात हो तब भी वे नियम नहीं तोड़ते। क्षणिक हानि उठा लेते हैं, पर माला को सबसे बड़ा लाभ मानकर नियम अवश्य निभाते हैं।

□ धर्म-जागरण से आत्म-शुद्धिकरण

आत्म-बंधुओं ! दृढ़ता से यदि नियम पालन करेंगे, लिए हुए व्रत-प्रत्याख्यानों में शिथिल नहीं बनेंगे, उन्हें तोड़ेंगे नहीं तो निश्चय जानिए शुभ कर्म जुड़ेंगे, अशुभ दूर होंगे। उपासकदशांगसूत्र में दस श्रावकों का वर्णन आता है। इन श्रावकों ने धर्म-जागरण किया, पौषध किया और अपनी साधना में अडिग रहे। स्वयं देवताओं ने उन्हें तरह-तरह के भय, उपसर्ग, कष्ट देकर डिगाना चाहा, विचलित करना चाहा, पर धन्य थे वे दृढ़व्रती कामदेव, चूलनीपिया, सुरादेव आदि श्रावक जो रंच मात्र भी भयभीत नहीं हुए, विचलित नहीं हुए। यदि कहीं किसी स्थिति में कोई डाँवाडोल हुआ भी तो तुरन्त सँभल गया। तुरन्त उसने पश्चात्ताप प्रकट कर प्रायश्चित्त लिया और अपना शुद्धिकरण कर लिया।

□ धार्मिक अनुष्ठानों में आई विकृतियों को मिटाना है

आज भी धर्म किया जाता है, व्रत-नियम-प्रत्याख्यान किए जाते हैं, पर आज के धार्मिक अनुष्ठानों में आडम्बर और प्रदर्शन का उभार अधिक है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई माई का लाल आज के धार्मिक अनुष्ठानों में आई विकृतियों को हटाने के लिए आगे आए, आडम्बर और प्रदर्शन को मिटाने का बीड़ा उठाए।

□ निर्दोष व्रत-पालन करें

ध्यान इस बात का भी रखना है कि व्रत-प्रत्याख्यानो में अतिक्रम-व्यतिक्रम, अतिचार-अनाचार आदि दोष न लगे, व्रत भंग न हों। आज अनेक माताएँ और बहनें अधिकाधिक सामायिक करने की प्रतिस्पर्धा में पड़ जाती हैं। एक दिन-रात में ३०-३० (४८ × ३० = २४ घंटे) सामायिकें तक कर लेती हैं, पर वे सामायिकें कैसी होती हैं-इसका विवरण तो क्या दें ? उन सामायिकों में प्रमाद है, निद्रा है, अंगों का संकुचन, विस्तारण, कटके निकालना, लेट जाना, सावद्य क्रियाओं की आज्ञा देना आदि अनेक बातें सम्मिलित हैं। ज्यादा समझदार होंगी तो कहेंगी-‘महावीर जी रो शरणो और खूँटी में पड़ियो गरणो।’-बहू के लिए स्पष्ट पर अप्रत्यक्ष रूप से निर्देश कि गरणा खूँटी में है, तुम्हें पानी छानना है।

□ यह कैसी सामायिक ?

हम अजमेर के निकटवर्ती क्षेत्रों में विहार-विचरण कर रहे थे। एक ग्राम में ठहरे। मैं गोचरी हेतु गया। रास्ते में देखा कि एक दुकान पर एक माँजी मुँह पर मुँहपत्ति बाँधे सामायिक में बैठी है। तभी एक बालिका एक रुपया लेकर दुकान पर चढ़ती है, माँजी के आगे रुपया रखती है और संकेत से एक भरणी में रखी गोलियाँ माँगती है। माँजी रुपया लेती है, गोलियाँ दे देती है, फिर सामायिक के आसन पर बैठ जाती है, मुँहपत्ति से तब भी मुँह बाँधा था और अब भी बाँधा है, पर वह जैसे संसारभर के कार्यों के लिए निर्बध है, खुली है। मैं सोचने लगा-‘यह कैसी सामायिक ?’

□ आत्म-रमण ही धर्म की निशानी है

आत्म-बंधुओं ! धर्म करिए, तप-त्याग करिए, व्रत-अनुष्ठान करिए पर दृढ़ता से, बिना दोष लगाए। आपकी प्रत्येक धर्म-क्रिया में आत्म-रमण होना चाहिए, तभी अशुभ कर्मों की निर्जरा होगी, यह संसार-चक्र घटेगा, चार गति-चौरासी लाख योनियों में घूमता हुआ जीव अनंत काल के लिए विराम पा जाएगा।

आनंद ही आनंद !

□□

आत्मिक दृढ़ता से लक्ष्य की प्राप्ति

(सेठ सुदर्शन)

आत्म-बंधुओं !

अरिहन्त-तीर्थकर भगवन्तों की वाणी जीवात्मा का कल्याण करने वाली है। आत्म-कल्याण क्या वीतराग-वाणी श्रवण से हो जाएगा ? हाँ, पर आत्म-कल्याण करना है तो पथ-निर्धारित करना होगा, लक्ष्य चुनना होगा और उस लक्ष्य की प्राप्ति में समर्पितभाव से लगना होगा। लक्ष्य आत्म-कल्याण का बनाएँ और कार्य संसार-वृद्धि एवं आत्म-कलुषता के करें तो फिर लक्ष्य की सिद्धि, प्राप्ति कैसे होगी ? लक्ष्यविहीन साधना यदि है तो निश्चित ही निष्फल है। साधना का लक्ष्य यदि निश्चित नहीं तो तीर्थकर-वाणी कभी हृदय में पल्लवित, पुष्पित हो नहीं सकती।

□ लक्ष्य से साधना में दृढ़ता

बंधुओं ! यह जीव अनादिकाल से साधना में लगा है पर उसने कभी लक्ष्य का निर्धारण नहीं किया, कभी किया भी तो मंजिल कहीं और थी, रास्ता कहीं और, पर साधक किसी अन्य दिशा में भटक रहा था। ऐसी हालत में मंजिल कैसे मिलती ? तीर्थकर प्रभु जब दीक्षा अंगीकार करते हैं तो प्रतिज्ञा धारण करते हैं—“**सर्वं साव्वजं अकरणिज्जं जोगं पचक्खामि**” और इसी प्रतिज्ञा के साथ उन महापुरुषों का लक्ष्य निर्धारित हो जाता है। अपनी साधना के द्वारा उस दिन से वे महनीय पुरुष आत्मा पर लगे कर्मवर्गणा के पुद्गलों को हटाने लगते हैं। कितने ही उपसर्ग, कितने ही परीषह आते हैं उनकी साधना में, पर वे घबराते नहीं, अटल-अडिग निर्धारित लक्ष्य की ओर आगे ही आगे बढ़ते रहते हैं।

□ लक्ष्य बिना मन डाँवाडोल

उनकी तुलना में कैसी है आपकी साधना ? अडिगता की बात तो दूर, अभी तो लक्ष्य का ही निर्धारण नहीं है। सामने जब लक्ष्य नहीं होता तो क्या होता है ? आप जानते हैं इस बात को ! जरा-सी कठिनाई आते ही घबराहट प्रारम्भ हो जाती है, मन डाँवाडोल बन जाता है, परिणाम विचलित हो जाते हैं। अतः पहले लक्ष्य निर्धारित कर लीजिए।

□ लक्ष्य में प्रतीति रखें

लक्ष्य जब निश्चित हो जाए तो उस लक्ष्य के प्रति अटूट श्रद्धा, विश्वास, आस्था होनी चाहिए। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक वचन और प्रत्येक विचार उसी लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। लक्ष्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा नहीं तो लक्ष्य का भेदन नहीं हो सकेगा। वीर अर्जुन की तरह अडिग विश्वास रखिए फिर निशाना चूकेगा नहीं। पर साधना में 'तन और कहीं, मन और कहीं'—वाली स्थिति रही तो असफलता निश्चित है। श्रद्धा नहीं तो लक्ष्य-पथ पर गति बन नहीं सकती, मंजिल से दूर, विपरीत दिशा में भटकना संभव बन जायेगा।

□ सेठ सुदर्शन

जिन महापुरुषों ने लक्ष्य का निर्धारण कर अटूट श्रद्धा के साथ साधना की, वे कालान्तर में मोक्षरूपी मंजिल तक पहुँच शाश्वत सुखों के अधिकारी बने, समस्त कर्मबंधनों से मुक्त हुए, जन्म-जरा-मरण से सर्वथा छुटकारा पा गए। उन्हीं मोक्ष-मंजिल को प्राप्त करने वाले सत्पुरुषों का वर्णन आपके सम्मुख चल रहा है। कल आपने ऋषभदत्त मुनि एवं देवानंदा सती का प्रसंग सुना था। आज सुदर्शन सेठ का प्रसंग चलेगा।

वलि ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन सारा।

शिवराज ऋषीश्वर, धन गांगेय अणगार॥२६॥

शुद्ध संयम पाली, पाम्या केवल सारा।

ये चारे मुनिवर, पहुंच्या मोक्ष मंझार॥३०॥

(आधार-भगवतीसूत्र, श. ११, उ. ११)

यह प्रसंग भी भगवतीसूत्र का है। बड़ा विशाल ग्रंथ है, आगमों में सबसे अधिक विशाल आगम। छत्तीस हजार से अधिक प्रश्नोत्तरों का संगम है यह। भगवतीजी के शतक ग्यारह, उद्देशक ग्यारहवें में सेठ सुदर्शन का प्रसंग मिलता है।

□ प्रभु-दर्शन

सुदर्शन सेठ वाणिज्यग्राम का निवासी था। वह श्रेष्ठी अति धनाढ्य, अपराभूत ऐश्वर्य का स्वामी और विशालतम व्यापार का मालिक था। वह जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का ज्ञाता, जिनधर्म-पालक एवं श्रमणोपासक था। एक समय तीर्थकर भगवन्त प्रभु महावीर वाणिज्यग्राम के बाहर द्युतिपलाश नामक उद्यान में पधारे। प्रभु-आगमन की बात सुनकर सेठ सुदर्शन अत्यन्त प्रसन्न, हर्षित एवं संतुष्ट हुआ। प्रभु-दर्शन की अभिलाषा से उसने स्नानादि किया, वस्त्रालंकारों से अपने को विभूषित किया। घर से बाहर निकल छत्रादि धारणकर अनेक गण्यमान पुरुषों के साथ चलते हुए वह वाणिज्यग्राम के बीचोंबीच बने राजमार्गों पर होते हुए द्युतिपलाश उद्यान में, जहाँ प्रभु विराजमान थे, वहाँ आया।

□ धर्म-सभा में जाने के पाँच अभिगम

प्रभु का समवसरण लगा हुआ था। सुदर्शन ने प्रभु के छत्रादि अतिशययुक्त प्रभा-सम्पन्न दिव्य स्वरूप को देखा। उसने धर्म-सभा में जाने पर पालने योग्य पाँच अभिगमों का पालन करते हुए धर्म-सभा में प्रवेश किया। बंधुओं ! धर्म-सभा में आप भी आते हैं। इस सभा में आने के मुख्य शिष्टाचार क्या हैं, आप नहीं जानते ? ये पंचविध अभिगम ही धर्म-सभा के वे शिष्टाचार हैं, जिनका सभी परिषदा-सदस्यों को विनयपूर्वक पालन करना चाहिए। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—(१) सचित्त द्रव्यों का त्याग करना, (२) अचित्त विवेक-वस्त्रादि व्यवस्थित ढंग से धारणकर शस्त्रादि का त्याग करना, (३) मुँह पर मुखवस्त्रिका या उत्तरासन लगाना, (४) प्रभु या गुरुजन को देखते ही दोनों हाथ जोड़ना, (५) मन को एकाग्र करना।

□ शिष्टाचार सीखिए और सिखाइए

क्या आप भी करते हैं इन नियमों का धर्म-सभा में प्रवेश के समय पालन ? हाथ में सैल वाली (Electronic) घड़ी लगी है और आराम से पैर छू रहे हैं। जेब में सुपारी

के साथ इलायची है, पर ध्यान कौन रखे ? जो वस्त्र घर में पहने हुए थे, वही पहनकर यहाँ आ गए। मुख पर उत्तरासन, मुँहपत्ति का कभी ध्यान नहीं रखते। बीड़ी-सिगरेट पीकर आ जाते हैं और बिलकुल निकट खड़े हो, बिना मुँह पर मुँहपत्ति रखे निरन्तर बोले जा रहे हैं। मुँह में पान है, गुटका दबाया हुआ है, पर वन्दन, चरण-स्पर्श के साथ ही संतों से वार्त्ता भी करने में अपना रुआब समझते हैं। पंचांग नमाना तो कभी सीखा ही नहीं, घुटने झुकते ही नहीं और मन की एकाग्रता.....बात करना ही व्यर्थ है। बंधुओं ! गुरुजनों से साधारण शिष्टाचार की ये बातें सीखिए और नयी पीढ़ी को भी सिखाइए। याद रखिये, गुरु भगवन्तों के प्रति भक्ति एवं बहुमानपूर्वक किया गया विधि युक्त वन्दन भी कर्म-निर्जरा का कारण है।

□ अभिगम में समर्पण झलकता है

पाँच अभिगम का पालन गुरु के प्रति, पूजनीय और वन्दनीय के प्रति, महनीय के प्रति आस्था को प्रकट करने वाले हैं, स्वतः समर्पण के रूप हैं। भावपूर्वक अभिगमन के पालन से तन और मन दोनों पूर्ण समर्पित हो जाते हैं। इस तरह का समर्पण किसी समय आत्मा में सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के भावों की उत्पत्ति भी कर सकता है।

□ सेठ सुदर्शन के प्रश्न और तीर्थंकर भगवन्त का समाधान

सेठ सुदर्शन ने प्रभु के दर्शन किए। उनके दिव्य-भव्य रूप से वह अति प्रसन्न हुआ। श्रमण भगवान महावीर से उसने धर्मोपदेश श्रवण किया। उपदेश-समाप्ति पर उसने खड़े होकर प्रभु की तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वन्दना की, नमन किया और पूछा—“भगवन् ! काल कितने प्रकार का होता है ?”

प्रभु ने उसकी जिज्ञासा को शान्त बनाते हुए कहा—“हे सुदर्शन ! काल चार प्रकार का कहा गया है—(१) प्रमाण काल, (२) यथायुनिवृत्ति काल, (३) मरण काल, और (४) अद्धा काल।”

सुदर्शन द्वारा इन चारों कालों के बारे में विस्तृत विवरण जानने की जिज्ञासा प्रकट करने पर प्रभु ने चारों कालों को इस प्रकार परिभाषित किया—

(१) **प्रमाण काल**—जिससे दिवस व रात्रि का प्रमाण जाना जाए। प्रमाण काल दो प्रकार का होता है—दिवस प्रमाण काल जो चार प्रहर (पौरुषी) का होता है और रात्रि प्रमाण काल—यह भी चार प्रहर का होता है। दिवस और रात्रि की पौरुषी उत्कृष्ट साढ़े चार मुहूर्त की और जघन्य तीन मुहूर्त की होती है। इनकी यह घट-बढ़ एक बार में मुहूर्त के एक सौ बाईसवें भाग के बराबर होती है। अठारह मुहूर्त का उत्कृष्ट दिन और बारह मुहूर्त की जघन्य रात्रि आषाढी पूर्णिमा को तथा अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि तथा बारह मुहूर्त का जघन्य दिवस पौषी पूर्णिमा को होता है। चैत्र और आश्विन की पूर्णिमा को दिवस और रात्रि दोनों समान होते हैं।

(२) **यथायुनिवृत्ति काल**—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव—इन चार गतियों में से जिस गति के जीव ने जिस भव की जितनी आयु बाँधी है, उतना आयुष्य भोगना यथायुनिवृत्ति काल कहलाता है।

(३) **मरण काल**—शरीर से जीव के पृथक् होने का काल अथवा जीव से शरीर के पृथक् होने का काल ही मरण काल है। तात्पर्य यह कि मरण स्वयं ही काल है।

(४) **अद्धा काल**—समय के माप को प्रकट करने सम्बन्धी जितने भी शब्द-प्रमाण हैं, वे अद्धा काल हैं। यथा—समय, आवलिका, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र (दिन व रात), पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष (संवत्सर), युग, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका।

१. जिस कालावधि का कोई खण्ड न हो सके, वह काल का सबसे छोटा माप 'समय' है।

२. ऐसे असंख्यात समय मिलाकर जितना काल होता है, वह एक आवलिका है। उँगली पर जल्दी-जल्दी डोरा लपेटें तब एक आंटे में जितना समय लगता है, उतना काल एक आवलिका में होता है। यह तो हुई प्राचीन मान्यता ! वर्तमान गणित के अनुसार एक सैकेड में ५८२५.४२२१ से झांझेरी आवलिकाएँ होती हैं।

३. संख्येय आवलिकाओं का एक 'उच्छ्वास' तथा संख्येय आवलिकाओं का एक निःश्वास होता है।

४. व्याधिरहित एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति एक उच्छ्वास तथा एक निःश्वास ले तो इन दोनों का काल मिलकर एक 'प्राण' बनता है।

५. सात (७) प्राणों का एक 'स्तोक'।

६. सात (७) स्तोकों का एक 'लव'। तेजी के साथ घास काटते समय एक पूला घास काटने में लगने वाला समय।

७. सतत्तर (७७) लवों का एक मुहूर्त्त (एक मुहूर्त्त में ३,७७३ श्वासोश्वास/प्राण होते हैं)।

८. ऊपर वर्णित मुहूर्त्त जैसे ३० मुहूर्त्त = एक अहोरात्र।

९. पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष।

१०. दो पक्षों का एक मास।

११. दो मासों की एक ऋतु।

१२. तीन ऋतुओं का एक अयन (छह मास)।

१३. दो अयन का एक संवत्सर (वर्ष)।

१४. पाँच संवत्सर का एक युग।

१५. बीस युगों का एक वर्षशत।

१६. दस वर्षशत का एक वर्षसहस्र।

१७. सौ वर्षसहस्रों का एक वर्षशतसहस्र।

१८. ८४ वर्षशतसहस्र या ८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग।

१९. ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व (७० लाख ५६ हजार क्रोड़ वर्ष)।

२०. ८४ लाख पूर्व का एक त्रुटितांग।

२१. ८४ लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित।

इसी प्रकार ८४ लाख त्रुटित का एक अटटांग, ८४ लाख अटटांग का एक अटट, ८४ लाख अटट का एक अववांग, ८४ लाख अववांग का एक अवव, ८४ लाख अवव का एक हूहूकांग, ८४ लाख हूहूकांग का एक हूहूक, ८४ लाख हूहूक का एक उत्पलांग..... इसी तरह आगे क्रम से ८४ लाख से गुणा करते जाने पर क्रमशः निम्न राशियाँ प्राप्त होती हैं—उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका।

गणित से गिनी जाने वाली संख्याओं का माप, गणना-काल, परिमाण इसी संख्या (शीर्षप्रहेलिका) तक है। इसके बाद का काल, बंधुओं ! गणित का विषय नहीं है। वह औपमिक काल कहलाता है जो उपमा का विषय है, उपमा द्वारा ही जाना जाता है, संख्या से उसकी गणना नहीं होती। उसके अतिरिक्त काल-प्रमाण का एक और विवरण आगम में मिलता है—

काल का सूक्ष्मतम भाग समय है। असंख्यात समय की एक आवलिका और दो सौ छप्पन (२५६) आवलिका का एक क्षुल्लकभवग्रहण होता है। सत्रह (१७) से कुछ अधिक क्षुल्लकभवग्रहण का एक उच्छ्वास-निःश्वास होता है। आगे सारा विवरण पहले की भाँति ही है।

शीर्षप्रहेलिका अंतिम गणनीय काल है, जिसे १६४ अंकों में लिखा जाता है, यथा—
७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७६७३५६६६७५६६६४०६२१८६६६८४८०८०१८३२६६
इस ५४ अंकों की संख्या पर १४० बिन्दु लगाने पर शीर्षप्रहेलिका संख्या का प्रमाण होता है।

औपमिक काल दो प्रकार का होता है—(१) पल्ल्योपम, (२) सागरोपम। पल्ल्योपम के काल-प्रमाण का शास्त्रों में वर्णन आता है। एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एक पल्ल्य (गड्ढा) खोदा जाए। उसमें अधिक से अधिक सात दिन की उम्र के देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिक बालकों के बालों के अग्र भाग ठूँस-ठूँसकर भर दिए जाएँ। इतने ठूँस-ठूँसकर भरे जायें कि चतुरंगिणी सेना भी यदि उस पर से निकले तो दबाव से जगह रिक्त न हो। प्रत्येक सौ वर्ष व्यतीत होने पर उस

पल्य से एक बालाग्र निकाला जाए। इस क्रम से बालाग्र निकालते हुए जब पल्य पूरी तरह खाली हो जाए, उतने काल को एक 'पल्योपम' कहते हैं।

बंधुओं ! ऐसे दस कोटाकोटि पल्योपमों का एक सागरोपम काल-प्रमाण होता है। पल्य का माप योजन में दिया है। यह योजन किस प्रमाण का होता है, जानते हैं आप ? योजन क्षेत्र के माप का उल्लेख करते हुए शास्त्रकारों ने कहा—जो सुतीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा भी न छेदा-भेदा जा सके ऐसे परम अणु (परमाणु) को सर्वज्ञों ने परमाणु कहा है। यह भी कहा जाता है कि जिसके दो भाग की कल्पना न हो सके, उस निरंश पुद्गल को परमाणु कहते हैं।

ऐसे अनंत सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से एक बादर परमाणु होता है।

अनंत बादर परमाणुओं का एक उष्ण श्रेणिक पुद्गल, आठ उष्ण श्रेणिक पुद्गलों का एक शीत श्रेणिक पुद्गल, आठ शीत श्रेणिक पुद्गलों का एक ऊर्ध्व रेणु, आठ ऊर्ध्व रेणु का एक त्रस रेणु, आठ त्रस रेणु का एक रथ रेणु, आठ रथ रेणु का एक देवकुरु क्षेत्र के मनुज का बालाग्र, ऐसे आठ बालाग्रों का एक हरिवास के मनुज का बालाग्र, ऐसे आठ बालाग्रों का एक हैमवत क्षेत्र के मनुज का बालाग्र, ऐसे आठ बालाग्रों का महाविदेह के एक मनुज का बालाग्र, ऐसे आठों बालाग्रों की एक लीख, आठ लीख का एक यूका, आठ यूका का एक यवमध्य, आठ यवमध्य का एक अंगुल, छह अंगुल की एक मुष्टि, दो मुष्टि की एक वितस्ति, दो वितस्ति का एक हाथ, दो हाथ की एक कुक्षि, दो कुक्षि का एक धनुष, दो हजार (२,०००) धनुष का एक कोस और चार कोस का एक योजन प्रमाण माना गया है।

यह प्रमाण अशाश्वत वस्तुओं के लिए है। शाश्वत वस्तुओं के माप के लिए चार हजार कोस का एक योजन माना गया है।

□ काल-प्रमाण

जिन काल-प्रमाणों का मैंने अभी आपके सामने नाम लिया है, औपमिक को छोड़ शेष काल-प्रमाण गणित-योग्य, गणनीय हैं। इस संख्या तक ही गणित है अथवा ऐसा कहें कि इन संख्याओं तक ही गणित का विषय है।

गणनीय इन छियालीस भेद वाले काल-प्रमाणों के पश्चात् औपमिक काल आते हैं। इसमें वे काल-प्रमाण हैं जो गणित का विषय नहीं हैं, गणित नहीं किए जा सकते, केवल उपमा द्वारा ही जाने जाते हैं।

काल-चक्र—प्रत्येक काल-चक्र के दो काल होते हैं—अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी। प्रत्येक काल में छह-छह आरे होते हैं। अवसर्पिणी काल का प्रथम सुषम-सुषमा नामक आरा चार कोटाकोटि सागरोपम काल-प्रमाण का, दूसरा सुषम नामक आरा तीन कोटाकोटि सागरोपम का, तीसरा सुषम-दुषमा आरा दो कोटाकोटि सागरोपम का, चौथा सुषम-सुषमा आरा एक कोटाकोटि सागरोपम काल में बियालीस हजार वर्ष कम समय का होता है। पाँचवाँ दुषम व छट्ठा दुषम-दुषमा आरा इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

उत्सर्पिणी में अवसर्पिणी काल के ठीक विपरीत छह आरे होते हैं। प्रथम दुषम-दुषमा तथा दूसरा दुषम आरा इक्कीस-इक्कीस हजार वर्षों का, तीसरा सुषम-सुषमा आरा बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का, चौथा सुषम-दुषमा आरा दो कोटाकोटि सागरोपम का, पाँचवाँ सुषम आरा तीन कोटाकोटि सागरोपम का और छट्ठा सुषम-सुषमा आरा चार कोटाकोटि सागरोपम काल-प्रमाण का होता है। इस तरह दस कोटाकोटि सागरोपम का उत्सर्पिणी काल और दस कोटाकोटि सागरोपम का अवसर्पिणी काल कुल बीस कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

□ काल सम्बन्धी अन्य प्रश्न व समाधान

सुदर्शन ने पूछा—“ भगवन् ! औपमिक काल-प्रमाण किस प्रयोजनार्थ है ?”

प्रभु ने कहा—“ सुदर्शन ! नरकादि चार गतियों के जीवों की जो आयु संख्या द्वारा नहीं मापी जा सकती, वह इस उपमा काल द्वारा मापी जाती है।”

सुदर्शन ने फिर जिज्ञासा प्रकट की—“ भगवन् ! क्या पल्योपम और सागरोपम आयु काल का क्षय या अपचय (देशतः क्षय) होता है ?”

□ सेठ सुदर्शन का पूर्वभव

श्रावक के मन की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई तो शंका में परिवर्तित हो सकती है। प्रभु ने सुदर्शन के पूर्वभव का जीवन सुनाते हुए जिज्ञासा का समाधान किया, बताया—

हस्तिनापुर नामक एक नगर था। वहाँ के राजा बल और उसकी पटरानी प्रभावती के महाबल नामक पुत्र हुआ। माता-पिता कौटुम्बिक जन एवं नौकर-चाकर व धाय माताओं की देखरेख में महाबल कुमार बड़े होने लगे। आठ वर्ष पूर्ण होने पर कुमार ने कलाचार्यों के पास अनेक विद्याएँ सीखीं। तरुणावस्था प्राप्त होने पर कुमार का समय आमोद-प्रमोद में, भोगों के उपभोग में बीतने लगा। युवावस्था में आठ श्रेष्ठ राजकन्याओं से उनकी शादी कर दी गई।

अब महाबल राजकुमार उन आठ उत्तम राजकन्याओं के साथ अपने लिए निर्मित आठ श्रेष्ठ भवन तथा मध्य में निर्मित एक उन्नत विशाल भवन में पूर्ण ऐन्द्रिक सुख एवं कामभोगों को भोगता हुआ जीवन-यापन करने लगा।

एक दिन तीर्थकर अर्हन्त विमल-जिन के शिष्यानुशिष्य (प्रपौत्रक-शिष्य) आचार्य धर्मघोष ग्रामानुग्राम विहार-विचरण करते हुए हस्तिनापुर नगर के बाहर स्थित सहस्राम्रवन उद्यान में अपने पाँच सौ शिष्य-समुदाय के साथ पधारे। मुनिवर का आगमन सुनकर नगर के अनेक नागर-जन मुनिश्री के दर्शन-वन्दन एवं उनके श्रीमुख से जिनोपदेश श्रवणार्थ राजमार्गों से होते हुए उद्यान में पहुँचने लगे।

जन-समूहों को जाते देखकर एवं उनके मुख से आचार्य धर्मघोष मुनि के आने की चर्चा सुन महाबल कुमार को भी विचार आया कि मैं भी उन महापुरुष के दर्शन करूँ, उनकी वन्दना-उपासना करूँ, उनसे धर्मोपदेश श्रवण करूँ।

स्नानादि कर, उत्तम वस्त्र धारण कर, अनेक रत्नालंकरणों से अलंकृत हो महाबल कुमार अपने श्रेष्ठ धर्म-रथ में बैठ प्रभु-दर्शन को गए। वहाँ प्रभु-मुख से धर्म-देशना सुनकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। घर आकर कुमार ने माता-पिता से प्रव्रजित होने की आज्ञा माँगी। वे बोले—“आप दोनों की आज्ञा मिले तो मैं मुण्डित होकर आगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ।”

नव-परिणीता आठ-आठ उत्तम वंश की श्रेष्ठ राजकन्याएँ त्यागकर, राज्य के सुखों को छोड़कर राजकुमार महाव्रती बन साधु जीवन बिताएँ, माता-पिता कैसे यह स्वीकार कर लेते ? अनेक उत्तर-प्रत्युत्तर हुए, तर्क-वितर्क हुए पर कुमार ने अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन करते हुए दीक्षा लेने का अटूट संकल्प प्रकट कर दिया। इस पर महाबल

राजकुमार के पिता महाराज बल और माता महारानी प्रभावती ने कहा—“तुम दीक्षा ले रहे हो, यह तो ठीक है, पर हम तुम्हें केवल एक दिन के लिए ही सही, राजा के रूप में राजसिंहासनारूढ़ देखना चाहते हैं।”

भगवान महावीर ने सेठ सुदर्शन को आगे बताते हुए कहा कि महाबल का विधि-विधानपूर्वक राज्याभिषेक हुआ। महाबल कुमार सुखपूर्वक राज्य करने लगे। उसी दिन पिता बल ने पूछा—“हे पुत्र ! कहो, तुम्हारे लिए हम क्या करें ?”

उचित अवसर जानकर महाबल ने कहा—“हे माता-पिता ! राजकीय कोषागार से ३ लक्ष स्वर्ण-मुद्रा निकालकर मेरे लिए रजोहरण और काष्ठ-पात्र मँगवाइए और नापित को बुलाकर मेरा सिर मुंडित करवाइए।”

पिता ने पुत्र की भावना में दृढ़-वैराग्य देख दो लाख स्वर्ण-मुद्रा देकर रजोहरण और काष्ठ-पात्र मँगवाए। उन्होंने नापित के घर भी एक लाख सोनैया भेजकर उसे बुलाया तथा महाबल का सिर मुंडित करवाया।

बहुत बड़े समारोह के साथ महाबल ने आचार्य धर्मघोष से दीक्षा ग्रहण की। महाबल मुनि ने दीक्षा-पर्याय का पालन करते हुए चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। उपवास, बेला, तेला आदि विविध तपों का आराधन किया। बारह वर्ष तक ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपाराधन करते हुए निर्दोष श्रमण-पर्याय का पालन करने के पश्चात् हे सुदर्शन ! अपने अंतिम समय में महाबल मुनि ने एक मास की संलेखना की, आलोचना-प्रतिक्रमण कर काल का अवसर आने पर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त किया। वहाँ से काल कर महाबल ब्रह्मलोक कल्प में देवरूप से उत्पन्न हुए। हे सुदर्शन ! दस सागरोपम की देवायु पूर्ण कर उन महाबल मुनि का जीव तुम्हारे ही रूप में उत्पन्न हुआ अर्थात् तुम वही महाबल का जीव हो।

अतः हे सुदर्शन ! पल्योपम और सागरोपम का निश्चय ही क्षय और अपचय होता है।

□ सुदर्शन को जातिस्मरण ज्ञान : दीक्षित व मोक्ष

बंधुओं ! प्रभु के मुँह से अपने पूर्वभव का जीवन सुनते हुए सुदर्शन को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इससे वह अपने पूर्वभव की बात सम्यक् रूप से जानने लगा। तेरहवें

तीर्थकर विमल-जिन भगवन्त के समय में देव बना उसका जीव चौबीसवें तीर्थकर भगवन्त के समय तक देवायु भोगता रहा। अतः प्रभु का कथन निश्चय ही यथातथ्य है। सुदर्शन ने श्रद्धापूर्वक कहा—“प्रभु ! आप सत्य कहते हैं।”

सुदर्शन ने वहीं प्रभु के चरणों में दीक्षित बन अनगारधर्म अंगीकार किया। चौदह पूर्वों का अध्ययन किया, अनेक तपश्चर्याएँ कीं, शुद्ध श्रमण-पर्याय का दृढ़ता से पालन किया। अंतिम समय में संलेखना-संधारा कर वे सर्व दुःखों से मुक्त ऐसे मोक्ष-स्थल में जा विराजमान हुए, सर्व कर्मों से मुक्त बन सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

आप भी इसी तरह अपने आत्म-कल्याण का लक्ष्य निर्धारित करते हैं तो एक दिन आपका जीव भी इसी तरह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेगा, तभी आपको अक्षय आनन्द की प्राप्ति होगी।

आनंद ही आनंद !



सम्यक्त्व से अज्ञान का ज्ञान में परिवर्तन

(शिव राजर्षि)

आत्म-बंधुओं !

भव्य प्राणी और जिनवाणी का अटूट सम्बन्ध है। जो भवि हैं, वे ही जिनवचनों को जीवन में उतारकर दृढ़धर्मी बनते हैं। भवि जीव ही एक निश्चित लक्ष्य लेकर साधना-क्षेत्र में उतरते हैं और उनका वह निश्चित लक्ष्य होता है मोक्ष।

□ प्रवचन-भूमिका

कल के प्रवचन में आपने सुना था सेठ सुदर्शन का प्रसंग। सेठ सुदर्शन के जीव ने महाबल के भव में एक लक्ष्य निश्चित किया था और समर्पितभाव से उस लक्ष्य की सिद्धि हेतु साधना भी की थी, पर शायद कहीं कुछ कमी रह गई थी तब, पर जैसे ही सुदर्शन के जीव को अपना पिछला महाबल का भव जानने का अवसर मिला, वे तुरन्त चिन्तन की धारा में उतर गए और ऐसे उतरे कि दृढ़ निश्चय कर लिया, 'तब तो कुछ कमी रह गई, पर इस बार कोई कमी, कोई कसर बाकी नहीं रखूँगा।' भवि जीव थे, हलुकर्मी थे। अतः उनका संकल्प खरा उतरा और वे उत्तम साधनापूर्वक सिद्ध-बुद्ध बन गए।

□ गजमुक्ता और भीलनी (कथा)

संसार-सागर से पार होना है, किनारे पर पहुँचना है तो लक्ष्य निश्चित करना होगा। लक्ष्य ही नहीं बन पाया और इस दुर्लभ मानव-देही को व्यर्थ ही में खो दिया तो बाद में पछताना पड़ेगा, वैसे ही जैसे कि गजमुक्ता का ढेर प्राप्त करने वाली भीलनी को पछताना पड़ा था।

एक भीलनी थी। वह नित्य घने जंगल में जाती, सूखी हुई लकड़ियाँ बीनती, भारा बनाकर लाती, बेचती और जो कुछ मिलता, उसी से अपना जीवन-निर्वाह करती थी।

एक दिन जब वह जंगल में लकड़ियाँ बीनते-बीनते थक गई तो थकान मिटाने के लिए एक गहन-सघन वृक्ष की छाया में अपनी लकड़ियाँ रखकर बैठ गई। थोड़ी देर तो बैठी रही, पर खाली दिमाग शैतान का घर। उसके हाथ भी कुछ करने के लिए कुलबुलाने लगे। उसने अपनी इकट्ठी की हुई लकड़ियों में से एक लकड़ी निकाल हाथ में ली और उससे बैठे-बैठे ही जमीन खुरचने लगी।

अचानक लगा कि लकड़ी की टक्कर किसी कठोर वस्तु से हुई है। देखा तो किसी घड़े का मुँह था। थोड़ा और खोदा तो मालूम हुआ-घड़ा ही है। फिर क्या था ? जिज्ञासावश उसने लकड़ी से ही वह गड्ढा बड़ी चतुराई से खोदना शुरू किया और मिट्टी के घड़े को सावधानी से बाहर निकाल लिया। अंदर भरे हुए थे सफेद-सफेद, गोल-गोल अनेक चमकदार पत्थर। वस्तुतः वे थे कीमती गजमुक्ता। एक-एक मोती की कीमत एक-एक लाख स्वर्ण-मुद्रा से भी अधिक। भीलनी क्या जाने मोती क्या होते हैं ? उसने तो सोचा-‘चमक अच्छी है, ले चलती हूँ, बच्चे खेलेंगे।’

इक्कठी की हुई लकड़ियों का भारा बना दिया, रखा सिर पर लकड़ियों का भारा और बगल में मिट्टी का घड़ा। घर आई, कूटिया में भारा पटका, एक कोने में घड़ा भी रख दिया। बच्चे घर में ही थे, मुट्ठी भर उन्हें दे दिए। बच्चे खेलने लगे। भीलनी लकड़ियाँ बेचने चली गई।

उस दिन के बाद नित्य ऐसा होने लगा। बच्चे खेलते, पत्थर माने जाने वाले गजमुक्ता धूल-मिट्टी में खो जाते, भीलनी फिर दे देती, बच्चे फिर खो देते। इस तरह मटका खाली होने लगा।

एक बार लकड़ियाँ बेचने के लिए शहर जाने को तैयार माँ से बच्चे खेलने के लिए पत्थर माँगते हैं। माँ घड़े के निकट आ पत्थर निकालती है, तब तक बच्चे पुनः बाहर चले जाते हैं। भीलनी उन्हें अपने पहने हुए कपड़ों की भीतरी जेब में डाल देती है कि बाहर निकलूँगी तो दे दूँगी।

बाहर निकलती है। देखती है इधर-उधर। पुकारती है बच्चों को। बच्चे आते हैं तो भीलनी उन्हें जेब से पत्थर निकालकर दे देती है और शहर चली जाती है लकड़ियाँ बेचने।

शहर में लकड़ियाँ बेचकर वह वापस जा रही होती है कि उसकी नजर एक सजी-सजाई हवेली पर पड़ती है। बाहर बाजे-गाजे, अन्दर धूमधाम, चहल-पहल। नजदीक जाती है तो अनेक तरह के पकवानों की सुगंध से तबीयत खुश हो जाती है। जानकारी करने पर पता चला कि शादी का प्रसंग है।

भीलनी ने सोचा—‘कुछ पकवान यहाँ से मिल जाएँ तो मेरे बच्चे खाकर कितने खुश होंगे। मैं तो अपने जीवन में ऐसे पकवान बनवाकर उन्हें खिला नहीं सकती।’ वह हवेली के द्वार पर पहुँचती है। साहस कर अन्दर झाँकती है और आवाज लगाती है—“सेठ ! इस दीन-दुखियारी को भी कुछ मिल जाए। भगवान तेरी जोड़ी अमर रखेगा।”

सेठ अपने कई सम्बन्धियों, नाते-रिश्तेदारों व मित्रों के बीच खड़ा काम-काज, व्यवस्था देख रहा था। आवाज सुनकर मुड़ा, देखा भीलनी को, कुछ कहता इससे पूर्व ही किसी सगे ने मजाक में कहा कि “लो भई सेठ साहब ! आपके तो द्वार पर भुआजी तशरीफ ले आए हैं। अब सबसे पहले इन्हें ही कुछ खिला दो।” (मारवाड़ी में भूख को भी भुआ कहते हैं।)

सेठ ने नौकर से कुछ पकवानादि देने को कहा। नौकर ने एक थाली में थोड़े से पकवान रखे और भीलनी को देने गया। भीलनी ने तभी अनायास जेब में हाथ डाला तो एक गोल पत्थर से हाथ टकराया। शायद बच्चों को दिए तब एक वहीं अन्दर ही रह गया था। कुछ सोचा भीलनी ने और नौकर से बोली—“सेठ जी को बुलाओ।”

नौकर ने आकर सेठ से कहा। निकट खड़े लोगों ने भी सुना। कोई हँसा, कोई मुस्कराया, किसी ने फिकरा भी कसा कि मामला कुछ गड़बड़ लगता है। सेठ ने कुछ ध्यान नहीं दिया। वे सोच रहे थे—‘इस भीलनी की इतनी हिम्मत ?’ “क्या बात है ?” आए वे द्वार पर, झल्लाते हुए कहा भीलनी से—“क्यों बुलाया है मुझे ? तेरा दिमाग तो खराब नहीं हो गया ? जा, भाग जा यहाँ से !”

भीलनी बोली—“जाती हूँ सेठ जी !” इतना कहकर वह गोल चमकदार पत्थर हाथ में निकाला, सेठ को दिखाया और कहा—“मैंने सोचा चमकता हुआ कितना सुन्दर गोल-गोल पत्थर है। तुम्हें दे दूँ, तुम्हारे बच्चे के खेलने में काम आएगा। लो, ले लो इसे !”

बंधुओं ! सेठ ने वह पत्थर ले लिया। देखा उसे, जान लिया कि यह तो अत्यन्त कीमती गजमुक्ता है। ब्याह-शादी की घर में चहल-पहल थी। सभी सेठ की ओर देख रहे थे। अतः तुरन्त भीलनी से कहा—“तुम कल फिर आना।” भीलनी समझ गई कि सेठ को पत्थर पसंद आया है।

भीलनी दूसरे दिन पुनः गई तो ढूँढ़कर एक वैसा ही चमकीला पत्थर साथ ले गई। वहाँ जीमणवार हो रहा था। आज स्वयं सेठ ने उसे अच्छे-अच्छे पकवान दिए और वे भी चार-पाँच व्यक्ति खा सकें—इतनी मात्रा में दे दिए। भीलनी खुश हो गई। उसने वह चमकीला पत्थर निकाला और सेठ को दिया।

सेठ ने उन दो मोतियों की दो नथ (नाक का गहना) बनवाईं। एक अपनी धर्मपत्नी को दी और दूसरी पुत्री को।

सेठानी ने विवाह के पश्चात् विवाह की मिठाई शहर में जहाँ बाँटनी थी, बाँटी। मिठाई देने वह ठाकुर के यहाँ भी गई। ठाकुराणी ने नथ देखी तो सेठानी से कहा—“सेठानी जी ! एक ऐसी ही नथ मुझे भी मँगवा दो।”

सेठानी ने घर आकर सेठ जी से कहा, पर सेठ जी अब और वैसा मोती कहाँ से लाते ? वे चुप्पी साध गए, पर ठाकुर-पत्नी उस नथ को भूल न सकी। उन्होंने एक दिन ठाकुर से कहा तो ठाकुर ने आकर सेठजी से नथ की बात कही।

ठाकुर स्वयं घर आए थे, अब यदि नहीं दें तो झगड़ा मोल लेना पड़ सकता है। धर्मपत्नी और पुत्री से तो वापस नथ माँगी नहीं जा सकती थी। वैसे भी नथ नारी का सुहाग चिह्न है। अतः देकर माँगना असभ्य कार्य माना जाता है।

‘नथ बनानी है वैसी ही तो भीलनी को ढूँढ़ना ही पड़ेगा।’ सेठ ने सोचा और भीलनी को ढूँढ़ने के लिए प्रयास प्रारंभ कर दिए। कई दिनों तक प्रयास के पश्चात् भी भीलनी नहीं मिली। ‘अब क्या कहूँ ?’—सेठ सोच रहा था।

एक दिन अनायास ही भीलनी बाजार में जाती हुई सेठ को दिखाई दे गई। सेठ ने नौकर को भेजकर उसे अपनी दुकान पर बुलाया और बोला—“भीलनी बहन ! सुन मेरी बात।”

भीलनी ने सुना, देखा सेठ को तो विचार में पड़ गई। तभी सेठ बोला—“देख बहन ! तूने मुझे जैसे चमकीले सफेद पत्थर दिए, वैसा ही एक पत्थर और ला दे।”

भीलनी तपाक से बोली—“अब कहाँ है ? अब तो सब समाप्त। सारे चले गए।”

सेठ बोला—“ऐसा मत कह बहन ! एक तो ला ही दे मेरे लिए। मैं तुझे पहले से भी बढ़िया और ज्यादा पकवान दूँगा। मेरे घर बिठाकर भोजन कराऊँगा। बढ़िया से बढ़िया मिष्ठान्न खिलाऊँगा।”

भीलनी बोली—“सेठ जी ! आप तो सब करोगे, पर मैं अब वे पत्थर कहाँ से लाऊँ ? वे तो सचमुच बिलकुल नहीं रहे।”

सेठ ने सोचा—‘इसे लालच आ गया है।’ वह बोला—“एक पत्थर तो तुझे लाना ही पड़ेगा। मैं तुझे उसके बदले सौ रुपये दे दूँगा। अब तो मना मत करना।”

भीलनी ने सुनी बात तो उसका मुँह उतर गया, रुँआसी हो गयी, आँख से आँसू टपकने लगे। सेठ ने सोचा—‘शायद ज्यादा धन चाहिए।’ अतः बोला—“एक हजार रुपए ले लेना।” भीलनी और जोर से रोने लगी। तब सेठ ने दस हजार रुपये देने की बात कही। अब भीलनी छाती पीट-पीटकर चिल्ला-चिल्लाकर और जोर-जोर से रोने लगी।

सेठ ने बड़ी मुश्किल से उसे शांत किया, तब कहीं उसने सारी बात बताकर कहा—“मैंने तो वे सारे पत्थर व्यर्थ ही गँवा दिए।”

□ दुर्लभ मानव-भव है गजमुक्ता ! व्यर्थ जा रहा है यह

आत्म-बंधुओं ! हमारा यह मानव-भव भी दुर्लभ गजमुक्ता है। इसे इस जन्म में व्यर्थ खो दिया, सही उपयोग नहीं किया इस देह का, धर्मध्यान और आत्म-रमण रूप साधना नहीं की यदि मुक्ति के लक्ष्य से तो निश्चय ही उस भीलनी की तरह आपको भी जन्म-जन्मान्तर तक रोना-कलपना पड़ेगा। शिवराज ऋषीश्वर ने इस दुर्लभ देह

का मोल पहचाना और इसे अनमोल जान-समझकर मुक्ति का लक्ष्य निश्चित कर साधना की तो सिद्धि उनसे दूर नहीं रही।

वलि ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन सार।
शिवराज ऋषीश्वर, धन गांगेय अणगार॥२६॥
शुद्ध संयम पाली, पाम्या केवल सार।
ये चारे मुनिवर, पहुँच्या मोक्ष मंझार॥३०॥

(आधार-भगवतीसूत्र, श. ११. उ. ६)

□ शिवराज ऋषीश्वर

भगवतीसूत्र के ग्यारहवें शतक, नववें अध्ययन में शिवराज ऋषीश्वर का वर्णन आता है। हस्तिनापुर नगर में शिव नाम के राजा थे। धारिणी उनकी पटरानी तथा शिवभद्र उनका पुत्र था। महाराज शिव राजनीति में निपुण, शस्त्रास्त्र विद्याओं में अति चतुर एवं व्यवहार में अति कुशल थे। उनके राज्य की राज्य-व्यवस्था उत्तम थी। प्रजाजन सुखी थे। व्यापार उन्नत था। देश-प्रदेश से कलाओं में दक्ष उत्तम पुरुष महाराज की ख्याति सुन उनके पास आते रहते थे। राज्य में कहीं भी अन्याय, अनीति का नाम नहीं था। भोग-सामग्री और ऐश्वर्य साधनों की विपुलता थी। राज-कोष पूर्ण समृद्ध था। अनेक छोटे-बड़े राजाओं ने स्वेच्छया से महाराज शिव के अधीनस्थ रहना स्वीकार कर लिया था।

□ चिन्तन में विरक्ति की धारा

विपुल सुख और समृद्धि का भोग करते हुए एक रात में सुख-शय्यासीन महाराज शिव चिन्तन करते हैं—‘मैंने पूर्वकृत संचित पुण्य कर्मों से प्राप्त दिव्य ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, राज्य का अब तक भोग किया, उत्तम से उत्तम उपभोग सामग्रियों का उपभोग किया। अब मेरा पुत्र शिवभद्र राजकुमार युवा हो गया है, वह राज्य-कार्य में कुशल है, राज-सिंहासन पर बैठने के योग्य है। मुझे अपना जीवन राज्य-लिप्सा, पुत्र-परिवार एवं अन्य सांसारिक कार्यों में नहीं बिताना चाहिए। शरीर में शक्ति रहते हुए मुझे ऐसी साधना में लग जाना चाहिए, जिससे मरण-काल के समय मन में यह पश्चात्ताप नहीं रहे कि मैंने दुर्लभ मनुज-भव व्यर्थ ही खो दिया।

□ घणी गई, थोड़ी रही (कथा)

बंधुओं ! मारवाड़ी में एक दोहा प्रसिद्ध है—

घणी गई, थोड़ी रही, तामें छिन-छिन जाय।
नट कहे नटणी सुनो, ताल में भंग न लाय।।

इस दोहे के पीछे एक प्रसिद्ध शिक्षाप्रद लोककथा है—

किसी शहर के बाहर निकट ही जंगल में घास-फूस की कुटिया बनाकर एक संन्यासी रहता था। वर्षों हो गये उसे संन्यास लिए हुए। ध्यान किए, तपस्याएँ कीं, साधना-उपासना की पर वर्षों की साधना के बाद भी कोई उपलब्धि, सिद्धि नहीं मिली। साधु ने सोचा—‘मैंने कितने ही वर्ष व्यतीत कर दिए इस जंगल में प्रभु का भजन करते, ध्यान करते, तप करते, पर मुझे अपने जप-तप का आज तक कोई फल नहीं मिला। जब फल मिलना ही नहीं है तो बेकार तपस्यादि साधना क्यों की जाए ? व्यर्थ है मेरा संन्यासीपन, एकाकी-जीवन, संसार-विरक्ति ! कल प्रभात के समय भुवन-भास्कर की प्रथम प्रकाश-रश्मि के साथ ही मैं अपना यह संन्यास, यह कुटिया, ये गेरुए-भगवा वस्त्र आदि छोड़ दूँगा और गृहस्थधर्म में चला जाऊँगा, घरबारी बन विवाह कर बाल-बच्चों वाला बनूँगा।’

इसी राज्य का राजा वृद्धावस्था की ओर कदम बढ़ा रहा था। उसका युवराज-पुत्र युवा हो चुका था। यौवन का नशा, राजपुत्र होने का नशा तो था पर वह सोच रहा था—‘पिताश्री वृद्ध हो गए पर अभी उनकी राज्यलिप्सा, भोगोपभोग की कामना, अधिकारों को अपने ही हाथों में रखने की लालसा मरी नहीं। अब तो इन्हें राज्य के अधिकार छोड़कर मुझे सिंहासनासीन बना देना चाहिए, पर ऐसा ये कर नहीं रहे हैं। मैं तो शायद ही राजा बन पाऊँ, क्या पता युवराज-पद पर रहते हुए ही काल-धर्म प्राप्त कर लूँ। बुढ़ा मरे उससे पहले ही यदि मैं मर गया तो ? आज रात मैं स्वयं अपने पिता की हत्या कर सिंहासन पर अपना अधिकार करूँगा।’

इसी राजा के थी एक राजकुमारी। सुन्दर, सुघड़, सुरूपवान। यौवन उसका भी बदन में नशा भरने लगा था। शरीर किसी अज्ञात पुरुष की चाह करने लगा था, पर पिता का उसके विवाह की ओर कोई ध्यान ही नहीं जाता था। संयोग से उसने

इसी दिन सोचा—‘पिता को तो मेरी उम्र का, मेरे विवाह का कोई ध्यान है नहीं। अतः मैं आज ही मंत्री-पुत्र के साथ घर से भागकर, कहीं बहुत दूर जाकर शादी कर लूँगी।’

उधर राजा की राजसभा में एक नट ने आकर नट-विद्या प्रदर्शन की आज्ञा माँगी। राजा ने आज्ञा प्रदान कर दी। सारे शहर में घोषणा करवा दी गई—“आज बाहर से आए कुशल नट अपनी नट-विद्या का राजमहल के आगे स्थित उद्यान के विशाल आँगन में प्रदर्शन करेंगे।”

नटों ने अपने खेल दिखाने शुरू किए। अनेक तरह के आश्चर्यजनक, मन को प्रसन्न करने वाले करतब नट व नटनियों ने राजा-प्रजा के सम्मुख रखे। घंटों बीत गए। राजा के मन में कुछ अलग ही उथल-पुथल मची थी, वह कहीं और खोया था। अतः दो, चार, छह घंटे बीतने पर भी उसने कोई पुरस्कार उन्हें नहीं दिया। राजा, पूरे राज्य का मालिक, प्रजाजनों का स्वामी ! वही जब तक कोई पुरस्कार न दे, तब तक दूसरे तो भला कुछ देने का साहस कैसे करते ?

नगर के सहस्रों नागरिक, राजा, राजकुमार, राजकुमारी, मंत्री, मंत्रि-परिषद्, अमीर-उमराव, सेठ-साहूकार आदि सभी वहाँ उपस्थित। संन्यासी जिसने संन्यास छोड़ने का मन बनाया था, वह भी जन-समूह में उपस्थित था। बाँसों की कैंची लगाकर उस पर रस्सा कसा गया। अब एक युवा नटनी उस पर चढ़ने की तैयारी कर रही थी। वह रस्सी पर चढ़ी। ढोल और तबले बजने लगे। वाद्यों की ध्वनि-ताल पर उसके पैर थिरकने लगे। दो, तीन, चार, पाँच घंटे बीते, छह घंटे बीते, समय बीतता गया, रात्रि का अंतिम प्रहर आ गया, पर राजा ने कोई पुरस्कार नहीं दिया। नटनी के पाँव लड़खड़ाने लगे, ताल के साथ थिरकते पाँवों की थिरकन में अन्तर आने लगा। यह देखकर नट ने संकेत में कहा—“घणी गई.....भंग न लाया।”

नटनी सँभल गई, साहस का पुनः संचरण कर वह पैरों की थिरकन को ताल के साथ मिलाने लगी।

जन-समूह में नट-करतबों को देखते हुए संन्यासी ने भी यह दोहा सुना। सुनकर उसे विचार आया—‘बात तो यह सही कह रहा है। मैंने अपना अधिकांश जीवन साधना

में बिताया। उम्र का लगभग दो-तिहाई हिस्से से अधिक जीवन तप, त्याग, ध्यान, जप में व्यतीत कर प्रभु-भक्ति का लाभ लिया। अब तो 'घणी गई, थोड़ी रही' वाली बात है अतः मुझे अपना संन्यासपन नहीं छोड़ना है, अपनी साधना भंग नहीं करनी है, प्रभु-भजन में ही जीवन व्यतीत करना है।'

उधर युवराज ने भी सुना—“घणी गई, थोड़ी रही” सोचा युवराज ने—‘पिता अत्यन्त वृद्ध हो गए। अब तो इनके बहुत कम दिन शेष रहे हैं। फिर मैं क्यों इस तरह पितृहंता बनकर रंग में भंग करूँ। मुझे शांत रहकर प्रतीक्षा करना ही उचित है। धीर बनकर जो चल रहा है, उसमें भंग डालना उचित नहीं।’

राजकुमारी ने भी सुना दोहा। उसने सोचा—‘पिताश्री ने मुझे इतना बड़ा कर दिया, अब और कितना बड़ा करेंगे ? सोचना तो उन्हें ही है। मैं जो कदम उठा रही हूँ, वह गलत है। महलों से भागकर जाने में पिता की प्रतिष्ठा को तो धक्का पहुँचेगा ही, मेरा नाम भी बदनाम होगा। मुझे धैर्य धारण कर उचित समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।’

इस तरह के विचार परिवर्तन के साथ ही संन्यासी ने समय पर सचेत करने के लिए मन ही मन उस नट का अहसान मानते हुए अपना कम्बल उतारकर पुरस्कारस्वरूप उसकी तरफ फेंक दिया।

युवराज ने भी कृतज्ञता प्रकट करने और उसके करतबों का उचित मान करने हेतु हीरों की अँगूठी पुरस्कारस्वरूप दी।

राजकुमारी ने भी प्रसन्न होकर गले से हीरों का हार उतारा और नटनी को दिया।

इन तीनों को इस तरह पुरस्कार देते देख अमीर-उमराव, सेठ-साहूकार व अन्य प्रजाजन भी पुरस्कारों की झड़ी लगाने लगे।

बंधुओं ! नट ने तो संकेत किया था नटनी को। नटनी ने भी संकेत समझ लिया और उचित समय पर अपनी नृत्य गति सुधार ली। नटनी को तो शिक्षा मिली ही, पर इस दोहे से संन्यासी, राजकुमार और राजकुमारी ने भी शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन की ताल और लय को सुधार लिया।

□ जीवन-हित की शिक्षा आपको कब लगेगी ?

उनको तो शिक्षा लग गई, पर बंधुओं ! आप लोगों को जीवन-हित की यह शिक्षा कब लगेगी ? अनेक व्यक्ति यहाँ ऐसे हैं, जिनकी आधी से अधिक उम्र बीत चुकी है, यौवन अपनी बहार दिखाकर जा चुका है और बुढ़ापा आ चुका है। अब तो आरम्भ और परिग्रह को कम करिए। त्याग, तप, व्रत, प्रत्याख्यान से जीवन को आत्म-कल्याण के पथ पर ले आइए।

□ महाराज शिव की तापस बनने की कामना

महाराज शिव का चिन्तन भी आत्म-कल्याण की दिशा में मोड़ खा गया। 'घणी गई और थोड़ी रही' अब इस शेष थोड़ी से ही सार निकालना है। राज्य पुत्र को सौंपकर अब मुझे गंगा किनारे तापस बने रहना ही उचित है। कल सूर्योदय होने पर तापसोचित भंडोपकरण मँगवाकर दिशाप्रोक्षक तापस रूप प्रव्रज्या अंगीकार करूँगा और छठ-छठ की तपस्या द्वारा दिक्चक्रवाल तपःकर्म स्वीकार कर दोनों भुजाएँ ऊँची रखता हुआ पुण्योपार्जन करने वाली साधना में लग जाऊँगा।

□ महाराज शिव बन गए अब तापस शिव

प्रातःकाल होने पर महाराज शिव ने शिवभद्र कुमार युवराज को सिंहासन पर बिठाकर राज्याभिषेक महोत्सव किया। तत्पश्चात् शुभ नक्षत्र एवं शुभ मुहूर्त में स्वयं तापसोचित भण्डोपकरण ग्रहण कर, गंगा तट पर जाकर वहाँ दिशाप्रोक्षक तापसों के पास मुंडित हो प्रव्रजित हो गए। प्रव्रजित होकर तापस शिव ने उसी दिन से जीवनभर बेले-बेले तपस्या करते हुए विचरण करने का संकल्प लिया।

□ तापस का तप : अज्ञान तप

बंधुओं ! अज्ञान तप था, तप के साथ सम्यग्ज्ञान-दर्शन का अभाव था, अतः अकामनिर्जरा ही हुई। दिक्चक्रवाल का प्रोक्षण करने, आतापना लेने तथा प्रकृति की भद्रता एवं विनीतता के कारण उस शिव तापस को एक दिन तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से विशिष्ट अज्ञान अर्थात् विभंगज्ञान जिसे अवधि-अज्ञान भी कहा जाता है, की प्राप्ति हुई। विभंगज्ञान के बल से उस शिव राजर्षि को सात द्वीप और सात समुद्र

पर्यंत दिखाई देने लगा। तापस ऋषि ने सोचा—‘लोक में बस यही सात द्वीप व सात समुद्र हैं। इनसे आगे कुछ भी नहीं है। मैं इन्हें देख सकता हूँ। मैं अतिशय ज्ञान-दर्शन का धारक हो गया हूँ।’

□ सात समुद्र-सात द्वीप, यही है इस लोक की सीमा (तापस-प्रचार)

अब शिव राजर्षि ने गंगा का किनारा छोड़ा और हस्तिनापुर में चले गए। वहाँ जनता के मध्य उन्होंने स्वयं ने अपने बारे में प्रचारित कर दिया कि उन्हें विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे सम्पूर्ण लोक देख सकते हैं और यह लोक सात द्वीप और सात समुद्र पर्यन्त है। जनता में उनकी बात परस्पर चर्चा का विषय बन गई। अनेक लोगों ने मान लिया कि इस लोक में सात समुद्र एवं सात द्वीप ही हैं। इसके आगे समुद्र-द्वीप नहीं हैं। लोक की सीमा यहीं तक है। कुछ लोग इसे मानने को तैयार नहीं हुए। वे कहने लगे—इन्होंने कह दिया, इसी से हम यह कैसे मान लें ?

□ मिथ्यादृष्टि से साधक व श्रोता, दोनों के कर्मबंध

बंधुओं ! मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दर्शन न हो तो ऐसे साधक का उपदेश, उपदेशक व श्रोता दोनों के ही कर्मबंध का कारण बन सकता है। मिथ्यादर्शन ही तो संसार-परिभ्रमण में वृद्धि का सबसे बड़ा कारण है। सम्यग्ज्ञान हो, सत्यज्ञान पर पूर्ण श्रद्धा हो तो संसार-परिभ्रमण कम हो जाता है। धर्म की हानि का सबसे बड़ा कारण है मिथ्याज्ञान एवं इसकी चर्चा। धर्मतत्त्वों पर चर्चा चल रही है। उस चर्चा में उपस्थित कोई व्यक्ति यदि यह कहे कि नहीं, अमुक द्वारा कथित बात मिथ्या है, मैं जो बता रहा हूँ वही सत्य है और वह आगम विरुद्ध हो तो उसका यह कथन भी संसार-भ्रमण को बढ़ाने वाला है। अनर्थ का पाप उसके सिर चढ़ जाएगा।

□ धर्म में निरन्तर हानि क्यों ?

जे. कृष्णमूर्ति भारत के पहुँचे हुए दार्शनिक विद्वान् थे। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् विश्व-विख्यात दार्शनिक एवं प्रकांड विद्वान् थे। एक बार दोनों का मिलन हुआ। ज्ञानी से ज्ञानी, पंडित से पंडित जब भी मिलते हैं ज्ञान की बात करते हैं। मूर्ख यदि आपस में मिलते हैं तो धक्का-मुक्की, गाली-गलौज, जूतम-पैजार होती है। दोनों ज्ञानी थे, अतः ज्ञान-वार्ता चली।

जे. कृष्णमूर्ति ने वार्ता के मध्य डॉ. राधाकृष्णन् से प्रश्न किया—“आज विश्व में धर्म निरन्तर क्षीण क्यों होता जा रहा है ? आपकी दृष्टि में उसका क्या कारण है ?”

□ धर्म केवल उपदेशों में सिमट गया

डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा—“विद्ववर ! आज विश्व में मानवता एवं धर्म का जो पतन हो रहा है, उसका मुख्य कारण यह है कि आज धर्म केवल चर्चाओं में, उपदेशों में रह गया है। चर्चा में, जीवन में, पालना में धर्म नहीं के बराबर है।”

डॉ. राधाकृष्णन् ने कितनी सारपूर्ण बात कह दी। धर्म पर, धार्मिक विषयों पर चर्चाएँ करनी हों, व्याख्यान देना हो, कथा करनी हो तो घंटों तक कर लेंगे, पर जीवन में उतारने की, पालन करने की, व्रत-नियम निभाने की बात जब आएगी तो अनेक बहाने ढूँढ़े जाएँगे, शारीरिक बीमारियाँ याद आएँगी, घरेलू कार्य याद आएँगे, समय की कमी का बहाना बनाएँगे।

□ जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप में धर्म को स्थान दें

समय भी मिल गया यदि आपको और व्रत-नियम लेकर बैठ भी गए, पाँच-पाँच सामायिकें एक साथ भी कर लीं आपने, पर स्थानक-भवन से ज्यों ही बाहर निकलेंगे जीवन में कहीं भी समभाव नहीं झलकेगा, धर्म आप यहीं इसी स्थानक में छोड़ जाएँगे, नीति आपके व्यवहार और व्यापार में स्थान नहीं ले पाएगी। बंधुओं ! फिर सैकड़ों, हजारों की संख्या में की गई सामायिकों से आत्मा को पूर्ण लाभ नहीं हो पायेगा। व्यवहार और व्यापार सभी जगह जब छल-कपट होगा, धोखाधड़ी होगी, पन्द्रह कर्मादानों का खुला व्यापार कर महाआरम्भ और महापरिग्रहमय जीवन जीयेंगे तो आपका यह धर्म तो पंगु ही बन जाएगा। ऐसा पंगु धर्म आपके जीवन को, आपके सुनिश्चित आत्म-कल्याण के लक्ष्य को गति नहीं दे सकेगा। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में, व्यापार के प्रत्येक लेन-देन और सौदे में, किसी भी कार्य के सम्पादन में जब तक धर्म नहीं झलकेगा, तब तक आपका निरन्तर पतन सुनिश्चित है।

□ भगवान महावीर का पदार्पण

शिवराज ऋषि मिथ्यादृष्टि थे। अज्ञान तप का फल विभंगज्ञान जो अज्ञान का भेद है, शिवराज ऋषि को प्राप्त था। किन्तु उपलब्धि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जो

जितना विपरीत जानता है, उतनी ही अधिक विपरीत प्ररूपणा करता है। इधर ये विपरीत प्ररूपणा चल रही थी, उधर उन्हीं दिनों तीर्थकर महावीर भगवान अपने शिष्य-समुदाय सहित विचरण करते हुए वहाँ पधारे। उनके प्रथम शिष्य गौतम गणधर भिक्षार्थ शहर में घूमे तो यही जन-चर्चा उन्हें भी सुनने को मिली। गणधर गौतम स्वामी जहाँ भगवंत श्री महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिए उन्होंने प्रभु से पूछा—“ भगवन् ! क्या यह लोक सात द्वीप, सात समुद्र प्रमाण है ? क्या शिव राजर्षि जैसा कहते हैं, इनसे आगे द्वीपों-समुद्रों का सर्वथा अभाव है ?”

□ रहस्य से परदा उठा, सत्य तथ्य बताया प्रभु वीर ने

भगवान महावीर ने गौतम गणधर एवं वहाँ उपस्थित परिषदा के सम्मुख सत्य-ज्ञान का प्रकाश करते हुए कहा—“ हे गौतम ! यह ऐसा नहीं है, जैसा शिव राजर्षि कहते हैं। इस तिर्यक् लोक में असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। शिव राजर्षि को उनके तपाराधन के परिणामस्वरूप विभंगज्ञान प्राप्त हुआ है। अतः वे जिस सीमा तक देखते-जानते हैं, उसी की बात करते हैं।”

□ प्रभु दर्शन की कामना जगी तो सम्यक्त्व-रत्न मिल गया

हस्तिनापुर में प्रभु ने जो बात कही, वह बात जन-जन में जन-जन के ही मुख से प्रसारित हो गई। शिव राजर्षि ने भी इस बात को सुना तो वे शंकित, काँक्षित एवं संदेहग्रस्त हुए। उन्होंने विचार किया—‘ श्रमण भगवान महावीर स्वामी तीर्थकर हैं, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। अतः मैं भी चलूँ, उनके दर्शन करूँ, उन्हें वन्दन-नमस्कार करूँ, उनकी पर्युपासना करूँ और अपने मन की शंका का उनसे समाधान प्राप्त करूँ। मेरे लिए अब यही श्रेयस्कर है।’

भाव-चिन्तन में जब तीर्थकरों के प्रति श्रद्धा आती है तो महान् शुभ फल की प्राप्ति होती है। मिथ्यादृष्टि नष्ट होकर सम्यग्दृष्टि आ जाती है। सम्यग्दर्शन के आते ही अज्ञान का परिवर्तन ज्ञान में हो जाता है। शिवराज ऋषि के साथ भी यही हुआ। उनकी महावीर के प्रति सम्यक् श्रद्धा ने उनके तीनों अज्ञानों को ज्ञान में बदल दिया। अब वे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान या अवधि-अज्ञान की जगह मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारक बन गए।

□ विरक्ति, दीक्षा, मुक्ति

शिव राजर्षि तब प्रभु महावीर के दर्शनार्थ गए। प्रभु के निकट जाकर उन्होंने उन्हें वंदन-नमन किया, न अति दूर न अति निकट हाथ जोड़कर खड़े हो उनकी पर्युपासना करने लगे। उन्होंने प्रभु का धर्मोपदेश श्रवण किया, वैराग्यभाव को प्राप्त हो ईशान कोण में जाकर तापसोचित उपकरणों का त्यागकर श्वेत चोलपट्टा, श्वेत चादर धारण की, मुख पर मुखवस्त्रिका धागे से बाँधकर, रजोहरण आदि मुनिवेष धारण कर स्वयं पंचमुष्टि लोच किया एवं प्रभु के श्रीमुख से श्रमणधर्म की प्रव्रज्या अंगीकार की।

श्रमण बनकर शिव राजर्षि ने ग्यारह ही अंगों का गहन अध्ययन किया, उत्कृष्ट तपाराधन किया, अंत समय में संलेखना-संधारा कर वे समस्त दुःखों से मुक्त हो सिद्धगति में जा विराजमान हुए।

आनंद ही आनंद !



प्रकृति की सरलता : मुक्ति का सोपान

(श्रमण गांगेय)

आत्म-बंधुओं !

तीर्थंकर भगवंतों की परम पावन वाणी संसार के सभी प्राणियों को असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने वाली है। जहाँ सांसारिक जीवन जीने वाले पामर प्राणियों के लिए इस अमृतवाणी में सदबुद्धि-प्राप्ति के अनेकानेक तत्त्वों का समावेश है, वहीं संसार से विरक्ति और विमुक्ति के लिए, जन्म और मरण के चक्र से सदा-सदा के लिए छुटकारा पाने के हेतुक तत्त्वों का ऐसा सांगोपांग निरूपण है कि जिन्हें जानकर, उन पर श्रद्धा-प्रतीति लाकर, उन्हें जीवन में आचरित बनाकर यह जीव अपने चरम और परम लक्ष्य की प्राप्ति सरलता से कर सकता है।

□ परिवर्तन संसार का नियम है

बंधुओं ! समय कभी एक-सा नहीं रहता। प्रकृति और वातावरण भी सदैव एक से नहीं रहते। प्राणियों की मन और बुद्धि भी पल-पल में परिवर्तित हो सकती है। परिवर्तन संसार का अपरिवर्तनशील नियम है। जो आज राजा है, कल रंक बनते देखा गया है। कल का भिखारी आज करोड़ों में खेलता पाया गया है। कल जहाँ खुशियों का सागर उमड़ रहा था, आज वहीं गम का तूफान प्रलय मचा रहा है। इन्हें देख कोई आश्चर्य करे तो व्यर्थ है, क्योंकि यही संसार की गति है।

□ प्रभु आदिनाथ-काल के मानव : ऋजु और जड़

जैन कथा में इस प्रकार का प्रसंग आता है कि प्रथम तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के युग के मानव अति सरल प्रकृति के और जड़-बुद्धि के होते थे। जब खलिहान में बैल अनाज की ऊँची-ऊँची ढेरियों में मुँह डालकर अनाज खाते तो दुःखित हो किसान उन्हें

मारते-पीटते थे, तब प्रभु ने उन्हें सुझाया कि उनके मुँह पर बंध लगा दो। किसान बंध लगा देते हैं। समय होने पर पशुओं को भूख लगती है, प्यास लगती है, पर उन लोगों की बुद्धि में यह बात नहीं आ पाती कि इन पशुओं के मुखबंध खोल दें, जिससे ये घास आदि खा सकें व पानी पी सकें।

मुख पर बंध लगाने के लिए कहा था ऋषभदेव ने। तेरह घण्टों से कुछ अधिक काल तक पशु भूखे रहे। प्रभु इसके दोषी थे। कर्म किसी को भी कहाँ छोड़ते हैं, भले ही वे तीर्थंकर भगवन्त ही क्यों न हों ? दीक्षा के पश्चात् प्रभु आदिनाथ के तेरह मास दस दिवस तक आहार-पानी की अन्तराय रही। यही उनका वर्षीतप था जिसका पारणा अक्षय तृतीया को गन्ने के प्रासुक-रस से हस्तिनापुर में उन्हीं के प्रपौत्र श्रेयांसकुमार के हाथों से हो सका था। बंधुओं ! तब के लोगों के हृदय की सरलता और बुद्धि की जड़ता की बात इससे भी स्पष्ट होती है कि प्रभु आदिनाथ पारणे के लिए घर-घर, द्वार-द्वार भिक्षार्थ घूम रहे थे और वे लोग प्रभु को हीरे, माणिक, स्वर्ण, आभूषण, वस्त्र आदि बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट करना चाहते थे, प्रभु से प्रार्थना करते थे कि वे माणिक-मोती, पालकी (सवारी सेवा हेतु) कन्या आदि भेंट स्वरूप ले लें। आहार की प्रार्थना कोई नहीं कर रहा था। वे ऐसा सोचते कि हमारे स्वामी को भोजन की क्या मनुहार करें ये तो हमारी सार-सँभाल के लिए आये हैं। (कथा भाग में कहीं-कहीं बैलों के मुँह-बंध लगाने वाला प्रसंग प्रभु ऋषभ के किसी पूर्व भव का भी बताया जाता है।)

□ ऋजु प्रकृति और जड़-बुद्धि : एक प्रसंग

आदिनाथ-काल के मानवों की बुद्धि और उसके हृदय की कल्पना करते हुए लिखा गया एक प्रसंग मेरे पढ़ने में आया था, आप भी सुन लें।

प्रभु आदिनाथ के समय के कुछ साधु गोचरी के लिए गये। वापस लौटने में उन्हें बहुत देर हो गई। उनके गुरुवर ने पूछा—“आज आप सभी ने बहुत विलम्ब कर दिया, क्या बात है ?”

उत्तर मिला—“भगवन् ! हम वापस आ रहे थे, समय पर पहुँच भी जाते, किन्तु पथ में कुछ नट लोगों के एक नाटक का आयोजन चल रहा था, हम उसे देखने लग गये।”

गुरु भगवंत ने कहा—“सन्तों ! आप साधना के पथ पर चलने वाले साधक हैं। आपके लिए नटों का नाटक देखना साधना-सिद्धान्तों के विपरीत है। अतः आगे से आप नटों द्वारा अभिनीत नाटक कभी मत देखना।”

शिष्य-सन्तों ने गुरुवर की अनुशासनपूर्ण वाणी में कहे गये आदेश को नम्रतापूर्वक स्वीकार करते हुए कहा—“जो आज्ञा प्रभु ! आगे से हम ऐसी भूल नहीं करेंगे।”

अगले दिन वे ही साधु पुनः देर से आये। गुरु भगवन्त ने पूछा—“आज भी आप लोगों ने पुनः देर कर दी, क्या कारण बना आज देर से आने का ?”

सरल वाणी में उत्तर मिला—“भगवन् ! आज नटनियाँ नाटक कर रही थीं। आपने कहा था—नटों का नाटक मत देखना। वहाँ तो नटनियों का नाटक था। अतः हम देखने खड़े हो गये।”

गुरु भगवन्त ने कहा—“अरे साधकों ! मेरे कहने का तात्पर्य किसी भी तरह के नाटकादि से था। साधुओं के लिए नाटकादि देखना पूर्णतः वर्जित है तो नटनियों का नाटक कैसे देखा जा सकता है ?”

शिष्यों ने भूल स्वीकार करते हुए कहा—“भगवन् ! भूल हो गई। भविष्य में ऐसा कभी नहीं होगा।”

□ मध्य के बाईस तीर्थकरकालीन मानव ऋजु-प्राज्ञ

भगवान अजित जिन से पार्श्व जिन तक के समय में ऐसा ही प्रसंग घटता और उनसे भी प्रश्न किये जाते तो वे क्या उत्तर देते, अब उसे भी सुनिए—

गुरु के यह पूछने पर कि विलम्ब क्यों हुआ, साधु मार्ग में नटों द्वारा होने वाले नाटक को देखने की बात बताते और कहते कि इसी कारण विलम्ब हो गया। गुरु के यह कहने पर कि साधुओं के लिए नटों द्वारा अभिनीत नाटक देखना वर्जित है, वे साधु अन्य किसी अवसर पर नटनियों द्वारा अभिनीत नाटक को इसलिए नहीं देखते क्योंकि उनकी बुद्धि गुरुदेव की बात को सम्पूर्ण रूप में समझ लेती। वे जान जाते कि नाटक मात्र ही देखना वर्जित है हमारी इस संयम-साधना में।

स्पष्ट है द्वितीय तीर्थकर से तेईसवें तीर्थकर तक की कालावधि के लोग ऋजु, अर्थात् सरल प्रकृति के और प्राज्ञमति अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान होते थे।

□ अन्तिम तीर्थकर प्रभु महावीर का शासनकाल

बंधुओं ! प्रथम तीर्थकर भगवंत से तेईसवें तीर्थकर भगवन्त तक के काल की बात तो हो गई। आप जिनके शासनकाल में धर्मध्यान कर रहे हैं, वह अन्तिम तीर्थकर भगवन्त महावीर प्रभु का शासनकाल है। इस काल के लोगों हेतु शास्त्रकार लिखते हैं कि इनका हृदय वक्र और बुद्धि जड़ होगी। साधु एवं नट वाला वही प्रसंग वर्तमान में घटित हो तो कल्पना कीजिए, क्या होता ? एक कल्पनाकार ने जो कल्पना की हो सकता है वह कुछ अतिरंजित हो पर सुनने में कोई हानि नहीं है।

□ महावीरकाल के लोग वक्र-जड़ : एक प्रसंग

देर से आने वाले सन्तों को गुरु के द्वारा देर से आने का कारण पूछे जाने पर उत्तर कैसा मिलता है। एक नमूना है यह। शिष्य कहते हैं—“तो क्या हम गाँव के बाहर ही बैठ जाते ? वापस तो आना ही था। दूर गये थे, वापस आने में देरी तो लगेगी ही।”

अब गुरु यदि कहें—“अरे भाई, बाहर तो आप लोग प्रतिदिन ही जाते हो, आज क्या विशेष बात हो गई जो इतनी देर....।”

शिष्य भला गुरु की इतनी लम्बी झाड़ू कहाँ सुनने वाले ? बात बीच में ही काट दी और बोले—“अरे ! आपको लगा होगा कि अधिक समय हो गया। आप हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे न, प्रतीक्षा करने वालों को थोड़ा समय भी अधिक लगता है। ‘देर लगी, देर लगी !’ क्या देर लगी ? नाटक हो रहा था एक जगह, देखने लग गये।”

शिष्यों की भाषा अविनयपूर्ण, स्वर कटु-कर्कश, बोलने में उद्दण्डता झलकती हो जैसे।

गुरु कहते हैं—“ढंग से तो बोलो। सीधी और स्पष्ट बात तो कहो ! और सुनो, आगे से ये नटों के नाटक आदि नहीं देखोगे। साधु की समाचारी के विपरीत है—ये नाटकादि देखना।”

गुरु पर जैसे अहसान कर रहे हों, ऐसे स्वर में शिष्य बोले—“ठीक है बाबा ! हम तो अपना मन बहलाना चाहते थे। आप कहते हैं तो आगे से नहीं देखेंगे।”

कुछ दिन पश्चात् शिष्य फिर देरी से आये। गुरुजी ने पूछा—“आयुष्मन् ! इतनी देर कहाँ लगाई ?” पहले की तरह अटपटी और बेतुकी बातें कहीं किन्तु गुरुदेव के अधिक पूछने पर पूर्व की तरह ही अविनय से।

शिष्य बोले—“एक जगह कुछ नटनियाँ नाच-गा रही थीं, रस्से पर कर्तब दिखा रही थीं। हम लोग देखने लगे। आपने नाटक देखने से मना किया तो नाटक तो देखा नहीं। अब यह मत कह दीजियेगा कि नाच-गाना, खेल-तमाशे, कर्तब आदि भी साधु के लिए वर्जित हैं और कहना ही हो तो फिर ऐसा करिए कि एक बार में ही सारी आचार-संहिता की शिक्षा दे डालिए। हमको तो ऐसा लगता है कि आचार-संहिता का तो बस बहाना है, आपको तो हमें बार-बार डाँटने में ही मजा आता है।”

कैसी धृष्टता ! कैसे मन्द बुद्धि शिष्य ! कैसी वक्रता उनकी प्रकृति में !

□ कहाँ है आज हृदय की सरलता ?

प्रकृति की ऋजुता या वक्रता, बुद्धि की प्राज्ञता या जड़ता आदि सब समय-परिवर्तन का परिणाम है। आज महावीर के अनुयायी, जिनधर्म के उपासक संख्या में ज्यादा नहीं हैं, पर आज बढ़ता हुआ संघवाद, अपनी-अपनी बात पर अड़े रहने का हठाग्रह, आडम्बर, शिथिलाचार, शब्द-जाल आदि का विष दिन-प्रतिदिन बढ़ता-फैलता चला जा रहा है। कहाँ गये प्रभु पार्श्वनाथ तक के काल के वे साधक ! कितने सरल, कितने सहज ! आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. ने ‘बड़ी साधु वन्दना’ में प्रकृति की इस सहज सरलता को मुक्ति-प्राप्ति की आसान सीढ़ी बताते हुए इस सोपान पर चढ़कर जिन साधकों ने सिद्धत्व की प्राप्ति की उन्हें भाव-भरा वन्दन किया है।

वलि ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन सार।

शिवराज ऋषीश्वर, धन गांगेय अणगार॥२६॥

शुद्ध संयम पाली, पाम्या केवल सार।

ये चारे मुनिवर, पहुंच्या मोक्ष मंझार॥३०॥

(आधार—भगवतीसूत्र, श. ६, उ. ३२)

□ प्रभु महावीर के शासन में प्रभु पार्श्वकालीन साधक

दोनों कड़ियों में चार मुनिवरों में से तीन प्रसंग पूर्व के प्रवचनों में आप सुन चुके हैं। आज चलेगा मुनि गांगेय का प्रसंग।

तीर्थकर पार्श्वनाथ प्रभु के चातुर्याम रूप धर्म का पालन करने वाले उन्हीं के शासनकाल के अत्यन्त सरल हृदय श्रमण थे मुनि गांगेय। गांगेय ही नहीं, अनेकों अन्य पार्श्वपत्य श्रमणों ने प्रभु महावीर के शासनकाल में उनकी धर्मदेशना सुन समय के प्रभाव से परिवर्तित किये गये धर्म-चिह्न (लिंगादि) को ग्रहण किया तथा चार महाव्रतों के स्थान पर पाँच महाव्रतों को धारण कर प्रभु महावीर के शासन की साधना-पद्धति को स्वीकार किया।

□ श्रमण गांगेय प्रभु महावीर के चरणों में

पार्श्वकालीन चातुर्याम धर्म के पालक श्रमण गांगेय दृढ़ता से जिनधर्म के पालक व संयम-पथ के अत्यन्त आस्थावान साधक-पथिक थे। उन दिनों भगवान महावीर वाणिज्यग्राम के द्युतिपलाश उद्यान में विराजमान थे। गांगेय अणगार ने जब यह सुना तो वे भी जहाँ श्रमण भगवान महावीर थे, वहाँ आये और पूछा—“भगवन् ! नरक में उत्पन्न होने वाले नैरयिक सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?”

□ साँच को आँच कहाँ पर आज तो साँच भी है कहाँ ?

उस समय मन की शंकाओं का समाधान प्रभु स्वयं देते थे। केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त वे सर्वज्ञ तीर्थकर शंका-समाधान के लिए स्वयं विद्यमान थे। आज इस क्षेत्र में तीर्थकर तो विद्यमान हैं नहीं, तीर्थकर-वाणी या आगम-ग्रन्थ ही प्रमाण हैं। उस समय गांगेय ने विचार किया—‘पता लगाऊँ ये महावीर सर्वज्ञ हैं या नहीं ? पर कैसे पता लगाऊँ ? जो सर्वज्ञ हैं, उनके कोई बाहरी चिह्न तो होता नहीं, उनके पास सर्वज्ञता की डिग्री, सर्तिफिकेट, प्रमाण-पत्र भी होता नहीं। आवश्यकता भी कहाँ है ? साँच को भला कहाँ आँच ? बंधुओं ! आज तो साँच ही नहीं है। कहते हैं आपको श्रावक पर क्या आप श्रावक हैं ? क्या आपने श्रावकों के बारह व्रतों में से एक भी व्रत धारण कर रखा है ? क्या आप कभी यथार्थ प्रतिक्रमण करते हैं ? किसे कहते हैं प्रतिक्रमण ? अतिचार लगेँ यदि व्रत में तो उनको दूर करने हेतु आलोचना, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त।

व्रत-भंग हो तो पुनः व्रत में अपने को स्थिर करना। यही तो है प्रतिक्रमण। आपने तो व्रत ही धारण नहीं किये तो फिर आप प्रतिक्रमण करें तो भी किस बात का करें ?' व्रत ही नहीं तो न अतिचार है, न अनाचार है। बंधुओं ! समझिए जरा बात को। व्रत यदि जीवन में नहीं तो सम्पूर्ण जीवन ही अनाचार है।

□ सान्तर-निरन्तर सम्बन्धी प्रश्न

बात चल रही थी—सर्वज्ञता की पहचान कैसे हो ? इस पहचान के लिए ही गांगेय अनगार ने प्रभु से प्रश्न किया था। प्रश्न में दो शब्द जानने योग्य हैं। सान्तर शब्द का अर्थ है—जीवों की उत्पत्ति, मरण आदि में समय आदि काल का अन्तर या व्यवधान होना। निरन्तर शब्द का तात्पर्य है—जहाँ यह अन्तर नहीं होता।

□ भगवान महावीर द्वारा समाधान

प्रभु ने कहा—“हे गांगेय ! नैरयिक सांतर भी होते हैं और निरन्तर भी।”

गांगेय ने तब दस भवनपति देवताओं, पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरों, तीन विकलेन्द्रियों, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यंतरदेव, ज्योतिषीदेव तथा वैमानिकदेव—इन सभी के जीवों की उत्पत्ति में सान्तरता या निरन्तरता सम्बन्धी प्रश्न पूछे।

प्रभु ने फरमाया—“हे गांगेय ! दस भवनपतिदेव तथा विकलेन्द्रिय से वैमानिकदेवों तक के सभी जीवों की उत्पत्ति सान्तर भी है और निरन्तर भी।”

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरकायों के जीव सान्तर उत्पन्न नहीं होते, निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

गांगेय अनगार ने तब इन्हीं जीवों के मरण की सान्तरता या निरन्तरता के बारे में जानने की जिज्ञासा प्रकट की। प्रभु ने उत्पत्ति की भाँति ही इन जीवों की मरण की भी सान्तरता और निरन्तरता बतलाई। देवों के जीवों का मरण च्यवन तथा नैरयिकों आदि के जीवों का मरण उद्वर्तन कहलाता है।

उत्पत्ति तथा मरण (च्यवन) आदि की सान्तरता, निरन्तरता के विषय में जिज्ञासा शान्त हो जाने पर गांगेय अनगार ने चारों गतियों के प्रवेशनक-प्रकार अर्थात् एक गति से दूसरी गति में जाने के प्रकार पूछे।

□ प्रवेशनक-प्रकार

इस पर प्रभु महावीर ने गांगेय अनगार को सम्बोधित करते हुए उपस्थित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की परिषदा को चारों गतियों के प्रवेशनक तथा उन प्रवेशनकों के विभिन्न भंगों का विस्तृत उल्लेख कर असंयोगी व संयोगी विकल्पों तथा उत्कृष्ट प्रवेशनकों की संख्या बताकर मुनिवर की जिज्ञासा को शान्त किया। उनके अल्प-बहुत्व की बात भी बताई और कहा—“हे गांगेय ! अधःसप्तम पृथ्वी (नरक) में जाने वाले जीव सबसे कम हैं। तमःप्रभा में अधःसप्तम की अपेक्षा जाने वाले जीव असंख्यात गुणा हैं। इस प्रकार विपरीत क्रम से आगे की पृथ्वियों में असंख्यात गुणा क्रमशः समझ लेना चाहिए।”

तिर्यच-प्रवेशनक पाँच प्रकार के हैं। इनमें सबसे कम पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक-प्रवेशनक हैं। उनसे चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक हैं, त्रीन्द्रिय उनसे विशेषाधिक यही क्रम एकेन्द्रिय तिर्यच तक समझ लेना चाहिए।

मनुष्य दो प्रकार के हैं—सम्मूर्छिम और गर्भज। गर्भज मनुष्य-प्रवेशनक सबसे कम हैं। उनसे सम्मूर्छिम मनुष्य-प्रवेशनक असंख्यात गुणा हैं।

देवों में वैमानिकदेव-प्रवेशनक सबसे कम, उनसे भवनपति असंख्यात गुणा, उनसे वाणव्यंतर असंख्यात गुणा और उनसे ज्योतिषीदेव-प्रवेशनक संख्यात गुणा हैं।

प्रभु ने गांगेय अनगार को बताया कि चारों गतियों में सबसे अल्प मनुष्य-प्रवेशनक, उनसे नैरियक-प्रवेशनक असंख्यात गुणा, उनसे देवगति-प्रवेशनक असंख्यात गुणा और उनसे तिर्यचगति-प्रवेशनक अनंत गुणा हैं।

गांगेय अनगार की जिज्ञासाओं को शान्त करते हुए प्रभु ने कहा—“नैरियक, तिर्यच, मनुष्य और देव सभी गति और जाति के जीव विद्यमान गति के जीवों में ही उत्पन्न होते हैं। जो सत् नैरियक हैं उन्हीं में नैरियक उत्पन्न होंगे और उन्हीं में से उद्वर्तन करेंगे।”

सत् का अर्थ है द्रव्य से विद्यमान। असत् द्रव्य तो कोई भी उत्पन्न होता नहीं। जीवों में जीव द्रव्य की अपेक्षा से सत्त्व अर्थात् जीव की सत्ता विद्यमान रहती है, अस्तित्व रहता है। पर्याय की अपेक्षा से भी द्रव्यतः उत्पत्ति की बात सत् को सिद्ध करती है। भावी नारक-पर्याय की अपेक्षा से द्रव्यतः नारक ही नारकों में उत्पन्न होते हैं। अथवा

यहाँ से मरकर नरक में जाते समय टेढ़ी-मेढ़ी गति (विग्रहगति) में नरकायु का उदय हो जाने से वे जीव भाव नारक होकर भी नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं। लोक शाश्वत है। अतः नारकादि जीवों का सदैव सद्भव होता है। इस प्रकार जो जीव नरक में उत्पन्न होते हैं, पहले से उत्पन्न हुए सत् नैरयिकों में समुत्पन्न होते हैं, असत् नैरयिकों में नहीं।

□ “मैं आत्मा के द्वारा जानता हूँ”-महावीर

इतना सब प्रभु महावीर के श्रीमुख से सुनकर ज्ञान-सुधा से तृप्त गांगेय अनगार ने पूछा—“ भगवन् ! आपने मुझे अभी जो कुछ बताया, वह सब आप स्वयं किस प्रकार से जानते हैं या अस्वयं जानते हैं ? सुनकर जानते हैं अथवा बिना सुने ही जानते हैं ?”

प्रभु ने तब फरमाया—“ गांगेय ! मैं अनुमान आदि के द्वारा नहीं, अपितु स्वयं आत्मा द्वारा जानता हूँ। मैं दूसरों के मुँह से कही बात सुनकर अथवा आगमतः पढ़-सुनकर नहीं जानता, अपितु बिना सुने ही आगम-निरपेक्ष होकर स्वयं, “यह ऐसा है” इस प्रकार जानता हूँ। बंधुओं ! प्रभु तो केवलज्ञानी थे, सर्वज्ञ थे और केवलज्ञानियों का स्वभाव पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप केवलज्ञान द्वारा समस्त वस्तु-समूह को प्रत्यक्ष-साक्षात् करने का होता है।

□ ईश्वर का कर्मफल, स्वर्ग-नरक से कोई सम्बन्ध नहीं है

भगवान महावीर ने अनगार गांगेय से कहा—“ हे गांगेय ! कुछ मूढमति बताते हैं कि यह जीव अज्ञ है, अपने लिए सुख-दुःख उत्पन्न करने में असमर्थ है। ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है। यह असत्य कथन है, मिथ्या तत्त्व है, क्योंकि सभी जीव कर्म के उदय, कर्मों की गुरुता, कर्मों के भारीपन, कर्मों की अति प्रकर्षावस्था, कर्मों के विपाक व फलपरिपाक से ही नरकादि चार गति, चौबीस दण्डक में भ्रमण करते, सुख-दुःख उठाते हैं। जीव जैसे कर्म करने में स्वतंत्र है, उसी प्रकार कर्मों का फल भोगने के लिए भी वह स्वयं ही स्वर्ग या नरक में कर्मफल के कारण ही जाता है। ईश्वर का कर्मफल से, स्वर्ग या नरक भेजने से कोई सम्बन्ध नहीं होता।”

□ श्रमण गांगेय चातुर्याम से पंचमहाव्रत में

गांगेय ने जिसे जानना चाहा, जान लिया, अर्थात् वे जान गये कि प्रभु महावीर सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। उन्होंने वहीं प्रभु महावीर के निकट चातुर्याम रूप धर्म के बदले

पंचमहाव्रत रूप धर्म को अंगीकार किया। अपनी पूर्व परम्परा को त्यागकर वर्तमान शासनपति तीर्थंकर भगवंत की परम्परा को ग्रहण किया। धन्य है मुनिवर गांगेय को, उनकी शासन के प्रति समर्पण भावना को। आज कहाँ है ऐसी भावना ? वे तेईसवें तीर्थंकर काल के ऋजु-प्राज्ञ पुरुष थे। आज के युग में तो पुरुष वक्र-जड़ हैं। वे अपने हठाग्रह पर अडिग रहना चाहते हैं, साम्प्रदायिक कदाग्रहों को पालते हैं, दुराग्रहों को गले लगाकर उनके पोषण हेतु झगड़ा-फसाद करते-करवाते हैं। संत कहते हैं—अरे देवानुप्रियों ! अपने हठाग्रह को, मिथ्या मत को, असत्य धारणा को त्यागो, पर वक्र और जड़ आज के मानव कहाँ छोड़ते हैं अपनी अंध श्रद्धा। उनकी पकड़ स्याद्वाद और अनेकांत से हटकर एकान्तवाद में पैठ गई है, जिसे आगमिक भाषा में मिथ्यात्व कहा जाता है।

□ श्रमण गांगेय को मुक्ति

बंधुओं ! गांगेय अनगार ने बहुत वर्षों तक निरतिचार प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रत रूप संयमधर्म का पालन किया, बाईस परीषहों को सहन करते हुए अभीष्ट प्रयोजन की सम्यक् रूपेण आराधना की और वे अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

□ सुनकर गुनें, जीवन में उतारें

सुन रहे हैं आप मोक्षगामी भव्यात्माओं के प्रसंग। सुनने की सार्थकता जीवन में उतारने से है। जिस-जिस रूप में भी यत्किंचित् जीवन में उतारेंगे तो निश्चय ही उस-उस रूप में आपका मोक्ष-पथ प्रशस्त होगा और वह शुभ दिन भी आयेगा, जब आप भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनने का अवसर प्राप्त करेंगे ।

आनंद ही आनंद !



जिज्ञासा की अक्षय स्रोत

(जयन्ती, सुदर्शना तथा प्रियदर्शना सती)

आत्म-बंधुओं !

तीर्थंकर भगवंतों की अमृत-वागरणा ही जिनवाणी है जो समस्त प्राणियों को आत्म-शुद्धि, आत्म-विकास एवं परमात्मस्वरूप-प्राप्ति का पथ बताती है। प्रत्येक जीवात्मा अनादिकाल से कर्म-रज से आवृत होकर अपनी अनंत ज्ञानादि शक्तियों को भूल बैठा है। आत्मा और कर्मों के सम्बन्धों का बड़ा सूक्ष्म एवं बहुत ही विस्तृत विवेचन वीतराग वाणी में मिलेगा। जीव ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। संसार में कर्मों की यह सत्ता ही जीवात्मा को सांसारिक बनाकर भटकती है।

□ बंधन और मुक्ति

कर्म बड़े बलवान हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म ही प्राणी को संसार-सागर की चार गतियों, पाँच जातियों और चौबीस दंडकों से दंडित बनाते हैं। प्राणी इन्हीं कर्मों के वशीभूत नानाविध सुख-दुःख भोगता है। पाप कार्यों से जब कभी प्राणी विमुख बन धर्म-साधना में बढ़ता है, अन्तर्मुखी बनता है, आत्म-रमण करता है तो कर्म हलके होने लगते हैं। जीव का कर्मरूप बोझ घट जाता है तो वह हलका होकर ऊपर उठता है। जो आत्मा हलकी होगी, वह ऊपर उठेगी—यही सिद्धान्त है, यही नियम है, यही प्रकृति है। कर्म जब पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं तो जीव बार-बार के जन्म-मरण से सदा-सदा के लिए छुटकारा पाकर मोक्ष-स्थान में जा विराजता है।

चल रहा है चातुर्मास के इन पावन दिनों में उन महापुरुषों का वर्णन, जिन्होंने सम्यग्ज्ञान- दर्शन-चारित्र्य का सम्यक् प्रकारेण आराधन कर मोक्ष को प्राप्त किया अथवा दो-एक भव के बाद मोक्ष प्राप्त करेंगे। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा का होना आवश्यक है। जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा का नाम ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन

की प्राप्ति होने पर ही मोक्ष-पथ मिलेगा। मोक्ष-पथ पर चलेंगे तो कर्म कटेंगे। कर्म कटेंगे तो आत्मा अपने विशुद्ध रूप में आएगी, मुक्तात्मा बनेगी, परमात्मा बनेगी।

□ मोक्ष-हेतु रिजर्वेशन टिकट है : सम्यग्दर्शन

बंधुओं ! सम्यग्दर्शन मोक्ष के लिए जाने वाली गाड़ी में बैठने का रिजर्वेशन टिकट है। क्या हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त है ? यदि प्राप्त है तो क्या वह विशुद्ध है ? यदि नहीं तो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करनी होगी तभी निश्चित लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा। कैसे होगी दर्शन की विशुद्धि ?

□ प्रभु की स्तुति से दर्शन-विशुद्धि

उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्ययन में तीर्थंकर भगवन्त प्रभु महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी अपने पट्ट शिष्य जम्बू स्वामी को वे प्रश्नोत्तर सुनाते हैं, जिनको उन्होंने भगवान महावीर से सुना था। सुधर्मा स्वामी स्वयं श्रुतकेवली थे, पर गुरुमाहात्म्य प्रकट करने के लिए वे यहाँ जम्बू स्वामी से कहते हैं कि जैसा मैंने काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान महावीर से सुना, वह तुम्हें बताता हूँ। इस अध्ययन के नववें पद में पूछा गया था प्रभु महावीर से—

चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अर्थात् हे भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव (चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों की स्तुति करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ? प्रभु फरमाते हैं—

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

अर्थात् चतुर्विंशतिस्तव से जीव दर्शन-विशुद्धि प्राप्त करता है।

आप जानते हैं—ये चतुर्विंशतिस्तव क्या है ? यह है लोगस्स का पाठ, जिसमें आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभ से वर्तमान शासन-नायक चौबीसवें तीर्थंकर प्रभु महावीर तक के चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों की स्तुति की गई है। बंधुओं ! लोगस्स का पाठ कितना प्रभावक है ? इसे भावपूर्वक स्मरण करें, इसका निरन्तर स्वाध्याय करें तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह कि मोक्ष-मंजिल के ताले खुल जाते हैं। लोगस्स कामनन- चिन्तन आत्मा का विशोधन कर उसे पहले महात्मा बनाता है फिर परमात्मा बना देता है।

□ मुक्ति में जाना है तो.....

जन्म से सभी जीव सशरीरी हैं। विशेषता तो तब है जब जीव शरीररहित बन आत्म-स्वरूप में ही ज्योत में ज्योत होकर विराजे। एक गति से जब भी जीव दूसरी गति में जाता है तो सूक्ष्म शरीर साथ जाता है। तेजस् और कार्मण—ये दो शरीर प्रत्येक समय जीव के साथ रहते हैं। औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर यथा गति, यथा नामकर्म प्रकृति से मिलते हैं। अलग-अलग गतियों में ये अलग-अलग ढंग से प्राप्त होते हैं। सूक्ष्म व स्थूल इन दोनों प्रकार के शरीरों से मुक्त बनना ही मोक्ष-प्राप्ति है। शरीररहित बनने के लिए सम्यक्त्व में पुरुषार्थ, संयम में पराक्रम फोड़ना आवश्यक है।

□ आत्मा-महात्मा-परमात्मा

जिन भवि जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया, जिन महाभाग्यशाली पुरुषों ने सम्यक्त्व प्राप्त कर उसमें पराक्रम फोड़ा और अपनी आत्मा को महात्मा के पद पर प्रतिष्ठापित किया, जिन महानात्माओं ने सम्यक्त्व में पुरुषार्थ कर संयम ग्रहण किया व संयम में पराक्रम फोड़ मुक्ति का वासा लिया या लेंगे, परमात्मा होंगे। ऐसे ही महान् पुरुषों का प्रसंग पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. की पावन रचना 'बड़ी साधु वन्दना' में चल रहा है—

भगवंत नी माता, धन-धन सती देवानंदा।

वलि सती जयंती, छोड़ दिया घर-फंदा॥३१॥

(आधार—भगवतीसूत्र, श. १२, उ. २)

सती मुगति पहुंच्या, वलि ते वीर नी नंद।

महासती सुदर्शना, घणी सतियां ना वृंद॥३२॥

सती देवानंदा का प्रसंग आप ऋषभदत्त मुनि के प्रसंग के साथ सुन चुके हैं। आज प्रभु महावीर की उस महानात्मा श्राविका का प्रसंग चलेगा, जिसने जीवनभर ज्ञानाराधना की अलख जगाते हुए श्रमणी-संघ में सम्मिलित हो निरतिचार संयम का पालन कर कठोर तपश्चर्या की साधना से मुक्ति पद प्राप्त किया।

□ प्रभु ने प्रशंसा की जिसकी

भगवान महावीर की श्राविकाओं की संख्या थी—तीन लाख अठारह हजार। इतने बड़े श्राविका-समूह में से जयन्ती श्राविका के ज्ञान-ध्यानादि की स्वयं प्रभु ने अपने श्रीमुख से प्रशंसा की थी। मेरे ध्यान में वही एक अकेली ऐसी श्राविका थी, जिसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। क्यों प्रभु ने उसकी प्रशंसा की, उसका गुणगान किया ? क्या था उसमें ऐसा ? क्या वह उनकी निकट रिश्तेदार थी इसलिए या उस श्राविका ने प्रभु की बहुत सेवा-भक्ति की इसलिए ? नहीं ! जिन-शासन की सेवा के क्षेत्र में उसकी अपनी अनेक ऐसी विशेषताएँ थीं, जिनके कारण प्रभु ने भरी परिषदा में उसकी सराहना की।

□ जयन्ती श्राविका थी 'पूर्वशय्यातरा'

जयन्ती कौशाम्बी के राजा उदयन के पिता शतानीक की बहन और सहस्रानीक राजा की पुत्री थी, अर्थात् वह उदयन की बुआ थी। वह चेटक राजा की पुत्री मृगावती की ननद थी। वह अत्यंत धर्मनिष्ठ थी और प्रभु महावीर के श्रावकों तथा साधुओं को कौशाम्बी में पधारने पर सर्वप्रथम स्थान देने के कारण 'पूर्वशय्यातरा' के नाम से जानी जाने वाली श्रमणोपासिका थी। जयन्ती श्रमणोपासिका जीवाजीवादि तत्त्वों की ज्ञाता थी।

□ श्रेष्ठ है साधर्मिक सेवा

जो भी स्वधर्मी श्रावक कौशाम्बी आते, चाहे वे किसी भी काम से आते हों—जयन्ती उन्हें अपने घर बुलवाती, उनके स्नान-भोजन-शयन की व्यवस्था करती, उपवास होता तो पौषध के उपकरण देती, पारणा होता तो पारणा करवाती। वह उन्हें उनके व्रत, प्रत्याख्यानो में भी सहयोग देती और पूर्ण साधर्मिक सेवा का लाभ लेती। जैनधर्म की मान्यता है कि तपस्या करना आसान है, स्वाध्याय और ध्यान भी आसान है, ज्ञानाराधन भी उतना कठिन नहीं, पर सेवा-धर्म को निभाना अत्यन्त कठिन कार्य है। ज्ञानी तो यहाँ तक कहते हैं कि सेवा की साधना करने वाला साधक जब तक सेव्य में प्रभु के दर्शन नहीं करता, अपनी आत्मा का प्रतिरूप उसमें नहीं देखता तो वह समर्पित भाव से सेवा कर ही नहीं सकता। कैसा भी रोग हो सेव्य को, पर सेवा करने वाला उससे घृणा नहीं करता। परदुःखकातर होता है वह और कैसी भी अशुचि उसके मन में घृणा भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। वह तो सेव्य में परमात्मा का स्वरूप पाता है।

□ जं गिलाणं पडिचरई, से धन्ने

गौतम गणधर ने भगवान महावीर से पूछा—“भगवन् ! एक साधक अपना सर्वस्व आपको समर्पित कर आपके चरणों में रहकर आपकी सेवा करता है, दूसरा साधक आपके चरणों में रहकर आपकी सेवा तो नहीं करता परन्तु ग्लान, रोगी, पीड़ित सन्तों की सेवा में सदैव तत्पर रहता है। इन दोनों में से धन्य कौन है ?”

आवश्यकसूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र सूरि लिखते हैं कि प्रभु ने फरमाया—“हे गौतम ! मुझे अपनी पूजा, सेवा नहीं चाहिए। मैं तो पीड़ित-ग्लान संयमी की सेवा को अपनी ही सेवा समझता हूँ। “जं गिलाणं पडिचरई, से धन्ने।” अर्थात् जो ग्लान, रोगी, संतप्त, पीड़ित साधु की सेवा करता है—वह धन्य है।”

□ सेवा से तीर्थकर नामकर्म

उत्तराध्ययनसूत्र के ‘सम्यक्त्व पराक्रम’ नामक उन्तीसवें अध्ययन में भी सेवा के महनीय महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए प्रभु महावीर कहते हैं—

वैयावच्चेणं तित्थयर णामगोयं कम्मं निबंधइ।

अर्थात् वैयावृत्य (सेवा) से तीर्थकर नाम गोत्र कर्म उपार्जित होता है।

□ सेवा पहले, स्वाध्याय बाद में

साधक के लिए आगम निर्देश है कि सेवा के साथ ही वह रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे प्रहर में निद्रा ले तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे। स्पष्ट है कि साधक के जीवन में स्वाध्याय को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। इसी को जानकर एक शिष्य अपने गुरु से रात्रि के प्रथम प्रहर में पृच्छा करता है—“गुरुदेव ! प्रतिक्रमण कर लिया। अब आपका क्या आदेश है ? मैं स्वाध्याय करूँ या सेवा करूँ ?”

गुरु कहते हैं—“हे शिष्य ! यदि कोई बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी संत हों तो तुम पहले उनकी वैयावृत्य (सेवा) करो, स्वाध्याय बाद में कर लेना।”

□ सेवाभाव के अभाव में अनर्थ की एक झलक

बंधुओं ! निर्जरा अर्थात् तप के बारह भेदों में जो छह आभ्यंतर भेद बताए हैं, उनमें वैयावृत्य भी है और स्वाध्याय भी, पर सर्वज्ञों की दृष्टि में भी और ज्ञानी आचार्यों की

दृष्टि में भी सेवा का महत्त्व स्वाध्याय से कहीं अधिक है। सेवा साधक का अति विशिष्ट गुण है। तपस्वी को आवेश या क्रोध उत्पन्न होने की संभावना है, स्वाध्यायी को अहंकार हो सकता है, पर सेवाभाव में किसी भी तरह के अवगुण, कषाय आदि की उत्पत्ति की संभावना नहीं होती। जमाली साधु था, प्रभु का जँवाई था, पर सेवाभाव, समर्पण का भाव न होने से न जमाली स्वयं को धर्म में जमा सका, न स्वयं की प्रतिष्ठा ही जमा सका। उसने तो अपनी साधना, प्रतिष्ठा गँवाई, उड़ाई, नष्ट ही की। पाँच सौ शिष्यों के साथ वह प्रभु की चरण-सेवा से दूर, उनसे अलग हो गया।

प्रभु तो सर्वज्ञ थे, वे जानते थे कि जमाली अनगार पाँच सौ अनगारों के साथ सर्वत्र विचरण की महत्त्वाकांक्षा मन में लिए जा रहा है। वे यह भी जानते थे कि उसके स्वतंत्र विचरण के पीछे अहंकार, महत्त्वाकांक्षा एवं अधैर्य की विद्यमानता है और भविष्य में वह देव-गुरु आदि के प्रति विरोधी भाव रखेगा। प्रभु ने जमाली को स्वतंत्र विचरण करने की आज्ञा नहीं दी, पर जमाली प्रभु की आज्ञा की उपेक्षा, अवहेलना कर पृथक् विहार करने लगा।

जमाली तप में शूर था, पर वह धीर नहीं, अधीर था। कालान्तर में तपस्या से उसने अपना शरीर अत्यन्त कृश बना लिया। असातावेदनीय कर्म के उदय से उसके शरीर में रोगों की उत्पत्ति हुई। वह चिड़चिड़े स्वभाव का हो गया। एक तो शरीर अशक्त, उस पर रोगों का आक्रमण। शिष्य से कहा—“मुझे सोना है, मेरे लिए शय्या लगा दो।”

जिस शिष्य को कहा गया, वह कुछ काम कर रहा था। गुरु का आदेश किसी अन्य शिष्य को सँभलाते वह बोला—“सुनो ! गुरुदेव के लिए तुम शय्या लगा दो।” दूसरा शिष्य उठा, शय्या लगाने लगा। कुछ देर हो गई। जमाली का धैर्य समाप्त हो गया, वस्तुतः तो वह धैर्यगुण-सम्पन्न था ही नहीं। आवेश में आकर बोला—“मेरी शय्या लग गई क्या ?”

शिष्य ने कहा—“आपकी शय्या लग गई।” जब जमाली शय्या की ओर आया तो देखा कि अन्य कोई शिष्य अभी शय्या-संस्कारक लगा रहा है। तब जमाली अनगार के मन में विचार आया कि भगवान महावीर तो प्ररूपणा करते हैं—“**एवं खलु चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव निज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे।**” अर्थात् चलमान जो है वह चलित है, उदीर्यमाण उदीरित है, यावत् निर्जीणमाण निर्जीण है। लगता है

प्रभु का ऐसा कथन सत्य नहीं है। क्योंकि मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि जब तक शय्या-संस्तारक बिछाया जा रहा है, तब तक वह बिछाया गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह चलमान भी चलित नहीं है, किन्तु अचलित है।

जमाली अनगार ने तब श्रमण-निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा—“प्रभु का यह कथन कि चलमान चलित है, सत्य नहीं है। वस्तुतः “**कज्जमाणे कडे**” की जगह “**कज्जमाणे अकडे**” ही सत्य है। क्रियमाण अभी कृत नहीं है, क्रियमाण तो अकृत ही है। जो कार्य किया जा रहा है, उसके सम्पूर्ण न होते तक ‘कृत’ या ‘किया गया’—ऐसा कहना मिथ्या है।”

जमाली के इस प्रकार के कथन को कुछ श्रमण-निर्ग्रन्थों ने माना पर कितने ही श्रमणों ने इस बात पर प्रतीति नहीं की। अतः वे जमाली अनगार को छोड़कर विहार-विचरण करते प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच उनकी निश्राय स्वीकार कर विचरण करने लगे।

कुछ काल पश्चात् जमाली रोगमुक्त हुए, नीरोग हो हृष्ट-पुष्ट, बलवान शरीर वाले हुए। तब एक दिन जमाली अनगार चम्पानगरी में जहाँ भगवान महावीर विराजमान थे, वहाँ आकर प्रभु से बोले—“मैं केवलज्ञान-केवलदर्शन को धारण करने वाला केवली अर्हत् बन गया हूँ।”

इस पर गणधर गौतम स्वामी ने जमाली अनगार से दो प्रश्न किए—“लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? तथा जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?”

जमाली अनगार उत्तर नहीं दे सका। प्रभु ने उसे लोक और जीव की शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में समझाया और उससे सर्वज्ञता का झूठा दावा न करने की बात कही। प्रभु की सेवा से दूर रहने वाले जमाली अनगार के मन में भला प्रभु की सत्य बात पर कैसे प्रतीति हो सकती थी ? प्रभु के इन वचनों पर अश्रद्धा करते हुए उसने अपने अलग मन्तव्य का जोर-शोर से प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। बहुत से मिथ्या तथ्यों की प्ररूपणा करते हुए स्व एवं पर को भ्रान्त बनाते हुए कितने ही वर्षों तक संयम-पालन करके एवं तपस्या करके मृत्यु के पश्चात् वह जमाली निम्न कोटि का देव बना।

बंधुओं ! स्पष्ट है कि कोई साधक चाहे जितनी ऊँची क्रिया करे, कठोर चारित्र-पालन करे, किन्तु यदि वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी मति मिथ्यात्वग्रस्त है, वह अज्ञानतम में भटक रहा है और वैयावृत्य तप से दूर रहता है तो देव बनने पर भी निम्न श्रेणी का देव ही बनता है और फिर अनन्त संसार परिभ्रमण करता है। यहाँ सेवा का आशय भगवान की आज्ञा-पालन से है।

□ जयन्ती की सेवा, जीवन का अंग

जयन्ती श्राविका ऐसी नहीं थी। वह तो सेवा को जीवन का अंग मानती थी। साधर्मिक सेवा, सजातीय बंधुओं को आहार-पानी, शयन तथा साधु-संतों को भी स्थान, पात्र, वस्त्र, गोचरी आदि से लाभान्वित करना तथा भगवान की आज्ञा में ही धर्म मानना उसका सबसे पहला कार्य था।

□ प्रभु महावीर के दर्शन

एक बार भगवान महावीर ग्रामानुग्राम पद-विहार करते हुए अपने शिष्य-समुदाय सहित कौशाम्बी में पधारे और चन्द्रावतरण नामक उद्यान में विराजित हुए। प्रभु के आने की सूचना पाकर राजा उदयन अपने पूरे राजसी ठाट-बाट के साथ प्रभु-दर्शनार्थ गया। राजा उदयन के साथ उसके सभी मंत्री, दरबारी, सेवक, अनुचर आदि तो थे ही, माता मृगावती एवं बुआ श्राविका जयन्ती भी थी।

□ जयन्ती के प्रश्न

सभी प्रभु के चरणों में पहुँचे। सभी ने तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना की और धर्मदेशना सुनने हेतु वे समवसरण में प्रभु-चरणों की सेवा में बैठ गए। धर्मदेशना सुन सभी अपने-अपने स्थान के लिए चले। राजा उदयन, मृगावती, मंत्रीगण आदि भी नगर के लिए चल दिए, पर श्राविका जयन्ती वहीं ठहर गईं। अवसर मिलने पर प्रभु-चरणों में वन्दना कर उसने विनीत भाव से धर्मचर्चा प्रारम्भ करते हुए पूछा—
“कहं णं भत्ते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ?”

तात्पर्य यह कि जीव किस कारण से गुरुत्व या लघुत्व को प्राप्त होते हैं ?

□ जीव पाप-प्रवृत्ति से गुरुत्व तथा पाप-निवृत्ति से लघुत्व प्राप्त करता है

श्राविका की जिज्ञासा को शान्त करते हुए ज्ञातपुत्र प्रभु महावीर ने कहा—“जयन्ती !
पाणात्तिपातेणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति।”

अर्थात् प्राणातिपात से मिथ्यादर्शनशल्य तक जो अठारह पापस्थान हैं, इनके सेवन से जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जो इनका सेवन नहीं करता, इनका त्याग कर देता है, इनसे निवृत्त हो जाता है, वह जीव शीघ्र लघुत्व को प्राप्त कर लेता है।

बंधुओं ! जीव भारी बनता है कर्मों से और कर्म बँधते हैं पापकार्यों से। अतः कर्मों से हलका होना है, आत्मा को हलका बनाना है तो अठारह पापस्थानों को त्यागना होगा।

□ भवसिद्धित्व सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—जीवों का भवसिद्धिकपना स्वाभाविक है या पारिणामिक ?

प्रश्न २—सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जायेंगे तो क्या लोक भवसिद्धिक जीवों से रहित हो जायेगा ?

जयन्ती के उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान में प्रभु ने आगे फरमाया कि जीवों का भवसिद्धिकत्व स्वाभाविक है, पारिणामिक नहीं। सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध बनेंगे। सभी भवसिद्धिक जीवों के सिद्ध हो जाने पर भी लोक भवसिद्धिक जीवों से रहित नहीं बनेगा। यह ऐसे ही है, जैसे भविष्यकाल कभी न कभी वर्तमानकाल हो जायेगा पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ऐसा समय भी आ सकता है जब संसार भविष्यकाल से शून्य हो जायेगा।

बंधुओं ! जिनकी सिद्धि भविष्य में होने वाली है, जो भव्य हैं, जो मुक्ति के योग्य हैं वे सभी एक-न-एक दिन अवश्य सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनेंगे। अतः जीवों का भवसिद्धिकत्व स्वाभाविक है। ऐसा कभी होता नहीं कि जो अभवसिद्धिक थे या हैं, वे पर्याय-परिवर्तन होने के कारण भवसिद्धिक हो गए या हो जाएँ। प्रभु ने सर्वाकाश श्रेणी का उद्धरण देकर जयन्ती श्राविका को बताया कि जैसे सर्वाकाश श्रेणी जो अनादि अनंत है, उसमें से प्रतिसमय एक-एक परमाणु-पुद्गल जितना खण्ड निकाला जाए तो अनंत अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी बीत जाने पर भी वह आकाश श्रेणी खाली नहीं होती, उसी प्रकार भवसिद्धिक जीवों के मोक्ष जाते रहने पर भी यह लोक भवसिद्धिक जीवों से खाली नहीं होगा।

□ सोते अच्छे या जागते अच्छे ?

कौन श्रेष्ठ-सुप्त या जागृत, सबल या दुर्बल, दक्ष या आलसी ? आदि प्रश्नों के समाधान में प्रभु महावीर फरमाते हैं—“हे जयन्ती ! कुछ जीवों का सुप्त रहना अच्छा है तो कुछ का जागृत रहना, कुछ का सबल होना अच्छा है तो कुछ का दुर्बल रहना, कुछ का दक्ष बनना श्रेष्ठ है तो कुछ का आलसी बने रहना।”

अपने इन समाधानों के कारणों का निर्देश करते हुए प्रभु कहते हैं—“जो धार्मिक हैं, धर्मानुसारी हैं, धर्मप्रिय हैं, धर्म का कथन करने वाले हैं, धर्मासक्त हैं, धर्माचरणी हैं, धर्म के अवलोकनकर्त्ता हैं और धर्म से ही अपनी आजीविका करने वाले जीव हैं, उनका जागृत रहना अच्छा, पर जो अधार्मिक, अधर्मानुसारी, अधर्मप्रिय आदि हैं, उनका सुप्त रहना श्रेष्ठ है।”

यदि जीव धर्मकार्यों में समय व्यतीत करता है तो उसका जागना अच्छा और पापकार्यों में समय बिताता है तो उसका सोना अच्छा।

यही बात शारीरिक बल के लिए भी है। यदि शरीर की शक्ति का उपयोग धर्माचरण में होता है तो बलवान होना श्रेष्ठ है; अन्यथा निर्बल रहना ही अच्छा है। धर्म करने के लिए सामर्थ्य चाहिए। “शरीर माध्यम खलु धर्म साधनं।” शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि मनोबली, आत्मबली वीर साधक ही कर्म काटने में समर्थ बनते हैं। मोक्ष में जाना है तो शारीरिक संहनन उच्च दर्जे का आवश्यक है। ‘वज्रऋषभनाराच’ हो यदि शरीर तभी मोक्ष में जाने की सामर्थ्य होती है।

इसी भाँति जो व्यक्ति पापाचरण करते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, उनका आलसी होना ही अच्छा है, पर जो जीव सम्यग्दर्शी हैं, अपना समय धर्मकार्यों में, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना में लगा रहे हैं, उनको स्फूर्तिमान एवं दक्ष होना चाहिए। धर्मकार्यों में आलस्य क्या काम का ? तीर्थकर भगवन्तों का तो जगह-जगह पर स्पष्ट उद्घोष है—“समयं गोयम मा पमायए।” अर्थात् धर्मकार्यों में क्षण मात्र का भी विलम्ब मत करो। अतः धर्मी का अप्रमत्त होना ही श्रेष्ठ है, जबकि पापी का प्रमादी होना अच्छा है।

□ पाप में आलसी और धर्म में स्फूर्तिमान बनिए !

आपको भी आलस्य त्यागना है और धर्मासाधन में पहले से अधिक जुट जाना है। चातुर्मास काल जैसे-जैसे व्यतीत होता जायेगा, वैसे-वैसे शेष काल भी कम होता जायेगा।

चातुर्मास के इस बचे हुए समय में कर्मबंधन तोड़ने के लिए प्रयत्नशील बनना है और इसके लिए व्रत-प्रत्याख्यान आदि के बंधन में बँधना होगा। भाई और बाई, श्रावक वर्ग एवं श्राविका वर्ग, युवा एवं युवतियाँ, बालक और बालिकाएँ सभी कमर कस लें, तैयार हो जाएँ, अधिक-से-अधिक व्रत-प्रत्याख्यानों में बँधने के लिए।

श्राविका जयन्ती ने प्रभु महावीर से भाँति-भाँति के अनेक प्रश्न किए और उनका समाधान प्राप्त कर संतुष्ट हुई, हर्षित हुई, प्रतिबुद्ध बनी।

□ दीक्षा व मुक्ति

कालान्तर में श्राविका जयन्ती ने प्रभु के सम्मुख दीक्षा-मंत्र स्वीकार कर साध्वी धर्म अंगीकार किया। आर्या चन्दनबाला की शिष्या बन साध्वी जयन्ती ने उत्कृष्ट परिणामों के साथ निरतिचार संयम का पालन किया, अंग-शास्त्रों का अध्ययन किया, कठोर तपश्चर्या की, साधना की और अंतिम समय में सम्पूर्ण कर्मों को काटकर वे मोक्ष गति की अधिकारिणी बनीं।

□ उत्कृष्ट साध्वाचार से मुक्ति, कपटाचार नरक का कारण

साधु यदि साध्वाचार का पालन करे तो कम-से-कम देवगति का अधिकारी माना गया है। उत्कृष्ट साधक मोक्ष प्राप्त करता है पर यदि साध्वाचार का पालन नहीं करे, कपटाचार करे, आडम्बर से जीवन बिताए तो नरक-निगोद का भी अधिकारी बन सकता है।

□ सुदर्शना की विरक्ति

जयन्ती की ही भाँति सती सुदर्शना ने भी चिन्तन को श्रेष्ठ बनाकर संयम के सुरभित पथ पर कदम बढ़ाए। वे भगवान महावीर की बहन थीं। युवा होने पर पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला ने अपनी युवा पुत्री की शादी बड़े राजसी ठाट से की। सुदर्शना के एक पुत्र हुआ—जमाली। जमाली का विवाह महावीर की पुत्री प्रियदर्शना के साथ हुआ था।

सुदर्शना का चिन्तन आध्यात्मिक था, आत्मिक था, आत्म-कल्याणी था। उसने जन्म, जरा, मरण आदि को दुःख रूप समझकर, संसार को असार जानकर अपने आप

को धर्म की ओर अग्रसर किया। एक बार प्रभु महावीर की देशना सुनी तो चिन्तन की धारा विरक्ति की ओर बढ़ चली। दूषित विचारधारा हो तो संसार की असारता और जन्म, जरा, मरण के महा दुःख को जानकर भी जीव संसार से विरक्त नहीं बन सकता, पर सुदर्शना तो सुलझे हुए, सम्यक् विचारों की स्वामिनी थी। एक ही देशना ने चिन्तन में विरक्ति के साथ संयम की भावना को उत्पन्न कर दिया।

□ लक्ष्य-निर्धारण से सफलता निश्चित

वे प्रभु के निकट दीक्षित बन संयम के पथ पर अग्रसर हुईं। कर्मवर्गणा को पूर्णतः नष्ट करने के उद्देश्य से उग्र तपश्चरण किया उन्होंने। लक्ष्य निर्धारित था और जब लक्ष्य निर्धारित होता है तो साधना का, श्रम का प्रतिफल सफलता में ही मिलता है।

महासती सुदर्शना के भी कर्म पूर्णतः निर्जरित हुए। जन्म और मरण रूप अनंत भव-भ्रमण से उन्हें छुटकारा मिला। वे मोक्ष गति की अधिकारिणी बनीं।

□ वीर नी नन्द अर्थात् प्रियदर्शना

प्रियदर्शना भगवान महावीर की सांसारिक पुत्री थी। अपनी ही बहन सुदर्शना के पुत्र जमाली, जो क्षत्रियकुंड का राजकुमार था, के साथ प्रियदर्शना का पाणिग्रहण कर देने से जमाली प्रभु का जामाता भी था और भाणजा तो था ही। भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के प्रभु का वर्ष में जमाली ने प्रभु महावीर का उपदेश श्रवण कर विरक्त बन पाँच सौ क्षत्रिय कुमारों के साथ प्रभु के श्रीमुख से दीक्षा-मंत्र लेकर प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया था।

राजकुमार जमाली की पत्नी प्रियदर्शना ने भी प्रभु का उपदेश सुना और संसार से विरक्त बन एक हजार ललनाओं के साथ दीक्षा लेकर श्रमणी-चर्या का पालन करने लगीं।

प्रभु के केवलज्ञान-प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात् अर्थात् जमाली की दीक्षा के तेरहवें वर्ष में अन्यत्र विहार-चर्या में जमाली को तीव्र रोगांतक उत्पन्न हो गया। उसके शरीर में जलन होने लगी। भयंकर दाह-पीड़ा के कारण उसके लिए बैठा रहना भी संभव नहीं था। शयनाभिलाषा से उसने अपने शिष्यों को शय्या-संस्तारक (शय्या-आसन) लगाने के लिए कहा।

साधुओं ने शय्या-आसन लगाना प्रारम्भ किया। दहन पीड़ा से अति व्याकुल जमाली के लिए एक-एक क्षण भारी पड़ रहा था। विलम्ब उसको असह्य था। उसने पूछा—“क्या आसन लगा दिया ?”

साधुओं ने विनयपूर्वक कहा—“भंते ! शय्यासन लग गया है।” जाकर जमाली ने देखा तो शय्यासन लग रहा था।

इस वाक्य को सुनकर जमाली को विचार आया—भगवान महावीर तो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत कहते हैं पर यह तो मिथ्या है। जब मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ जो हुआ नहीं उसे हुआ कैसे कह सकते हैं। तब से उसने अपना **बहुरत दृष्टि** सिद्धान्त बनाकर उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया। मिथ्या मत प्ररूपणा के कारण वह महावीर का प्रथम प्रवचन-निन्दव बना।

साध्वी प्रियदर्शना श्रमण जमाली की रुग्णता का सन्देश पाकर जहाँ जमाली था, उस नगर में आई।

□ प्रियदर्शना जमाली के मत में : ढंक द्वारा प्रियदर्शना को सजग बनाना

जमाली के प्रति अनुराग के कारण प्रियदर्शना ने जमाली का ‘बहुरत दृष्टि’ सिद्धान्त स्वीकार किया और उसके मत की अनुयायी बन गई।

प्रियदर्शना साध्वी ने प्रभु महावीर के परम भक्त कुंभकार ढंक को भी स्वमतानुरागी अर्थात् जमाली के मत का अनुयायी बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए। ढंक ने समझ लिया कि प्रियदर्शना मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त बन ऐसा कह रही हैं। उसने कहा—“मैं तो दो बातें जानता हूँ, प्रथम—कर्मसिद्धान्त सर्वोपरि है और दूसरा—वीतराग वाणी कभी मिथ्या नहीं होती।”

प्रियदर्शना साध्वी को सत्य-पथ पर लाने, सत्य सिद्धान्त समझाने की दृष्टि से एक दिन ढंक ने साध्वी के वस्त्रांचल पर एक नन्हा अंगार कण डाल दिया। वस्त्रांचल जलने लगा। साध्वी प्रियदर्शना ने अपने वस्त्रांचल को जलते देखा तो उसने ढंक से कहा—“श्रावक ! तुमने मेरी साटिका (साड़ी) जला दी।”

ढंक ने तुरन्त कहा—“साध्वी जी महाराज ! साड़ी जली कहाँ ? वह तो अभी आपके शरीर पर ही है। थोड़ी-सी किनारी जल जाने से ‘साड़ी जल गई’ ऐसा कहना

तो आपके सिद्धांत 'बहुरत दृष्टि' के प्रतिकूल है। अतः आपकी परम्परानुसार तो आपका कथन मिथ्या हुआ। कोई प्रभु महावीर का अनुयायी यदि ऐसी बात कहता तो उसकी परम्परानुसार यह ठीक था।”

ढंक की बात सुन प्रियदर्शना प्रतिबोध को प्राप्त हुई। उसने अपनी भूल का प्रतिक्रमण किया, प्रायश्चित्त किया।

प्रियदर्शना अब जमाली के निकट गई और उसने उसे उसकी भूल समझाने का प्रयास किया पर जमाली नहीं समझा। उसने यथार्थ स्वीकार नहीं किया। वह अपने मिथ्या-मत पर अड़ा रहा।

□ प्रियदर्शना पुनः प्रभु महावीर के पास : शुद्ध संयम पालन से मुक्ति

इस पर प्रियदर्शना अपनी शिष्याओं के साथ जमाली को छोड़ प्रभु के पास चली गई।

प्रियदर्शना आर्या ने सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। कर्मबंधनों को तोड़ने के लिए संयम में पराक्रम फोड़ा और उग्र तपश्चरण किया। अपने लक्ष्य के अनुरूप समस्त कर्मबंधनों को तोड़कर आर्या प्रियदर्शना ने आयुष्य पूर्ण होने पर शाश्वत सुखों की प्राप्ति की। वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन सिद्धशिला पर ज्योति रूप में विराजमान हुईं।

□ हमारा धर्माचरण उत्कृष्ट बने

आत्म-बंधुओं ! आपका यह श्रावक-श्राविका वर्ग और हमारा साधु-साध्वी वर्ग इन महानात्माओं की तरह ही निरंतर उत्कृष्ट धर्माचरण की ओर बढ़ते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का लक्ष्य बनाएगा तो निश्चय ही अनंत आनंद की प्राप्ति होगी।

आनंद ही आनंद !



मर्माहत हो बना विरक्त

(कार्तिक सेठ)

आत्म-बंधुओं !

तीर्थकर भगवंतों की वाणी अनंत सुख की खान और मन को अमिट शांति प्रदान करने वाली है। सुख और शांति कौन नहीं चाहता ? सभी सांसारिक प्राणी संसार के भौतिक सुखों की कामना करते हैं। यह जानते हुए भी कि इन भौतिक साधनों में सुखाभास है, सुख नहीं, और शांति तो इनमें मिल ही नहीं सकती, पर आश्चर्य कि यह सब जानते हुए भी प्राणी धन, वैभव, ऐश्वर्य की कामना-पूर्ति में दिन-रात पुरुषार्थ करता रहता है। चिन्तन करके देखें तो धन, वैभव आदि सुख के नहीं, दुःख के कारण हैं।

□ नहीं हैं तो दुःख, अधिक हैं तो भी दुःख

नींद, भूख, आहार, निहार—ये वे शारीरिक क्रियाएँ हैं, जो मानव-शरीर के लिए सुख एवं स्वास्थ्य का कारण हैं, पर साथ में यह भी सत्य है कि ये ही वे क्रियाएँ भी हैं जो प्राणी शरीर के लिए दुःख का कारण हैं। भूख यदि अधिक लगे तो दुःख, भूख नहीं लगे तो दुःख। प्यास नहीं लगे तो दुःख और अधिक प्यास लगे तो दुःख। नींद नहीं आती है तो दुःख और नींद ज्यादा आवे तो दुःख। ये सारी दुःख रूप शारीरिक क्रियाएँ रोग मानी जाती हैं। भूख अधिक लगेगी तो अधिक खाना पड़ेगा, बार-बार खाना पड़ेगा, परिणाम क्या होगा ? बदहजमी, अजीर्ण, पेचिस आदि रोग प्रारंभ हो जाएँगे। प्यास अधिक लगती है, बार-बार पानी पीना पड़ रहा है तो पेट फूल जाएगा, जी मिचलाएगा, पेट में विकृति आ जाएगी। नींद नहीं आती है तो सिरदर्द रहेगा, मानसिक तनाव रहेगा, 'कम्पोज' (नींद की दवा) लेकर सोना पड़ेगा।

□ सबसे बड़ा रोग-भूख, सबसे बड़ी औषध-अन्न

कहावत यह भी है कि भूख-जैसा रोग नहीं और अन्न-जैसी औषध नहीं। भूखा व्यक्ति भोजन के लिए कोई भी पाप कर सकता है—“बुभुक्षितं किं न करोति पापम्।” भूखा व्यक्ति कैसा भी अनादर सहन कर सकता है, हाथ फैलाकर भीख माँग सकता है, चोरी-डाका-हत्या तक कर सकता है। इस सबसे बड़े रोग की औषध अन्न है। पन्नवणासूत्र में जहाँ वनस्पतिकाय का वर्णन आता है, वहाँ चौबीस प्रकार के धान्य (अन्न) को औषध के प्रकरण में लिया गया है। क्यों है अन्न औषध ? जरा चिन्तन करिए। अन्न को औषध मानने का एक तात्पर्य यह है कि जैसे औषध चिकित्सक-डॉक्टर के परामर्श के अनुसार सेवन की जाती है और यह परामर्श परिमित और नियमित औषध-सेवन के हेतु दिया जाता है, इसी प्रकार अन्न का सेवन भी नियमित एवं परिमित ही किया जाना चाहिए।

□ आहार हो या औषध, नियमित और परिमित ही लें

नियमित और आवश्यकता से कुछ कम आहार शरीर को स्वस्थ रखता है। डॉक्टर ने कहा—“प्रातः, मध्याह्न, सांध्य एक-एक चम्मच औषध लें। आप सोचें कि दवा मीठी है, स्वादिष्ट है और इधर यह शरीर मोटा, हृष्ट-पुष्ट है। इतने मोटे शरीर में एक चम्मच से क्या होगा ? क्या आप तब पाँच-छह चम्मच औषध लेंगे ? नहीं। यदि ले ली अधिक औषध तो वह औषध न होकर जहर बन जाएगी, रोग से छुटकारा दिलाने की जगह रोग बढ़ा देगी, श्मशान पहुँचा देगी। भोजन भी परिमित हो तो दो लाभ देता है—शरीर स्वस्थ रहता है, क्योंकि भोजन आसानी से पच जाता है और ऊणोदरी तप का लाभ भी प्राप्त होता है।

□ घर में माया, खतरे का साया

धन को लौकिक भाषा में माया कहा है, परन्तु आगमिक भाषा में कपट को माया कहते हैं। जहाँ तक धन संग्रह से लेकर संरक्षण तक का मुख कार्य माया अर्थात् कपट का है। कपट के सहारे धन को कमाया जाता है और उसी की ओट में उसे बचाया और पचाया जाता है। इसलिये उसे माया कहा है। माया कष्टकारी है। भले ही उसे चाव से संग्रह करे वह पीड़ा है। पीड़ा तो पीड़ा ही है, चाहे वह किसी भी निमित्त से हो। कहा जाता है—“पहला सुख निरोगी काया और दूसरा सुख घर में हो माया।” पर माया

यदि अधिक हो जाय तो उसे घर में रखता कौन है ? घर में रखे तो रातों की नींद हराम हो जाती है। चोरी जाने का डर हर क्षण बना रहता है। आप धन कहाँ रखते हैं—घर की तिजोरी में। नहीं, वहाँ तो काला धन भले ही रखा हो, एक नम्बर का धन तो बैंकों के खाते में रहेगा। धन असुरक्षा का कारण है, तभी तो वह बैंकों में रखा जाता है। घर में रखी गई माया अनिद्रा, तनाव और कभी-कभी मृत्यु का कारण भी बन सकती है। यह आज की ही बात नहीं है। पुराने समय में भी धन असुरक्षा का कारण हुआ करता था। धाड़ायती आते, धाड़ा पड़ता और धन छीन लिया जाता। कभी-कभी धन तो जाता ही, उसका मालिक बुरी तरह पीटा भी जाता। आज तो समय और भी बुरा है। चोर-डाकू ताले तोड़कर धन ले जाते हैं और कोई जग जाए, देख ले तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है। क्यों ? क्योंकि जिन्दा रहा वह तो पहचान लेगा, बता देगा, चश्मदीद गवाह बन जाएगा।

एक करोड़पति व्यवसायी के यहाँ शनिवार को बैंक बंद होने के पश्चात् बहुत बड़ी रकम कहीं से आती है। होगी कोई चालीस-पचास लाख के आसपास। बड़ी समस्या खड़ी है उसके सामने। आज शनिवार-बैंक बंद हो चुका है, कल रविवार-बैंक बंद रहेगा। दो दिन तक उस बड़ी रकम की सुरक्षा का प्रश्न है ? वह व्यवसायी सारा धन तिजोरी में रख देता है। संध्या को घनिष्ठ मित्र का, जान से भी ज्यादा अजीज मित्र का फोन आता है—“पार्टी है, रात में आठ बजे अवश्य आना है।”

व्यवसायी का तो तन-मन-मस्तिष्क-हृदय-आत्मा सभी गिरवी रखे हैं तिजोरी के उस धन में। वह भला कैसे जाए पार्टी में ? प्राणों की तरह प्यारे मित्र को इनकार करता है, बहाना बनाता है कि स्वास्थ्य ठीक नहीं है या अमुक मेहमान आने वाले हैं या.... ! तात्पर्य यह कि झूठ बोलकर टालना पड़ता है। कारण है घर में रखी हुई माया। मित्र नाराज होगा तो किसी न किसी तरह मना लेंगे, पर धन की सुरक्षा पहला काम है। कभी ऐसा भी हो जाए कि विवशता में जाना ही पड़े तो सारा ध्यान घर की तरफ रहेगा। जहाँ भी जाएँगे, फटाफट कार्य सम्पन्न कर शीघ्र घर लौटना चाहेंगे। रात्रि को चूहों ने ऊधम मचाया, बिल्ली ने कोई खटका किया, कोई बर्तन भी खड़खड़ाया तो नींद उड़ जाएगी, बिस्तर छोड़कर घर का कोना-कोना देखेंगे कि कोई चोर तो नहीं घुस आया है।

□ माया नहीं तो डर भी नहीं

बंधुओं ! जहाँ भी धन एकत्रित है, माया बिखरी है, वहाँ तनिक भी सुख नहीं हो सकता। दिन-रात सुरक्षा की चिन्ता सताएगी। सोते समय दरवाजे, कूटे, ताले सँभालेंगे कि सभी ठीक से बन्द कर दिए हैं या नहीं। जोखिम नहीं है अगर तो भले ही घोड़े बेचकर सोया जाए, कोई भय नहीं। वास्तविकता तो यह है कि निर्भय, निःशंक नींद भी उन्हीं लोगों को आ सकती है, जिन्हें अपने पास की माया के चोरी चले जाने, लूटे जाने आदि का भय नहीं होता। गरीब के घर चोर जाए भी तो क्या ले जाए ? हाँ, कभी-कभी गाँठ का माल भी छोड़कर जाना पड़ जाता है, ऐसे स्थानों में चोर को।

□ चोर जिसे अपनी चद्दर छोड़कर भागना पड़ा (प्रसंग)

एक व्यक्ति अत्यन्त निर्धन था। धन की बात तो दूर, उसकी झोंपड़ी में खाने की सामग्री या पहने हुए कपड़ों के अतिरिक्त दूसरे कपड़े तक नहीं थे। वह प्रातःकाल उठता, धंधे के लिए निकलता। मजदूरी या कोई काम मिलता तो भोजन का जुगाड़ होता; अन्यथा कई बार भूखे ही सो जाना पड़ता। सोते समय उसे कभी झोंपड़ी का द्वार बन्द करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

एक बार उसे एक किसान के कुएँ पर खेती-बाड़ी में सहयोग करने का कार्य मिल गया। दोनों समय खाने का प्रबंध हो गया। कुएँ पर सांगरी (खेजड़ी) के पेड़ लगे थे। अतः वह कई बार वहाँ से सांगरी घर ले आता, उन्हें उबालता और सुखा देता। ऐसा करके उसने एक घड़ा भरकर सांगरियाँ जमा कर लीं।

संयोग से उस गरीब की झोंपड़ी में भी एक चोर चोरी करने के उद्देश्य से घुस आया। दूसरे किसी भी स्थान पर चोर को आज चोरी करने का अवसर नहीं मिला और मिला तो घर में जाग होने से उसे लौटना पड़ा। अतः सोचा—‘इस झोंपड़ी में कुछ न कुछ तो मिलेगा।’

दरवाजा पूरा का पूरा खुला था। वह भीतर गया तो अन्दर था अँधेरा। कुछ देर खड़े रहकर उसने घर में उपस्थित लोगों की थाह ली तो लगा कि एक ही प्राणी है और वह भी गहरी नींद में है। अब उसने झोंपड़ी में मालमत्ता ढूँढ़ना प्रारंभ किया। गरीब जग गया। चोर को कुछ ढूँढ़ते देख उसे हँसी आई, पर वह आँखें खुली रखकर देखता रहा।

कुछ देर के परिश्रम से ही चोर के हाथ उस सांगरी वाले मटके से छू गए। चारों तरफ हाथ फेरकर देखा—‘अरे, यह तो घड़ा है। हो न हो इसमें कुछ माल है।’—चोर ने सोचा। घड़े को खाली करने के विचार से चोर ने अपनी पीठ पर डाले हुए चद्दर को वहीं आँगन में बिछाया, घड़ा हाथ में लिया और खाली करने लगा।

सांगरी जरा मुश्किल से खाली होती है। मुँह पर बार-बार अटक जाती है अतः हाथ से निकालनी पड़ती है। उधर चोर यह सब कर रहा था कि कुछ नहीं तो सांगरी ही सही। इधर गरीब व्यक्ति नीचे जमीन पर सो रहा था सो करवट बदलते हुए उस चद्दर पर आ गया। एक तरफ सांगरी और दूसरी तरफ निद्रा का बहाना लिए वह गरीब व्यक्ति। चोर ने घड़ा खाली कर चद्दर के किनारे एकत्रित कर पल्ले बाँधने चाहे कि उसका हाथ गरीब व्यक्ति से लग गया। गरीब हँसा। चोर ने उसे जागा हुआ समझकर अपनी चद्दर वहीं छोड़ दी और वह भागा उस झोंपड़ी से कि कहीं पकड़ लिया जाऊँगा। जैसे ही वह मुड़कर भागने लगा कि झोंपड़ी में लगी लकड़ी की थोबली (स्तम्भ) से टकराया। सिर पर हाथ रख दूसरी ओर मुड़कर भागा तो दूसरी बार एक अन्य काष्ठ-स्तम्भ से टकरा गया। फिर तो वह दरवाजे की ओर मुड़ तेजी से बाहर निकलने लगा। गरीब व्यक्ति हँसकर बोला—“अरे भाई ! अपनी यह चद्दर तो लेते जाओ।”

□ ममत्व अनर्थ की जड़, समत्व और संयम में सच्चा सुख

बंधुओं ! यह धन, यह माया, यह भोग-सामग्री कभी सुख का कारण नहीं हो सकती। इसमें सुख मानकर जीवन व्यतीत करने वाले जीवनभर दुःखी रहते हैं, दुःख को सुख मानकर जीते हैं और मरणोपरान्त आने वाले भवों में अनेक तरह से दुस्सह दुःख भोगते हुए नवीन कर्मबंध करते हैं। धन अनर्थ की जड़ है और उसमें ममत्व रखना अपने आप को पाप-पंक में डुबोना है। जिन्होंने घर-बार, संसार, मोह-माया-ममता का त्याग कर मुक्ति का लक्ष्य बना संयम के पथ पर अपने को डाल दिया, सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सम्यक् साधना में लग गए, वस्तुतः सच्चे, सुखी, निर्भय, शांत, संतोषी वे ही होते हैं।

धन-वैभव में ममत्व का त्याग करने वाले जिन पुरुषों ने समत्व के पथ पर चरण बढ़ाए, एक भवावतारी पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. ने उनको भावपूर्वक

वन्दन करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'बड़ी साधु वन्दना' में उनका गुणगान किया है। ऐसा ही एक नाम है—कार्तिक सेठ।

□ कार्तिक सेठ : अपमान से विरक्ति की ओर

भगवतीसूत्र के अठारहवें शतक में कार्तिक सेठ का प्रसंग आता है। पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. ने सुदर्शना सती के पश्चात् 'बड़ी साधु वन्दना' में इन्हीं कार्तिक सेठ का स्मरण करते हुए कहा है—

वलि कार्तिक सेठे, पडिमा वहि शूरवीर।

जीम्यो मोरां ऊपर, तापस बलती खीर॥३३॥

पछे चारित्र लीधूं, मित्र एक सहस्र आठ धीर।

मरी हुओ शक्रेन्द्र, चवि लेसे भव तीर॥३४॥

बंधुओं ! एक तापस द्वारा अपमानित होकर और मर्माहत बनकर कार्तिक सेठ संसार से उदासीन, विरक्त, विमुख बन गया। आप सभी न मालूम किन-किन के द्वारा जीवन में कितनी बार अपमानित हुए, शायद मर्माहत भी हुए और चिन्तन में आत्महत्या तक का विचार भी शायद कभी आ गया हो; अन्यथा यह तो सोचा ही होगा कि मेरा जीना व्यर्थ है, यह जीवन बेकार है। लेकिन बंधुओं ! संसार त्यागकर वैराग्य धारण करने की बात, संयम-पथ पर चलने की बात, श्रमणधर्म अंगीकार करने की बात कभी मन-मस्तिष्क में नहीं आई। आ जाती और उसका क्रियान्वयन हो जाता तो मोक्ष का पथ आपके लिए भी उसी तरह प्रशस्त बन जाता, जैसे कार्तिक सेठ के लिए बना।

□ गौतम की पृच्छा

कौन था कार्तिक सेठ ? कैसी दिव्य करणी की उसने ? इन प्रश्नों का समाधान एक बार भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को दिया था। तब भगवान महावीर प्रभु विशाखा नगरी के बहुपुष्पिक नामक चैत्य (उद्यान) में विराजमान थे। एक बार वहाँ देवेन्द्र देवराज शक्र प्रभु के दर्शनार्थ आया। उसकी ऋद्धि-सिद्धि, उसका ऐश्वर्य, उसका वैभव देखकर गौतम स्वामी ने प्रभु से प्रश्न किया—“ भन्ते ! इस देवेन्द्र को ऐसी विशाल ऋद्धि किस कारण से प्राप्त हुई ?” प्रभु ने गौतम गणधर की जिज्ञासा का समाधान

करते हुए बताया—“इस देवेन्द्र का जीव पिछले भव में कार्तिक सेठ का जीव था।” यह कहकर प्रभु ने कार्तिक सेठ का प्रसंग गौतम गणधर एवं उपस्थित परिषदा को सुनाया। आज वही प्रसंग आप सुनेंगे।

□ दृढ़ श्रमणोपासक

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नाम का नगर था, जहाँ कार्तिक नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। वह धनाढ्य, कुशल वणिक् तथा व्यापारियों में अग्रगण्य था। यह कार्तिक सेठ एक हजार आठ वणिकों का नायक था।

एक बार हस्तिनापुर नगर में एक दम्भी तापस आया। उसके एक मास की तपस्या चल रही थी। सभी नगर-निवासी उस तपस्वी तापस के दर्शनार्थ गए और उसकी भक्ति करने लगे। श्रमणोपासक कार्तिक सेठ ने भी तापस के बारे में सुना, नगरवासियों के दर्शनार्थ जाने व भक्त बनने की जानकारी भी उसे मिली, पर वह श्रमणोपासक उस तापस के दर्शनार्थ नहीं गया। कार्तिक सेठ परपाषंडी की प्रशंसा, परपाषंडी की स्तुति से स्वयं को दूर रखना चाहता था। उससे न तो द्वेष था, न ही उसके प्रति बहुमान का भाव था।

□ दर्शनार्थ नहीं आने पर तापस क्रुद्ध

हर जगह सभी लोग एक तरह के नहीं होते। सबका अलग-अलग स्वभाव, अलग-अलग मिजाज होता है। कुछ लोगों को कार्तिक सेठ का तापस के दर्शनार्थ नहीं जाना पसन्द नहीं आया। उन लोगों ने तापस को यह बात कही। कहने वाले बुरे होते हैं, नमक-मिर्च लगाकर भी कहते हैं और तिल का ताड़ व राई का पर्वत बना देते हैं। तापस ने सुना तो बहुत नाराज हुआ। जब उसे बताया गया कि कार्तिक सेठ उसकी भक्ति करना तो दूर, उसे कुछ मानता ही नहीं, तब तो तापस मन ही मन जल-भुन गया।

□ राजा के समक्ष तापस की शर्त

एक बार नगर के राजा जितशत्रु ने तापस को महलों में पारणा करने का निमंत्रण दिया। तापस ने विचार किया—‘अवसर अच्छा है, हाथ से जाने नहीं देना चाहिए, कार्तिक

सेठ से बदला ले लेना चाहिए।' तापस ने महाराज जितशत्रु को कहलवाया—“यदि कार्तिक सेठ अपनी पीठ पर भोजन की थाली रखकर मुझे भोजन करने दे तो ही मैं राजमहलों में पारणा कर सकता हूँ।”

□ कार्तिक सेठ की पीठ और गरमागरम खीर का थाल

राजा ने तापस की यह शर्त मान ली। तापस राजमहलों में गया तो कार्तिक सेठ को बुलावा भेजा गया। उसके आने पर राजा ने उसे तापस की आज्ञा मानने का आदेश दिया। राजाज्ञा के सामने विवश कार्तिक सेठ को नीचे झुकना पड़ा। सेठ को झुके हुए देख तापस बहुत प्रसन्न हुआ। उसने गरमागरम खीर की थाली उसकी पीठ पर रखी। इधर-उधर की व्यर्थ की बातों में समय बिताया जिससे खीर ठंडी हो गयी। उसने पुनः नयी गरम-गरम खीर मँगवायी, पुनः पीठ पर थाली रखवाई। इस तरह तीन बार किया और धीरे-धीरे खाने लगा। खीर और थाली की गरमी से पीठ पर असहनीय पीड़ा हुई, जिससे पीठ की चमड़ी जलकर थाली के आकार का फफोला हो गया, पर राजा के भय से चाहते हुए भी कार्तिक सेठ कुछ न कह सका। 'मेरे अशुभ कर्म-विपाक से ऐसा हुआ'—सेठ ने सोचा। तन की पीड़ा तीव्र थी, पर उससे भी अधिक पीड़ित था कार्तिक सेठ का मन। वह इस अपमान से इतना मर्माहत हुआ कि 'मैंने इससे पूर्व ही घर-द्वार को छोड़कर संयम ग्रहण क्यों नहीं कर लिया', यह बात उसके हृदय में उथल-पुथल मचाने लगी।

□ मर्माहत कार्तिक विरक्त बना

इस घटना के कुछ काल पश्चात् अपने शासन की अपेक्षा धर्म की आदि करने वाले अर्हत् श्री मुनिसुव्रत स्वामी हस्तिनापुर में पधारे। कार्तिक सेठ उनके दर्शन करने गया, उन्हें वन्दन करने, उनकी देशना सुनने गया। भगवन् के श्रीमुख से धर्मकथा रूप देशना सुनकर कार्तिक सेठ ने अत्यन्त विनयपूर्वक प्रभु चरणों में निवेदन किया—“प्रभो ! आपने जो कुछ फरमाया, वही सत्य है। मैं आपके चरणों में रहकर जिनधर्म की शरण ग्रहण कर श्रमणधर्म अंगीकार करना चाहता हूँ। हे भगवन् ! मैं अपने एक हजार आठ वणिक् साथियों को यह बात बताकर तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र को कारोबार सँभलाकर, आपके श्रीचरणों में दीक्षित होना चाहता हूँ।”

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी ने कहा—“अहो देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो, परन्तु धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।”

□ एक हजार आठ साथियों के साथ दीक्षित

बंधुओं ! कार्तिक सेठ ने उन एक हजार आठ वणिक मित्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। अब श्रमण कार्तिक उन एक हजार आठ श्रमणों के साथ चतुर्याम धर्म का पालन करते हुए ईर्या, भाषा आदि पाँच समितियों से युक्त बन मन, वचन, काय-इन त्रिगुप्तियों से गुप्त बन संयम-पथ पर विचरण करने लगे।

□ शक्रेन्द्र की ऋद्धि मिली : मोक्ष आगामी भव में

उस कार्तिक अनगार ने अनेक स्थविर श्रमणों की सेवा में रहकर सामायिक आदि का, ग्यारह अंगों का, चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। अनेक उपवास, बेलें, तेलें आदि की तपस्याएँ कीं। बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन किया। अंतिम समय में एक मास की संलेखना-संधारा से आत्मा को भावित किया। आलोचना-प्रतिक्रमण द्वारा आत्म-शुद्धि की और काल के समय कालधर्म को प्राप्त कर वह सौधर्मकल्प देवलोक में शक्र देवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान महावीर ने कार्तिक सेठ की यह कथा गौतम गणधर को सुनाकर कहा—“यह शक्रेन्द्र उसी कार्तिक सेठ का जीव है। अपने निरतिचार संयम-पालन एवं तपश्चरण के फलस्वरूप ही इसने यह भव्य ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त की है।”

तापस काल करके इसी शक्रेन्द्र का ऐरावत हाथी बना। उस देव-हस्ती ने अवधि ज्ञान से अपना पूर्वभव देखा और कार्तिक सेठ को शक्रेन्द्र बना जानकर इधर-उधर भागने लगा। शक्रेन्द्र ने उसे पकड़ा तो उसने अपने दो रूप बना लिये। शक्रेन्द्र ने भी अपने दो रूप बनाकर उन दोनों पर सवारी की। ऐरावत घबराया, उसने चार रूप बना लिये। शक्रेन्द्र भी तुरन्त चार रूप बना चारों हस्तियों पर सवार हो गया। कुछ देर तक यह खेल चला। इन्द्र ने सोचा कि आज यह उत्पात क्यों कर रहा है। उपयोग लगाकर देखा कि यह तापस का जीव यहाँ आकर भी अहं के आवेग में है, तब गंभीर गर्जना करते हुए कहा—“हे ऐरावत ! सीधी तरह व्यवहार कर; अन्यथा यह वज्र तुम्हें छिन्न-विच्छिन्न कर देगा।” आखिर तापस का जीव अर्थात् ऐरावत हस्ती परास्त हो

गया। वह शक्रेन्द्र के सम्मुख नत-मस्तक हो इस तरह खड़ा हो गया जैसे अपने इस भव के अपराध की ही नहीं, पूर्वभव के अपराध की भी क्षमा याचना कर रहा हो।

हे गौतम ! इस देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर कार्तिक सेठ का जीव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहाँ उच्च कोटि की संयम-साधना कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनेगा।

बंधुओं ! भगवतीसूत्र में कार्तिक सेठ के प्रसंग में तापस वाला प्रसंग नहीं मिलता, यह प्रसंग मिलता है कल्पसूत्र में। प्रसंग कहीं भी मिलें, हमें तो उनसे प्रेरणा ग्रहण करनी है। महापुरुषों के प्रेरक प्रसंगों से उनके आदर्शों को ग्रहण कर यदि आपका जीवन धर्मोन्मुख होता है, आत्म-शुद्धि करता है तो मुक्ति के द्वार आपके लिए खुले हुए हैं। मुक्ति में विराजित उन अनंत-अनंत आत्माओं को तथा निकट भवी आत्माओं को भी इस भावना के साथ हृदय से वन्दन कि हम सभी उनकी ही भाँति बनने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें और एक दिन जन्म-मरण के समस्त दुःखों से छुटकारा प्राप्त करें।

आनंद ही आनंद !



क्षमा से आत्म-शुद्धि

(राजा उदायन)

मुगति ना मिले रे सम्यग्ज्ञान-क्रिया बिन॥
“काशी जाओ, मथुरा जाओ, चाहे जाओ गंगा।
खाक लगाओ, भगवा पहनो, चाहे पहनो अंगा॥”

आत्म-बंधुओं !

मोक्ष इस जीव का चरम और परम लक्ष्य है। इस मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो ? क्या करें हम कि जन्म-मरण से छुटकारा मिल जाये ? कैसी करणी करें कि आठों कर्मों की रज धुलकर आत्म-शुद्धि हो जाये ? तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।”—मोक्ष पाना है तो सम्यग्ज्ञान चाहिए, उस ज्ञान पर अटूट श्रद्धा चाहिए और व्यवहार में वह ज्ञान उतरना चाहिए। “ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः।”—ज्ञान भी होगा और तदनु रूप क्रिया भी होगी, तभी सिद्धि प्राप्त होगी। ज्ञान है नयन और क्रिया है—पाद, चरण, पैर।

□ ज्ञान नहीं तो जीव घाणी का बैल

बंधुओं ! आँखें बन्द हैं और चरण गतिमान हैं तो क्या होगा ? पथ से विपथ हो सकते हैं, उजाड़ में भटक सकते हैं, ठोकें खा सकते हैं, खड्डे में गिर सकते हैं—तात्पर्य यह कि कुछ भी हो सकता है। सही समय में निश्चित मंजिल सरलता से प्राप्त करनी है तो आँखों का खुलापन एवं पैरों की दृढ़ता आवश्यक है। आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाना है तो ज्ञान की आँखें खोलनी पड़ेंगी। नहीं खुलीं यदि ज्ञान की आँखें तो अनन्तकाल तक यही संसार है, यही चार गतियाँ और चौरासी लाख जीव योनियाँ हैं। जैसे तेली की घाणी का बैल आँख पर पट्टी बाँधकर जीवनभर रास्ता नापता रहे और आँखें खोले तो वहीं का वहीं पायेगा अपने आप को। यही हाल अज्ञानी जीवों का है।

□ ज्ञान है तो क्रिया का फल

प्रभु महावीर कहते हैं—ज्ञान के साथ क्रिया करो। आप नित्य नवकार मंत्र की माला फेरते हैं, जबान पर णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं... का चक्र लगातार चलता रहता है, पर क्या हैं अरिहंत, सिद्ध ? क्यों हैं इन्हें हमारा नमन ? न जानते हैं, न जानना चाहते हैं तो उस माला का लाभ अल्पातिअल्प समझना चाहिए। जानते हैं अर्थ, माला फेरते समय अर्थ पर ध्यान भी जाता है तो लाभ अधिकाधिक मिलेगा। सामायिक और प्रतिक्रमण की भी यही बात है। गुरुवर ! पाँच सामायिक पचक्खा दो। गुरु भगवन्त पाँच सामायिक का नियम “करेमि भंते” के पाठ द्वारा करा देते हैं। अब सामायिक करने वाला सामायिक का अर्थ नहीं जानता, सामायिक में क्या करना चाहिए—वह ये भी नहीं जानता। सामायिक के बत्तीस दोषों में से अनेक दोषों का सेवन किया जा रहा है, विकथा की जा रही है, अब सोच लीजिए कैसी है यह सामायिक ?

□ ज्ञान आता है पुरुषार्थ से

ज्ञान बिना क्रिया अंधी है और क्रिया बिना ज्ञान पंगु। ज्ञान-प्राप्ति की अभिलाषा प्रत्येक को होती है, पर ज्ञान प्राप्त करना सहज नहीं है। अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो ज्ञान-प्राप्ति में बाधक बनते हैं। ऐसे बाधक तत्त्वों को मिटाना है तो पुरुषार्थ करना पड़ेगा उन्हें हटाने में। पुरुषार्थ नहीं तो ज्ञान भी नहीं। बुद्धि यदि मंद है, पर पुरुषार्थ यदि साथ है तो “रसरी आवत-जात से सिल पर परत निशान।” मंद बुद्धि वाला या तीव्र बुद्धि वाला पुरुषार्थ ही न करे तो ज्ञान कैसे आयेगा ? ज्ञान सीखने का अवसर आये और कह दे कि अभी तो समय नहीं है फिर सीख लेंगे, वह ‘फिर’ कभी आयेगा या नहीं आयेगा। धर्म सीखने में तो अधिकतर यही होता है। समय की कमी, व्यस्तता की बात करते-करते व्यक्ति बुढ़ापे तक पहुँच जाता है। अब बुढ़ापा आ गया तो सहज बहाना है—“बाब जी ! अबे तो बुढ़ापो आय गयो, साठे बुद्धि नाटे, अबे याददाश्त कठे, याद करनी चावां तो भी याद नहीं व्हे।”

□ ज्ञान-प्राप्ति में वृद्धावस्था बाधक नहीं

बंधुओं ! शरीर वृद्ध होता है, इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं, पर न मन वृद्ध होता है, न बुद्धि। दूसरी सांसारिक बातों में बिठा दिया जाये तो बुढ़ापा दूर ही रहेगा, वहाँ बढ़-बढ़कर

बातें करेंगे, सौ वर्ष पुरानी बातें याद आयेंगी, पर धर्म का कार्य हो तो मन में ही खोट है, मन ही हारा हुआ है। अतः बुद्धि न होने का बहाना बनाया जाता है। संकल्प यदि दृढ़ हो तो वृद्धावस्था में भी बुद्धि, मन तरुण ही बने रहते हैं। बुद्धि-ग्राह्य जो भी है, उसे यदि सीखें, चिन्तन-मनन करें तो इस उम्र में भी ज्ञान-प्राप्ति हो सकती है। प्रतिदिन का एक शब्द ही याद करें तो भी वर्षभर में पूरा प्रतिक्रमणसूत्र कंठस्थ किया जा सकता है। अवशिष्ट वर्षों में यही क्रम रहे तो न जाने कितने आगमसूत्र कंठस्थ हो जायें। होना चाहिए संकल्प दृढ़ और पुरुषार्थ।

□ अब तक पेटी और पेट के लिए पुरुषार्थ किया, अब.....

पुरुषार्थ यदि नहीं है तो जीवन व्यर्थ है। कैसा पुरुषार्थ ? पुरुषार्थ तो पशु भी करते हैं, पर उनका पुरुषार्थ होता है पेट के लिए, आपका पुरुषार्थ होना चाहिए ठेट के लिए। आपने भी जीवनभर यदि पेट और पेटी का पुरुषार्थ ही किया तो आप में और पशुओं में अन्तर ही क्या रह जायेगा ? भौतिक स्व-पर पोषण के लिए किया गया पुरुषार्थ तो स्वार्थ है, पुरुषार्थ नहीं। यथार्थ पुरुषार्थ वह है जो आत्म-कल्याणार्थ किया जाये। आत्मोत्थान की ओर ध्यान नहीं दिया तो बचपन से अब तक जिस ज्ञान को प्राप्त किया है, वह भी व्यर्थ में चला जायेगा।

□ राजा उदायन

आपके सम्मुख इस चातुर्मासावधि में चल रहा है उन महापुरुषों का प्रसंग जिन्होंने सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर उसे जीवन-व्यवहार में उतारा और संयम में पुरुषार्थ कर कर्मों की कारा को काट मुक्ति प्राप्त की, मोक्षगति प्राप्त की, सिद्धि प्राप्त की।

वल्लि राय उदायन, दियो भाणेज ने राज।

पछी चारित्र लेई ने, सास्या आतम-काज॥३५॥

(आधार—भगवतीसूत्र, श. १३, उ. ६)

महावीर के चरण-सेवक, परम भक्त, जिनोपासक दस मुकुट-बंध राजाओं में उदायन राजा भी एक था। उदायन सिन्धु-सौवीर देश का नृप था। वीतिभय नगर को सिन्धु-सौवीर राष्ट्र की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। राजा उदायन अत्यन्त शक्तिशाली, शूरवीर, धर्मनिष्ठ व जिनोपासक था।

महाराज उदायन की पटरानी थी प्रभावती देवी जो वैशाली के महाराज चेटक की अत्यन्त सुरूपवान, सुशील, सुकुमार पुत्री थी। इनके अभीचिकुमार नाम का एक सुन्दर, स्वस्थ, बुद्धिमान पुत्र था।

महाराज उदायन का भाणेज (बहन का लड़का) केशीकुमार भी वीतिभय नगर में महाराज के पास ही रहता था। अभीचि और केशी लगभग सम-उम्र थे।

उदायन की अनेक दासियों में एक दासी थी 'कुब्जा'। इस दासी के कूबड़ थी, शरीर काला-कलूटा था, अपरूप थी, पर तन काला-कुरूप होते हुए भी मन सहज नारी-स्वभाव से ओत-प्रोत था। उसके पास सुन्दरता नहीं थी पर स्नेह एवं सेवा भाव में वह बढ़-चढ़कर थी।

उदायन के राज्य में सोलह जनपद थे, वीतिभय प्रमुख तीन सौ त्रेसठ ग्राम-नगर थे। महासेन प्रमुख दस राजा तो ऐसे थे जिनको चामर, छत्र आदि दिये गये थे। इनके अलावा भी बहुत-से राजा, सेठ, साहूकार, वैभव-सम्पन्न ऐश्वर्यशाली व्यक्ति आदि उसके राज्याधीन थे। उदायन राजा जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता एवं श्रद्धावान श्रमणोपासक था। तात्पर्य यह कि वह भौतिक सम्पदा में जितना ऋद्धि, सिद्धि, वैभव-सम्पन्न था, उतना ही आध्यात्मिक सम्पदा में भी धनी था।

□ दासी कुब्जा और स्वर्ण-गुलिका

एक बार गान्धार देश का एक व्यापारी व्यापार-निमित्त वीतिभय आया जो बारह व्रतों का निरतिचारपूर्वक पालन करता था। राजा उदायन को अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भेंटकर उसने नगर में व्यापार की अनुमति प्राप्त की। व्यापार करते हुए एक दिन वह अतिसार-रोग से पीड़ित हुआ। अनेक उपचार किए, पर रोग कई दिन तक ठीक नहीं हुआ। रुग्णावस्था में अन्य लोग उसकी सेवा से घबराते थे। महारानी प्रभावती स्वधर्मी बंधुओं का पूरा-पूरा ध्यान रखती थीं। जब महारानी को जानकारी हुई कि आगन्तुक श्रावक गंभीर रूप से रुग्ण हैं तो उन्होंने अपनी विश्वासपात्र उस कुब्जा दासी को परिचर्या हेतु भेजा। दासी कुब्जा निष्ठापूर्वक उसकी सेवा करती। उसकी इस सेवा से वह व्यापारी इतना प्रसन्न हुआ कि उसने साधना से प्राप्त दुर्लभ वस्तु 'स्वर्ण-गुलिका' नाम की एक ऐसी गुटिका उसे दी जिसके निगलने पर कैसा ही कुरूप-बदन व्यक्ति हो, पूर्ण सुन्दर, सुरूपवान बन जाये।

दासी कुब्जा उस गुलिका को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। वह तो वैसे ही अपने शरीर की कुरूपता व कुबड़ेपन से दुःखी थी। स्नानादि कर, विधि-विधानपूर्वक पूजा-अर्चना के बाद उसने एक दिन वह स्वर्ण-गुलिका मुँह में रखी और निगली। गुलिका के गले से नीचे उतरते ही चमत्कार हुआ। उसका कुबड़ापन दूर हो गया, उसका शरीर सुडौल, सुष्ठु एवं सुन्दर बन गया। अब वह राजकुमारियों जैसी सुन्दर दिखाई देने लगी। उसकी रूपराशि, उसका यौवन, उसके अंग-प्रत्यंग ऐसे निखरे कि पहले वीतिभय नगर में, फिर आसपास के नगर-ग्रामों में और फिर अन्य राज्यों में उसकी सुन्दरता के चर्चे होने लगे। स्वर्ण-गुलिका की प्राप्ति से रूप-परिवर्तन की बात ऐसी प्रचारित हुई कि अब दासी कुब्जा को लोग स्वर्ण-गुलिका कहने लगे।

□ स्वर्ण-गुलिकारूपी कुब्जा का अपहरण

उज्जयिनी में भी कुब्जा दासी की सुन्दरता के चर्चे होने लगे। मालवपति चन्द्रप्रद्योत की राजधानी थी उज्जयिनी। प्रचण्ड लड़ाकू और विकट योद्धा था चन्द्र। वास्तविक नाम था उसका चन्द्रप्रद्योत पर स्वभाव की उग्रता, विकटता व प्रचण्डता के कारण सभी उसे चन्द्रप्रद्योत की जगह चण्डप्रद्योतन कहने लगे थे। नारी उसकी दुर्बलता थी। वह अति कामलोलुप था। उदायन की दासी की सुन्दरता सुनी तो उसका काम उद्दीप्त हो उठा। उसने गुपचुप दासी को सन्देश भिजवाया। सन्देश का सकारात्मक प्रत्युत्तर पाकर चण्डप्रद्योतन राजा दासी कुब्जा को उड़ा लाने की योजना बनाने लगा। एक अंधेरी रात में वह अपने अनलगिरि नामक गंधहस्ती पर बैठकर गुपचुप वीतिभय नगर में आया। दासी कुब्जा पहले से देव-मन्दिर में तैयार बैठी थी। चण्डप्रद्योतन उस दासी को, जिसके अप्रतिम रूप के कारण अब सभी जिसे स्वर्ण-गुलिका नाम से पुकारते थे, अपहरण कर उज्जयिनी ले आया।

□ अपहर्ता कौन ?

दासी अपहरण की घटना का जब राजा उदायन को पता चला तो चकित रह गये। घटना की टोह ली गई तो संदेह हो गया।

बंधुओं ! हस्तिशाला के महावतों ने जब प्रातःकाल हस्तिशाला के सभी हाथियों का मद उतरा पाया तो खबर महाराज तक पहुँचाई गई। महाराज उदायन को यह समझने

में देर नहीं लगी कि हो न हो रात्रि में कोई गंधहस्ती वीतिभय में आया है और दूर-दूर तक भी मालवपति चण्डप्रद्योतन को छोड़ गंधहस्ती किसी के पास भी नहीं था।

□ बात दासी-अपहरण की नहीं, बात तो राज्य-प्रतिष्ठा की थी

उदायन ने पहले दूत भेजकर चण्डप्रद्योतन को समझाने व दासी को वापस भेजने का सन्देश कहलवाया। बात दासी को ले जाने की नहीं, अपितु पड़ोसी राज्य में आकर इस तरह चोरों की भाँति उसे ले जाने की थी। सिन्धु-सौवीर राज्य के लिए यह प्रतिष्ठा का प्रश्न था। उदायन का मानना था कि चण्डप्रद्योतन ने यह चोरी करके मुझे चुनौती दी है। अतः उसे क्षमा कर देना, उसके अपराध को नजरअन्दाज कर देना उचित नहीं है। चण्डप्रद्योतन ने धृष्टतापूर्वक उदायन की बात को सुना-अनसुना कर दिया।

□ युद्ध : चण्डप्रद्योतन बन्दी

धर्म में रुचि रखने वाले राजा उदायन बारह व्रतधारी श्रावक थे। युद्ध का रक्तपात वे अधर्म का कारण मानते थे। जब कभी विवशता होती तभी क्षात्रधर्म एवं राजधर्म के निर्वहन हेतु युद्ध को उचित मानते थे।

उदायन ने चण्डप्रद्योतन को शिक्षा देने का विचारकर उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। उदायन के साथ थे उसके अधीनस्थ दस मुकुटबन्ध राजा। दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध हुआ। चण्डप्रद्योतन हार गया। उसे बन्दी बना लिया गया। उदायन ने बेड़ियों से जकड़े चण्डप्रद्योतन के भाल पर 'ममदासीपति' शब्द अंकित करा दिया।

बन्धुओं ! कैसा दण्ड था यह ? अभिमानी का ऐसा अपमान, किसी के सामने सिर उठाने लायक नहीं रखा उसे। इतना होने पर भी उदायन के मन में भावना यही थी-काश ! यह चण्डप्रद्योतन सुधर जाये, इसका हृदय बदल जाए, यह अपने कुकृत्यों का प्रायश्चित्त कर ले, पर जो नाम से ही नहीं काम से भी चण्ड हो, वह भला कुकृत्य पर क्या प्रायश्चित्त करता ?

□ वीतिभय की ओर प्रस्थान : वर्षा-ऋतु-पड़ाव

बन्दी चण्डप्रद्योतन को लेकर राजा उदायन ने अपने सभी साथी राजाओं, अपनी व उनकी सेनाओं के साथ अपने राज्य की राजधानी वीतिभय की ओर प्रस्थान किया।

लम्बा रास्ता, विशाल सेना, वर्षा-ऋतु के आने का समय। सेना का यह काफिला चलता रहा, वर्षा-ऋतु आ गई। चातुर्मास प्रारम्भ हो गया। गगन मेघाच्छादित रहने लगा। घन गर्जन व तड़ित तर्जन से दिशाएँ भर गईं। वर्षा की झड़ी लगने लगी। महाराज उदायन व्रतधारी श्रावक थे, चातुर्मास में आवागमन को भयंकर जीव हिंसा का कारण मानते थे। अतः उन्होंने सेनापति को आदेश दिया कि आसपास कोई सुविधाजनक उच्च स्थल देखकर सेना का पड़ाव डाल दो।

□ संवत्सरी-महापर्व

एक हल्की सी ऊँचाई से युतु सुरम्य सघन वन के मध्य, वर्षा में भी शीघ्र सूख जाने वाला विशाल मैदान आया देख पड़ाव डाल दिया गया। तम्बुओं के संसार में राजा उदायन व दस मुकुटधारी राजाओं की सेना वहाँ बस गई। दस राजा वहाँ बसे। अतः लोग उस स्थल को दशपुर कहने लगे। बाद में जब उस स्थान पर नगर बसा तो उसका नाम दशपुर ही रखा गया। आज वही स्थल, वही नगर मन्दसौर कहलाता है। समय व्यतीत होने लगा। पर्युषण का आगमन हुआ। जिनोपासक उदायन राजा ने पर्युषण की धर्मध्यानपूर्वक आराधना की। संवत्सरी को उपवासयुक्त प्रतिपूर्ण पौषध व्रत किया और रसोइए से कहा—“मेरा आज ‘संवत्सरी’ का उपवास युक्त प्रतिपूर्ण पौषध व्रत रहेगा। जो भी सैनिक, सामन्त, राजा आदि स्वेच्छा से उपवास करना चाहें, वे करें। शेष के लिए भोजन बना देना। बन्दी राजा चण्डप्रद्योतन से भी पूछ लेना। यदि वे खाना चाहें तो उनके लिए भी जैसा वे चाहें बना देना।”

महाराज के आदेश पर रसोइया चण्डप्रद्योतन के निकट आया और नम्रता से पूछा—“आज आप भोजन में क्या लेना पसन्द करेंगे ?”

आज से पहले कभी इस तरह नहीं पूछा गया था। अतः चण्डप्रद्योतन का मन शंकित हो उठा। उसने रसोइए से कहा—“आज ही मुझे यह क्यों पूछा जा रहा है ?”

रसोइया बोला—“इससे पूर्व तो जो कुछ हमारे महाराजाधिराज के लिए बनता था, वही आपके लिए भी बन जाया करता था, पर आज हमारे स्वामी संवत्सरी का पौषध करेंगे, भोजन नहीं करेंगे। अतः आपसे आपकी पसंद पूछी गई है।”

□ उपवास का तो बहाना है

चण्डप्रद्योतन ने सोचा—‘उपवास का तो बहाना है। खुद खाना खायेंगे नहीं। मेरे खाने में विष मिला देंगे। कैसी चाल है यह ?’ उसने रसोइए से कहा—“मैं भी आज उपवास करूँगा।”

इतना भयंकर विवाद होने के बावजूद भी उदायन और चण्डप्रद्योतन साथ बैठकर एक थाली में भोजन करते थे। रिश्ते में दोनों साढ़ू थे।

उदायन ने सुना तो कुछ प्रसन्नता महसूस हुई। सोचा—‘अभी चण्डप्रद्योतन के अन्तर में कहीं न कहीं धर्म का अंश जागृत है।’

□ चण्डप्रद्योतन बन्दी है पर सहधर्मी है : क्षमा-याचना

राजा उदायन ने सायंकालीन प्रतिक्रमण किया। चौरासी लाख जीव-योनि से क्षमा-याचना की। आत्म-निरीक्षण किया तभी ध्यान आया चण्डप्रद्योतन का। दोषी तो है पर सहधर्मी है। आज उसने भी उपवास किया। मुझे मैत्री-पर्व के दिन, अखिल विश्व के प्राणिमात्र से क्षमा-याचना करने के इस पावन पर्व पर इस निकटतम शत्रु से क्या क्षमा-याचना नहीं करनी चाहिए ? विचारों के मंथन ने निष्कर्ष यह दिया कि अवश्य क्षमा-याचना करनी चाहिए। बिना इस क्षमा-याचना के मेरा प्रतिक्रमण, मेरा धर्म, मेरा पौषध अधूरा है। कल प्रातःकाल पौषध पालकर पहले चण्ड से क्षमा-याचना करूँगा, फिर पारणा करूँगा। रात्रि धर्म-जागरण में बिताकर दूसरे दिन प्रातः क्षमा-याचना का मानस बनाया।

□ क्षमा चाहते हो तो बंधन-मुक्त करो

महाराज उदायन बन्दी चण्डप्रद्योतन के पास पहुँचकर क्षमा-याचना करते हैं। चण्डप्रद्योतन कुछ क्षणों के लिए तो स्तब्ध रह जाता है, मुझे बन्दी से कैसी क्षमा-याचना। तभी संवत्सरी-पर्व का ध्यान आता है। अवसर का लाभ उठाने का निश्चय कर वह कहता है—“क्यों नाटक करते हो ? मुझे इस कैद में रखकर, बेड़ियों से जकड़कर क्षमा-याचना का स्वांग भला तुम्हें क्या फल देगा ? अपने पावन पर्व की क्यों हँसी उड़ाते हो ? सच्चे हृदय से यदि क्षमा माँगते हो तो पहले मुझे मुक्त करो। मेरा राज्य मुझे दो तथा मेरे ललाट पर लिखे गये ‘ममदासीपति’ शब्द को ढाँपने के लिए अपना देव-प्रदत्त

मुकुट दो, जिसकी आभा से वह निशान नहीं दिखाई दे तथा स्वर्ण-गुलिका दासी दो। इतना जब तक नहीं करते, तब तक पर्व का मनाना, क्षमा-याचना करना उसी तरह है, जैसे साँप के निकल जाने के बाद लकीर को लाठियों से पीटना।”

□ राजा उदायन का चिन्तन

उदायन सुनकर विचारमग्न हो जाते हैं। उनके अन्तर् में धर्म और राजनीति का द्वन्द्व चलने लगता है—‘चण्ड ठीक ही तो कहता है। जब तक यह बन्दी है, तब तक यह क्षमादान कैसे देगा और मैं भी किस मुँह से क्षमा-याचना कर रहा हूँ ? आज के दिन तो क्षमा माँगने के साथ क्षमा करने का भी तो संकल्प होता है। इसको बन्दी रखने का अर्थ है—मैंने इसके अपराध को माफ नहीं किया। पर क्या इस तरह छोड़ देना मेरी भयंकर भूल नहीं होगी ?’

□ क्षमा की जीत, चण्डप्रद्योतन बन्धन-मुक्त बना

बहुत सोच-विचार के पश्चात् महाराज उदायन के अन्तर् का धर्म-संकल्प जीत गया। उसने चण्डप्रद्योतन के लिए बन्धन-मुक्ति को स्वीकृत करते हुए सर्वप्रथम चण्डप्रद्योतन को बन्धन-मुक्त कर, सिर पर स्वर्ण-मुकुट रख जीते हुए अवन्ती राज्य का पुनः उन्हें अधिपति नियुक्त कर दिया। स्वर्ण-मुकुट से ललाट पर लिखे गये ‘ममदासीपति’ शब्द भी ढक गये। इतना ही नहीं, क्षमावीर महाराज उदायन ने अपनी कन्या का विवाह चण्डप्रद्योतन से कर दिया। दहेज में अपार धन-वैभव के साथ दासी के रूप में अपनी इस सुन्दरी स्वर्ण-गुलिका को भी उसके सुपुर्द कर दिया और मालवा को अपना मित्र-राज्य घोषित कर चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् वापस उदायन वीतिभय लौट आये।

□ धन्य हैं महावीर के ऐसे उपासक

चण्डप्रद्योतन स्वर्ण-पट्टिका से सिर ढके, स्वर्ण-गुलिका को साथ ले उज्जयिनी तो आ गया, पर उस प्रचण्ड चण्ड के हृदय में अभी भी हलचल मची हुई थी। यह कैसा प्रतिकार? यह कैसी क्षमा-याचना ? यह कैसा क्षमादान ? वाह रे उदायन ! वाह रे जिनधर्म ! वाह रे संवत्सरी ! धन्य हैं वे सभी जो क्षमाश्रमण तीर्थंकर महावीर के उपासक हैं, उनके दर्शन कर चरण-वन्दना करते हैं, उनके श्रीमुख से पतित पावनी जिनवाणी का धर्म-सन्देश श्रवण करते हैं, व्रत-प्रत्याख्यान-पौषधादि करते हैं।

□ अप्पा सो परमप्पा फिर पाप क्यों ?

बंधुओं ! विचार आप भी करते हैं। धर्मदेशना सुनकर कभी चिन्तन आपके भी चलता है। किसी ऐसे ही प्रसंग के घटने पर या इसी तरह के प्रसंगों को धर्मकथा के रूप में श्रवण कर आप भी कुछ इसी तरह करने या बनने का विचार मन में लाते हैं, पर वह विचार क्षणिक होता है, भावोद्रेक की भाँति, जो अगले ही क्षण अन्तर्धान हो जाता है। आपके सामने फिर वे ही घोड़े हैं, वे ही मैदान हैं। संसार, व्यापार, परिवार में पुनः फँस जाते हैं और धर्म-विचार की जगह पाप-पंक में धँस जाते हैं।

आप सोचते होंगे, आपके द्वारा किये गये पापकार्यों को कौन देख सकता है ? आप तो सभी से छिपाकर सबकी आँखें बचाकर, स्वयं की जानकारी में पर अन्यान्य की बिना जानकारी के पापकार्य करते हैं। मत भूलिए बंधुओं ! कि आपके समस्त कार्यों को देखा जा सकता है। सर्वज्ञ देखते-जानते हैं, अवधिज्ञानी भी देख व जान सकते हैं। मन में उभरे पापमय विचार भी तो उनसे छिपे नहीं रहते। अरे बन्धुओं ! और कोई नहीं तो आप स्वयं तो देख ही रहे हैं और तीर्थंकर भगवन्तों की आगम-वाणी उद्घोषणा कर रही है—“**अप्पा सो परमप्पा।**”—आत्मा ही परमात्मा है। अतः आप देख रहे हैं तो परमात्मा देख रहा है, फिर पापकार्य क्यों, पाप-विचार भी क्यों ?

□ मेरा वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं!

वीतिभय नगर के महाराज उदायन कर्तव्य-पालन के लिए नित्य राज्य-कार्य करते हैं तो आत्म-कल्याणार्थ नित्य व्रतादि भी करते हैं। वे नित्य धर्म-चिन्तन करते हैं और चिन्तन करते हैं कि मेरा वह दिन धन्य होगा, जब मैं राज-काज के झंझटों से मुक्त हो, निश्चित रूप से अधिकाधिक समय धर्मकार्य में लगाऊँगा। एक समय पर्व के किसी दिन राजा उदायन पौषध लेकर अपनी पौषधशाला में धर्म-जागरण कर रहे थे। रात्रि के अन्तिम प्रहर में धर्म-जागरिका के मध्य चिन्तन-मनन करते हुए ही विचार आया उन्हें कि वे ग्राम, उद्यान आदि स्थल धन्य हैं, जहाँ भगवान महावीर विचरते हैं, धर्म-सन्देश देते हैं। यदि श्रमण भगवन्त प्रभु महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यहाँ पधारें तो मैं भी प्रभु के चरणों में वन्दना-नमस्कार करूँ, उनकी धर्मदेशना सुनूँ, उनकी पर्युपासना करूँ।

□ तीर्थकर महावीर का आगमन

तीर्थकर महावीर उस समय चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में विराजमान थे। उदायन राजा के मन में समुत्पन्न संकल्प को अपने ज्ञान से जानकर प्रभु पूर्णभद्र चैत्य से विहार कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वीतिभय नगर में पधारे और नगर के बाहर स्थित मृगवन नामक उद्यान में विराजित हुए।

□ उदायन को विरक्ति

प्रभु के आगमन का सन्देश प्राप्त कर उदायन राजा अत्यन्त हर्षित हुए। वीतिभय नगर को सुन्दर, स्वच्छ एवं सुसज्जित कराने का आदेश देकर उदायन राजा अपने राज-परिवार, मंत्रि-परिषद् एवं अनेक राज्याधिकारियों, श्रीमन्त-सेठों व गणमान्य नागरिकों के साथ पूरे राजकीय ठाट-बाट से प्रभु दर्शनार्थ जाते हैं। उनके दर्शन कर उन्हें वन्दना करते हैं और तीर्थकर भगवन्त की अमृतोपम धर्मदेशना का श्रवण करते हैं। उस आत्म-कल्याणी वाणी को हृदय में धारण कर प्रभु को पुनः वन्दना-नमस्कार करते हुए उदायन राजा कहते हैं—“प्रभु! आपकी वाणी यावत् तथ्य है, सत्य है। मैं अब संसार के सभी प्रपंचों से दूर हट, राज्य-कार्य त्याग आपके चरणों में प्रव्रजित होना चाहता हूँ।”

प्रभु कहते हैं—“हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख उपजे वैसा करो। धर्मकार्य में क्षण मात्र का भी प्रमाद मत करो।”

□ सच्चा सुख धन में नहीं धर्म में है

आपको यदि कह दें आपके भगवन्त गुरु कि जैसा सुख उपजे वैसा करो तो आप क्या करेंगे ? आपका सुख तो धन है। आप दौड़ेंगे पैसे की तरफ, धनार्जन के लिए आप दिन-रात एक कर देंगे। बंधुओं ! धन में सच्चा सुख नहीं है, आपको धन में जो सुखाभास होता है, वह भी भ्रम है। धन से कोई सुखी नहीं होता, यदि धन से सुख मिलता हो तो देवलोक के देवता अपने को पूर्ण सुखी मानते पर उनका चिन्तन भी यही कि मनुष्य-भव उत्तम है, काश हम भी मनुष्य-भव प्राप्त करते और कोई उत्तम कुल, उत्तम जाति हमें मिलती। जानते आप भी हैं कि धन सुख नहीं दे सकता। संसार-सागर से तारने वाला, जन्म-जरा-मरण के दुःखों को मिटाने वाला धर्म ही है। धर्म ही तिन्नाणं-तारयाणं का रूप है। दुःख इस बात का है कि आप यह सब जानते

ही जानते हैं, मानते कुछ नहीं। कदाचित् मानते भी हों, पर अपने जीवन में धारण नहीं करते। अतः वह मानना भी नहीं मानने जैसा ही है।

□ पुत्र के लिए हित-चिन्तन

उदायन राजा पुनः राजमहलों में आकर अपने पुत्र अभीचिकुमार को राज्यारूढ़ करने का विचार करते हैं, तभी उनके मन में चिन्तन पैदा होता है—‘यदि मैं अभीचिकुमार को राज्यारूढ़ करूँगा तो वह राज्यलिप्सा, भोगोपभोग सामग्री, कामवासनाओं में मूर्च्छित, तल्लीन, मगन हो पाप-पंक में डूब जायेगा और फिर अनन्तकाल तक भवभ्रमण को बढ़ाकर संसार में भटकता रहेगा। राजेश्वरी तो नरकेश्वरी है। आसक्त बन गया यदि राज्य के अधिकारों, सुख-भोगों में तो नरक निश्चित है। अतः मुझे अपने पुत्र को राज्यारूढ़ नहीं करना चाहिए।’

□ भाणेज को राज्यारूढ़ किया

उदायन राजा ने पुत्र के हित का चिन्तन किया तथा यह सोचते हुए कि ‘मेरे भाणेज केशीकुमार का आचरण विवेकयुक्त लगता है। राज्य-सिंहासन पर बैठने पर वह आसक्त नहीं होगा। अतः राज्य उसे सौंप देता हूँ।’ उन्होंने अपने भाणेज केशीकुमार को सिन्धु-सौवीर जनपद का राज्य सौंप दिया। अब वीतिभय नगर के राज्य-सिंहासन पर केशीकुमार बैठकर राज्य का शासन-संचालन करने लगा।

□ उदायन प्रव्रजित

उदायन राजा तब प्रभु जहाँ विराजमान थे, वहाँ गये। प्रभु को वन्दना-नमस्कार कर उन्होंने उत्तर-पूर्व दिशा में जाकर समस्त राज्य-चिह्न एवं वस्त्र उतार, श्रमण-योग्य वस्त्र धारणकर स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया एवं प्रभु महावीर से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित बन उदायन मुनि ने शुद्ध श्रमणाचार का पालन किया। अनेक प्रकार की लघु-दीर्घ तपस्याएँ कीं। वे संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

□ अभीचि का दुश्चिन्तन

इधर अभीचिकुमार के मन में शल्य कि पिता ने मुझे राज्य न देकर अपने भाणेज केशी को राज्य दिया, यह मेरे साथ अन्याय है। कोई पिता अपने पुत्र के साथ ऐसा व्यवहार करे तो वह कैसे पिता कहा जा सकता है, कैसे पूजनीय बन सकता है ? मेरे

साथ जो अन्याय उन्होंने किया है, उसे इस जन्म में तो क्या, मैं सात जन्म तक नहीं भुला पाऊँगा। इस तरह मन में रात-दिन अभीचि के आर्त-रौद्रध्यान ही रहने लगा।

□ अभीचि कोणिक के आश्रय में

मानसिक रूप से संतप्त बन अभीचि ने वीतिभय छोड़ दिया। अनेक ग्राम-नगरों में घूमता हुआ वह चम्पापुरी पहुँचा और वहाँ के राजा कोणिक के आश्रय में रहने लगा। राजा कोणिक ने अभीचि को अपना सामन्त घोषित कर दिया और उसे राज्य-सुख के समस्त वैभव उपलब्ध करवा दिये। कोणिक का अभीचि कुमार मौसेरा भाई था।

□ कोणिक की संगत ने दिखाई रंगत

राजा कोणिक प्रभु महावीर का अनन्य भक्त था। उसका नियम था कि जब तक प्रभु की सुख-शान्ति के समाचार नहीं मिल जाते, तब तक वह मुँह में पानी भी नहीं डालता था। अभीचि वहाँ रहते हुए यह सब देखता था, लोगों ने उसे कोणिक की भक्ति और नियम की जानकारी दे दी थी। सम्यक् पुरुषों के साथ रहकर मिथ्यादृष्टि भी कई बार सम्यक्त्वी बन जाते हैं। अभीचि भी कालान्तर में श्रमणोपासक बन गया। उसने जीव-अजीव आदि तत्त्वों का यथातथ्य ज्ञान प्राप्त किया और सम्यक् प्रकारेण अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

□ जैसी संगत बैठीए !

बंधुओं ! ज्ञानी के साथ रहने से ज्ञान मिलता है। आप भी कभी ज्ञानी के साथ रहकर ज्ञान प्राप्त करें और अपने आचरण को, धर्मानुष्ठानों को प्राप्त ज्ञान के अनुसार करें तो महान् फल की प्राप्ति होगी और यदि निंदक, अधर्मी, दुष्ट के साथ उठना-बैठना रखा तो जीवन बिगड़ते देर नहीं लगेगी क्योंकि—“जैसी संगत बैठिये, तैसो ही फल दीन।”

□ णमो लोए सव्व साहूणं, पर मुनि उदायन को छोड़कर

कोणिक एवं अभीचि, दोनों साथ-साथ धर्माचरण करने लगे। अभीचि के भी रग-रग में धर्मध्यान रमण करने लगा, पर वह पिता के प्रति शत्रुता का भाव तब भी नहीं भुला सका। वह तो तीव्र से तीव्रतर बनता गया। धर्मानुष्ठान में भी उसका यह शल्य प्रतिक्षण

उपस्थित रहता। वह नमस्कार मंत्र का पाठ करता—“णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उक्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं, पर उदायन मुनि को छोड़कर।”

वह प्रतिक्रमण करता। प्रतिक्रमण में सर्व जीव राशि को क्षमा करने, उनसे क्षमा-याचना करने का पाठ आता तो अभीचि कहता—

खामेमि सव्वे जीवा, उदायन मुनि को छोड़कर,
सव्वे जीवा खमंतु मे, उदायन मुनि को छोड़कर।
मिच्छि मे सव्व भूएसु, उदायन मुनि को छोड़कर,
वैरं मज्झं न केणइ, उदायन मुनि को छोड़कर॥

□ एक शूल, एक भूल, धर्म के कितनी प्रतिकूल !

श्रमणोपासक, नवतत्त्व ज्ञाता, व्रत-पौषध करने वाला पर यह एक शल्य आजीवन बना रहा। उसने कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि इस लोक में उदायन नाम के न जाने कितने मुनि होंगे। जितने उदायन मुनि, सबको वन्दन टल गया, सबसे क्षमा-याचना शेष रह गई। कितनी भारी असातना हुई उन सभी मुनियों के प्रति ? बंधुओं ! जीव जब कर्मबंधन करता है, तब चिन्तन नहीं करता, पर भोगते समय ध्यान आता है कि मैंने कैसे-कैसे अशुभ कर्म किये पूर्वभवों में, जिनका फल अब मुझे भोगना पड़ रहा है। नवीन बंध के समय शुभ चिन्तन हो तो नवीन अशुभ कर्मों का बंध होता ही नहीं।

□ भूल की अनालोचना दुर्गति का कारण

अभीचि के मन का यह शल्य, पिता के प्रति यह शत्रुभाव, द्वेषभाव अन्त समय तक बना रहा। इसी एक शल्य के कारण वह आराधक की जगह विराधक की श्रेणी में चला गया और अन्तिम समय शत्रुभाव की आलोचना किए बिना, क्षमापना किए बिना ही संलेखना-संधारा कर कालधर्म को प्राप्त हुआ। शल्य मिट जाता तो वैमानिक देव की गति निश्चित थी, पर शल्य मिटा नहीं, शत्रुभाव हटा नहीं, पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त हुआ नहीं, क्षमापना हुई नहीं। अतः अभीचि श्रमणोपासक काल करने के पश्चात् भवनपति देवों में असुरकुमार बना। एक पल्योपम की स्थिति होती है अनेक असुरकुमार देवों की। अभीचि की भी असुरकुमार बनने पर एक पल्योपम की स्थिति थी। जीवनभर उसने श्रावकधर्म का यथेष्ट ही नहीं, अपितु श्रेष्ठ पालन किया, पर एक शल्य ने उसे

जो निकृष्ट फल दिया, उसे सुनकर आपको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। धर्म कर रहे हैं, व्रतों का पालन कर रहे हैं, तप कर रहे हैं, पौषध कर रहे हैं, पर एक भी शल्य यदि रह गया अन्तिम समय तक मन में तो दुर्गति में जाना पड़ सकता है।

□ अभीचि की मुक्ति होगी या नहीं ?

गौतम स्वामी ने श्रमण भगवंत प्रभु महावीर से पृच्छा की—“भगवन् ! निम्न देव की एक पल्योपम स्थिति के बाद अभीचि का जीव देवलोक से च्यवकर कहाँ जायेगा ? उसकी संसार से मुक्ति होगी या नहीं ?”

प्रभु कहते हैं—“गौतम ! देवलोक से च्यवकर अभीचि का जीव महाविदेह में मानव-भव में जन्म लेगा और वहाँ उत्कृष्ट धर्मकरणी कर मोक्षगति प्राप्त करेगा।”

□ वीतिभय नगर में मुनि उदायन

बंधुओं ! उधर उदायन मुनि एक समय प्रभु की आज्ञा लेकर वीतिभय नगर में पधारे। उदायन के वहाँ पदार्पण का सन्देश जब केशी को मिला तो वह मन ही मन घबरा गया। अज्ञानी जीव कायर और सशंक होते हैं। वह विचारने लगा—‘कहीं उदायन पुनः राज्य प्राप्त करने, मुझसे राज्य छीनने तो नहीं आये हैं।’ यह विचार आते ही उसने सम्पूर्ण राज्य में घोषणा करवा दी कि उदायन मुनि को कोई भी व्यक्ति आश्रय न दे, गोचरी में आने पर भोजन-पानी न बहराए। इस तरह उदायन मुनि को वीतिभय नगर में किसी के यहाँ आश्रय नहीं मिला। राजा केशी से सारे नगरवासी वैसे ही आतंकित थे।

आश्रय नहीं, आहार-पानी नहीं, पर क्षमाशील मुनि के मन में रंच मात्र भी द्वेषभाव, बुरे विचार, अशुभ चिन्तन नहीं था। आखिर नगर के बाहर ढंक नामक एक कुम्भकार ने उन्हें आश्रय दिया। यह कुम्भकार उदायन का पूर्व भक्त था।

□ सशंक केशी ने मुनि उदायन को विष दिया

उधर केशी ने सोचा—‘उदायन मुनि को यदि सदा के लिए मौत की नींद सुला दिया जाये तो मेरे रास्ते का यह काँटा सदा-सदा के लिए दूर हो जायेगा, मेरा राज्य-सिंहासन पर बना रहना निष्कण्टक हो जायेगा, मेरी सारी बाधाएँ दूर हो जायेंगी।’ उसने एक वैद्य से उग्र विष मँगवाया और षड्यन्त्रपूर्वक मुनि उदायन को बहरवाया। ऐसा प्रबन्ध किया कि मुनि को गोचरी में विष-मिश्रित आहार बहराया जाये। केशी की योजना सफल

रही। उदायन मुनि को जब पता चला कि मैंने जो आहार किया, वह विष-मिश्रित था तो उन्होंने अन्तिम समय निकट समझकर यावज्जीवन संथारा ले लिया।

□ मुनि उदायन पाते हैं मुक्ति

मुनि उदायन महान् क्षमावंत थे। मुनि तो होते ही क्षमाशील हैं, पर वे तो मुनि बनने से पूर्व भी अत्यन्त उदार थे, क्षमा की प्रतिमूर्ति थे। संलेखना-संथारा कर उन्होंने चौरासी लक्ष जीव योनि से क्षमा-याचना की, उत्कृष्ट भावों की श्रेणी में चढ़े। शरीर में असह्य वेदना, रोम-रोम में जलन ऐसी कि जैसे शरीर में तीव्र अग्नि की ज्वालाएँ दहक रही हों, पर चिन्तन में समभावों की शीतल धारा। क्षायिक सम्यक्त्व के धनी मुनि उदायन विशुद्ध शुभ लेश्या के उत्कृष्ट परिणामों के फलस्वरूप समाधिपूर्वक संथारे की स्थिति में क्षपक श्रेणी आरूढ़ होकर घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर अयोगी बन आयुष्य पूर्ण होने पर शेष चारों अघाति कर्मों का क्षय करके मोक्षगति को प्राप्त कर अनन्त सुखों के अधिकारी बनते हैं।

□ क्रिया में ज्ञान को स्थान दीजिए

कहते हैं कई प्रकार के विष अपने प्रभाव से अनेक तरह के जटिल रोगों को नष्ट कर देते हैं। उदायन मुनि का भी रोग नष्ट हो गया। बंधुओं ! जन्म-जरा-मरण से बड़ा रोग इस संसार में क्या होगा ? हमारा और आपका लक्ष्य भी यही है कि जन्म-मरण मिट जाये, भवभ्रमण न करना पड़े, संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा मिले। लक्ष्य के अनुरूप यदि साधना की जायेगी, मंजिल के अनुरूप यदि सत्य-पथ पर गति होगी तो मंजिल निश्चित है, लक्ष्य-प्राप्ति में सफलता अवश्य मिलेगी। चल रहे हैं ये साधना के दिन। ज्ञान के साथ क्रिया का संगम यदि होगा, भावों में शुद्धि, उत्कृष्टता होगी तो मोक्ष निकट है, उसकी प्राप्ति सुनिश्चित है।

आनंद ही आनंद !



आत्मोद्धार की जननी : आगमवाणी

(मुनि गंगदत्त तथा रोह अणगार)

आत्म-बंधुओं !

विश्व के समस्त व्यक्ति अपना जीवन जीने के लिए या तो धर्म का अवलम्ब लेते हैं या धन का। धर्म का अवलम्ब लेने वाले जीवन को विकास के पथ पर अग्रसर कर आत्म-कल्याण के ध्येय में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, जबकि धन को जीवन का ध्येय बनाकर चलने वाले व्यक्ति त्रिशंकु की तरह अधर में लटके रह जाते हैं। न उन्हें धन मिलता है और न धर्म, क्योंकि वे धनार्जन में धर्म को भूल जाते हैं और अर्जित धन कभी उनका साथ नहीं देता, वह तो पद-पद पर विपदाएँ ही खड़ी करता है। केवल एक पथ ऐसा है, जिस पर चलकर धन को अवलम्ब बनाने वाला व्यक्ति भी धर्म का रसास्वादन कर सकता है। उस पथ को जानना है तो जिनवाणी का मंथन, मनन, चिन्तन करना होगा।

नीति और न्याय के साथ धनार्जन एवं विवेक के साथ धन का विसर्जन भी धर्म-पथ है। सत्य तो यह है कि जहाँ-जहाँ विवेक है, वहाँ-वहाँ धर्म है। जैन तीर्थंकर भगवंतों की वाणी का विश्व के लिए यही सन्देश है। संसार के सम्बन्धों और सावद्य-योगों को जो पूर्णतः त्याग नहीं सकते, प्रभु कहते हैं कि उन्हें अपने जीवन को व्रतों की मर्यादा में बाँध लेना चाहिए। तीर्थंकरों की वाणी का महत्त्व, उसका प्रभाव, उसकी सामर्थ्य अवर्णनीय, अकथनीय है। जो भी सुनता है उन सर्वज्ञों की वाणी, जीवन में परिवर्तन का अनुभव करता ही है।

□ पूर्णता डालती है अद्भुत प्रभाव

प्रश्न यह है कि उनकी वाणी का ऐसा प्रभाव क्यों ? बंधुओं ! तीर्थकर भगवंत दीक्षा लेते ही उपदेश देना प्रारम्भ नहीं कर देते। वे जानते हैं कि जब तक मुझमें पूर्णता नहीं होगी, मेरे कथन का प्रभाव कैसे होगा ? जिस व्यक्ति की कथनी और करनी में अन्तर हो, उसके वचनों का प्रभाव श्रोता पर नहीं पड़ेगा और जो स्वयं ज्ञान-रिक्त हो, अल्पज्ञानी हो, वह यदि अपने मन से सिद्धान्त बनाकर छलके तो उसका छलकना भी व्यर्थ ही होगा, अलाभकारी ही रहेगा।

तीर्थकर दीक्षा के बाद कठोर संयम-पालन करते हुए, आत्म-चिन्तन करते हुए, उग्र तपश्चरण करते हुए जब अपने को ज्ञान की सम्पूर्णता के शिखर पर आरूढ़ कर लेते हैं, तब वे संसार के प्राणियों को उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं। जब तक सम्पूर्ण सत्य-ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर लेते, केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपार्जन नहीं कर लेते, तब तक जन-समूह को उद्बोधन नहीं देते। सत्य-ज्ञान, सम्पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जब वे देशना करते हैं, तब उनकी वाणी, उनकी वागरणा, उनके उपदेश सार्थक, सामर्थ्यवान, पूर्ण प्रभावी होते हैं। वह वाणी इतनी समर्थ होती है कि एक क्षण में जन्म-जन्मांतर के अर्जित अशुभ कर्मों को नष्ट करने का पथ प्रशस्त कर सकती है।

□ अधजल गगरी, छलकत जाय

वर्तमान काल में इससे ठीक विपरीत कार्य हो रहा है। कुछेक ज्ञानी, गूढ़ार्थी, आगमज्ञाता संतों को छोड़ दें तो पाते हैं कि आज के संत-सती जरा-सा ज्ञान प्राप्त करते ही अपने आपको पंडित, ज्ञानी, धुरंधर समझने लगते हैं। यदि किसी संत या सती की आवाज में बुलंदी हो, स्वरों में उतार-चढ़ाव लाने की कला हो, शब्दों का इन्द्रजाल बिछाना जानता हो, थोड़ा-बहुत गीति-गान भी कर लेता हो तो फिर उस साधक का क्या कहना ? उसके पाँव जमीन पर नहीं होंगे और आँखें तो आसमान से नीचे उतरेंगी ही नहीं। प्रवचन देकर जन-मन को सम्मोहित करना वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझेगा। कितने ही संत-सती हैं जो आज

शब्दों के जादू का खेल खेलकर जन-जन को अपने आकर्षण में बाँध रहे हैं। कितने ही श्रावक-श्राविका हैं जो उनके इस आकर्षण में बँधे किसी भी कल्प, आचार, मर्यादा की परवाह किये बिना भौतिक साधनों के लिए उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं।

□ सजग बन जाएँ

क्यों होता है ऐसा ? प्रभु-वाणी स्पष्ट घोषणा कर रही है—आसक्ति घटाओ पर आज का देशविरति श्रावक तथा सर्वविरति अनेक श्रमण आसक्ति बढ़ा रहे हैं। कञ्चन-कामिनी के त्यागी अनेक संत-सती कंचन का सहारा लेकर अपनी दुकानदारी चला रहे हैं, कंचन-प्राप्ति के लिए कामिनियों अर्थात् श्राविकाओं को अपने प्रभावाकर्षण में ले रहे हैं। आत्म-बंधुओं ! जैनधर्म के गौरव को यदि अक्षुण्ण बनाना है तो चारों तीर्थों को जगना-जगाना होगा, धन के फंदे व शब्दों के जाल से उसे मुक्त बनाना होगा, आडम्बर और शिथिलाचार को मिटाने के लिए प्रभावी कदम उठाने होंगे।

आप सभी को सजग बनना है, सज्ञान बनना है, सचेष्ट बनना है। यदि आपका आगमज्ञान ठोस है, आपका सम्यक्त्व दृढ़ है, आप श्रमणाचार की पूरी नॉलिज (Knowledge) रखते हैं तो शिथिल संत-सती स्वतः भटकना छोड़ उस दिव्य पथ को अपनाएँगे जो आत्म-विशुद्धि की ओर अग्रसर करता है।

□ अनगार गंगदत्त

एक भवावतारी पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. द्वारा रचित 'बड़ी साधु वन्दना' में ऐसे ही आगमोल्लिखित महापुरुषों का भावपूर्वक स्मरण, वन्दन, अभिनन्दन किया गया है। श्रेष्ठी गंगदत्त ने भी प्रभु के श्रीमुख से धर्म-सन्देश का अमृतपान कर परिवार, संसार, धन, ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, मोह-माया को दुःख स्वरूप जानकर, मानकर इनका त्याग किया और अनगार बन गए। आज उन्हीं गंगदत्त अनगार का प्रसंग मेरे प्रवचन का विषय है। 'बड़ी साधु वन्दना' की आगे की तीन गाथाओं में गंगदत्त अनगार तथा अन्य अनेक ऐसे अनगारों का वर्णन है, जो देव बने तथा देवायु भोगकर, च्यवकर मुक्ति प्राप्त करेंगे।

गंगदत्त मुनि आनंद, तारण तिरण जहाज।
 मुनि कौशल रोहो, दियो घणा ने साज॥३६॥
 धन्य सुनक्षत्र मुनिवर, सर्वानुभूति अनगार।
 आराधक होई ने, गया देवलोक मंझार॥३७॥
 चवि मुगति जासी, वलि सिंह मुनीश्वर सार।
 बीजा पण मुनिवर, भगवती मा अधिकार॥३८॥

(आधार-भगवतीसूत्र, श. १, उ. ६)

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नगर का रहने वाला था श्रेष्ठी गंगदत्त। वह अत्यन्त ऋद्धि-सम्पन्न, श्रेष्ठि-वर्ग में समादर प्राप्त, प्रतिष्ठित व्यवसायी था।

एक बार हस्तिनापुर नगर के सहस्राभ्र उद्यान में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त श्री मुनिसुव्रत का अपने शिष्यवृन्द के साथ पदार्पण हुआ। उनके पधारने पर हस्तिनापुर के अनेक श्रावक एवं श्राविकाएँ व प्रभुभक्त-जन तीर्थकर भगवंत की वन्दना करने, धर्म-सन्देश श्रवण करने, पर्युपासना करने गए। प्रभु के पदार्पण की बात सुन गंगदत्त गाथापति ने भी हर्षभाव से उन्हें वन्दन करने के लिए जाने का विचार किया।

□ गंगदत्त का प्रभु-वाणी श्रवण एवं संसार से विरक्ति

उसने स्नान किया, अपने शरीर को वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया, अनेक श्रेष्ठिजनों को भी साथ लिया। घर से निकलकर वह गंगदत्त गाथापति उन अनेक श्रेष्ठिजनों के साथ पैदल ही हस्तिनापुर के मध्य भाग से होता हुआ सहस्राभ्र वन में पहुँचा। वहाँ प्रभु का समवसरण लगा हुआ था। गंगदत्त ने प्रभु की प्रदक्षिणा की, तीन बार वन्दन किया, पर्युपासना की और धर्म-सभा (समवसरण) में बैठकर धर्म-सन्देश सुनने लगा। वीतराग वाणी को सुनकर उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह समझ गया कि सांसारिक समस्त सुख दुःखरूप हैं। अतः मुझे तीर्थकर भगवंत निर्दिष्ट संयम-पथ पर अग्रसर होकर आत्म-कल्याण में लग जाना चाहिए।

□ आगमवाणी से ही आत्मोद्धार संभव

बंधुओं ! कितने-कितने प्रवचन सुने, जिनवाणी रूप सुधा-वर्षण आपके कानों में हुआ, पर वह कानों तक ही रहा, अन्दर हृदय तक नहीं पहुँच पाया। दुर्लभ मानव-भव को सफल बनाना है तो इन उत्कृष्ट साधकों के जीवन-प्रसंगों से कुछ प्रसाद ग्रहण करिए, कुछ सबक लीजिए, कुछ प्रेरणा प्राप्त करके अपने जीवन-व्यवहार को उनके अनुरूप बनाने का संकल्प करिए और उस संकल्प को क्रियान्वित करने में जुट जाइए।

□ गंगदत्त श्रमण बने

गाथापति गंगदत्त ने वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा से घर-बार, व्यापार आदि का समस्त भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया। स्व-परिजनों की अनुमति प्राप्त कर मित्रजन, ज्ञातिजन, कौटुम्बिक पुरुष, परिवार आदि सहित वह घर से निकलकर प्रभु के पास सहस्रांश्र वन में पहुँचा। प्रभु को वन्दनादि कर वह ईशानकोण में गया। स्वयं के सारे वस्त्राभूषण उतारे, मुनियों के योग्य वस्त्र धारण किए, मुखवस्त्रिका बाँध अपने हाथों से वहीं अपना पंचमुष्टिक लोच किया और पुनः प्रभु के पास आकर उनके श्रीमुख से जैन भागवती-दीक्षा मंत्र ग्रहण किया।

गाथापति गंगदत्त से गंगदत्त अणगार बनने के बाद मुनि गंगदत्त ने ग्यारह ही अंगसूत्रों का गहन अध्ययन किया, चिन्तन-मननपूर्वक ग्रहण करने योग्य को जीवन में धारण किया और उग्र तपश्चरण करते हुए मुनि गंगदत्त अपनी आत्मा को भावित करने लगे।

□ उत्कृष्ट संयम-पालन कर सम्यग्दृष्टि देव बन गए गंगदत्त

जीवन के अंतिम काल में गंगदत्त मुनि ने एक मास का संलेखना-संधारा किया। अपने पापों की आलोचना के लिए प्रतिक्रमण किया, लोक की समस्त जीवराशि से क्षमा-याचना की, तब समाधि को प्राप्त होकर काल के अवसर पर काल करके महाशुक्रकल्प में महासामान्य नामक उपपात सभा की देव-शय्या में उनका जीव अमायी सम्यग्दृष्टि देव बना।

□ परिणमन करते हुए पुद्गल परिणत हैं, अपरिणत नहीं

बंधुओं ! इसी गंगदत्त देव ने एक बार अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर प्रभु महावीर को जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में उल्लूकतीर नामक नगर के बाहर जम्बूक नामक उद्यान में विराजमान देखा तो उन्हें वन्दन-नमन कर उनकी उपासना करने की कामना से जाने का विचार किया। तभी मायी मिथ्यादृष्टि देव गंगदत्त देव के निकट आया और वार्त्ता करने लगा। बातों ही बातों में जब मायी मिथ्यादृष्टि देव ने कहा कि परिणमन करते हुए पुद्गल 'परिणत' नहीं कहलाते, 'अपरिणत' कहलाते हैं, क्योंकि वे पुद्गल तो अभी परिणत हो रहे हैं। इस पर गंगदत्त देव ने कहा—“बंधु ! ऐसा नहीं है, यह तुम्हारा मिथ्या कथन है। वस्तुतः परिणमन करते हुए पुद्गल परिणत कहलाते हैं, अपरिणत नहीं। चूँकि वे परिणत हो रहे हैं, अतः ऐसे पुद्गल परिणत हैं, अपरिणत नहीं।”

□ देव गंगदत्त का प्रभु-दर्शन

गंगदत्त देव के तर्कों और उसकी युक्तियों के आगे वह मायी मिथ्यादृष्टि देव परास्त होकर चला गया। तब गंगदत्त देव प्रभु के दर्शनार्थ अपने चार हजार सामानिक देवों के परिवार के साथ दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव और दिव्य तेजप्रभा लिए हुए आकाशमार्ग से चला। उस समय देवेन्द्र देवराज शक्र उसकी इस ऋद्धि, द्युति, प्रभाव व तेज को सहन नहीं कर सका।

□ देवता बाह्य पुद्गल ग्रहण करके ही पृथ्वी पर आ सकते हैं

देवेन्द्र देवराज वज्रपाणि शक्र तब अपने दिव्य यान से प्रभु के चरणों में उपस्थित हुआ। वंदन-नमन कर उसने पूछा—“भगवन् ! महर्द्धिक, महाद्युति, महाप्रभा, महातेज और महासौख्यसम्पन्न देव बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किए बिना यहाँ आने में समर्थ हैं या बाह्य पुद्गल ग्रहण करने के पश्चात् आने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं ?”

प्रभु महावीर ने कहा—“हे शक्र ! ऐसे देव बाह्य पुद्गल ग्रहण किए बिना यहाँ नहीं आ सकते। यहाँ आने के लिए उन्हें बाह्य पुद्गल ग्रहण करने ही पड़ते हैं।”

इस पर शक्रेन्द्र ने उन देवों के चलने, बात करने, आँखें खोलने व बंद करने, विक्रिया करने, स्थान-शय्या आदि को भोगने, अवयवों को सिकोड़ने व पसारने, परिचारणा करने आदि के सम्बन्ध में ऐसे ही प्रश्न किए।

प्रभु ने कहा—“शक्र ! इन सभी क्रियाओं के लिए उन देवों को बाह्य पुद्गल ग्रहण करने पड़ते हैं।”

□ सर्वज्ञ महावीर प्रभु ने गंगदत्त देव को एक भवावतारी सिद्ध बताया

प्रभु से समाधान पाकर संतुष्ट हो शक्रेन्द्र अपने दिव्य-विमान से जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया। शक्र के जाने के पश्चात् गंगदत्त देव प्रभु के चरणों में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन करने के बाद गंगदत्त देव ने मायी मिथ्यादृष्टि देव के कथन और अपने द्वारा कही गई बात प्रभु को सुना दी और पूछा—“प्रभु ! मेरा कथन कैसा है ?”

श्रमण भगवान महावीर ने गंगदत्त देव से कहा—“हे गंगदत्त ! परिणमते हुए पुद्गल अपरिणत नहीं हैं, वे ‘परिणत’ कहे जाते हैं। यही मैं कहता हूँ और यही सत्य-तथ्य है।”

प्रभु के उत्तर से संतुष्ट और हर्षित हो गंगदत्त देव प्रभु की पर्युपासना करने लगा। उसने प्रभु की धर्मदेशना सुनी तब खड़े होकर वन्दन-नमन कर विनयपूर्वक पूछा—“भगवन् ! मैं गंगदत्त देव भवसिद्धिक हूँ या अभवसिद्धिक ?”

प्रभु ने कहा—“हे गंगदत्त ! तुम भवसिद्धिक-भव्य हो, एक भवावतारी जीव हो, इस भव के पश्चात् तुम्हारा मनुष्य-भव अन्तिम होगा।”

गंगदत्त देव यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपनी वैक्रियलब्धि से बत्तीस प्रकार की नाट्यकला का वहाँ प्रदर्शन किया और फिर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

बंधुओं ! वह गंगदत्त देव सत्रह सागरोपम की स्थिति को भोगने के पश्चात् वहाँ से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा और सर्वदुःखों का अंत करेगा।

□ रोह अणगार : गुणों के भंडार

आगे का प्रसंग रोह अणगार का है, जिन्होंने अपनी जिज्ञासाओं का प्रभु से समाधान पाकर तप-संयम द्वारा मुक्ति प्राप्त की। बंधुओं ! अनेक मत-मतान्तरों में लोक को किसी के द्वारा रचित माना जाता है; विशेषतः उनके अनुसार लोक की रचना 'ईश्वर' द्वारा की गई है, ऐसा प्रकट किया जाता है। इसी भाँति अनेक मतवादी लोक को शून्य मानते हैं, जीव-अजीव दोनों को ईश्वरकृत मानते हैं। कई मतवादी जीवों की उत्पत्ति पंचमहाभूत पदार्थों (अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी) से मानते हैं। अनेक लोग ऐसे हैं जो संसार से सिद्ध मानते हैं, अतः कहते हैं कि पहले संसार हुआ फिर सिद्धि या सिद्ध हुए। अनेकों का मानना है कि भूत और वर्तमान पहले तथा भविष्यकाल बाद में होता है, उनके अनुसार इन तीनों कालों की आदि है। चारों गति के जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अनेक दार्शनिक आगे-पीछे की कल्पना करते हैं।

भगवान महावीर के विनयवान, गुणवान एवं शीलवान रोह अनगार ने जब इन सब मत-मतान्तरों की जानकारी प्राप्त की तो उनके मन की जिज्ञासा जाग उठी कि वास्तविकता क्या है ? भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के छट्ठे उद्देशक में रोह अनगार का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

“समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी रोहे नामं अणगारे पगतिभद्दए, पगतिमउए, पगतिविणीते, पगतिउवसंते पगतिपतणुकोह-माण-माया-लोभे मिदुभद्दवसम्पन्ने, अल्लीणेभद्दए विणीए...।”

अर्थात् रोह अनगार की प्रकृति, उनका स्वभाव भद्र था, मृदु था, विनीत था, उपशांत था। वे अल्प क्रोध-मान-माया-लोभ वाले थे। निरहंकारिता थी उनमें और गुरु-भक्ति में सदैव लीन रहने वाले थे। वे किसी भी प्राणी को संताप नहीं पहुँचाने वाले, विनयमूर्ति थे।

□ रोह अणगार के प्रश्न : महावीर के समाधान

एक समय उत्कुटासन (ऊर्ध्व जानु, झुका हुआ सिर) से बैठे रोह अनगार जब ध्यानलीन हो तत्त्व-विचार कर रहे थे तो उनके मन में विचार आया कि विभिन्न

दार्शनिक एवं मतवादी जो इस प्रकार की बातें लोक, जीव, अजीव, द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के बारे में करते हैं। उनकी सत्यता क्या है ? यह प्रभु से ज्ञात करना चाहिए।

□ लोक-अलोक, जीव-अजीव, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक आदि में पहले कौन, पीछे कौन ?

अपनी जिज्ञासाओं के समाधान हेतु रोह अनगार विनयपूर्वक प्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए और पूछा—“ भंते ! लोक और अलोक में पहले कौन और पीछे कौन है ?”

प्रभु ने कहा—“ये दोनों ही पहले भी हैं और पीछे भी हैं। ये दोनों ही शाश्वत भाव हैं। अतः इनमें पूर्वापर क्रम नहीं है।”

रोह अणगार ने तब जीव-अजीव, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, सिद्धि-असिद्धि तथा सिद्ध-संसारी के विषय में भी इसी प्रकार प्रश्न किए। प्रभु ने भी कहा—“जैसा मैंने लोक-अलोक के बारे में बताया है, वही सिद्धांत इन सब पर भी लागू होता है। अर्थात् इनमें पहले-पीछे वाली बात नहीं है। जैसे मुर्गी और अण्डे में पहले-पीछे का क्रम नहीं है, ठीक वैसे ही इन्हें भी जानना चाहिए।”

ऐसे ही प्रश्न रोह अनगार ने लोकान्त, अलोकान्त, अवकाशान्तर, वात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नारक आदि चौबीस दंडक के प्राणी, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य, प्रदेश, पर्याय और काल (अद्धा, सर्वादद्धा) आदि के विषयों में एक-एक के साथ आगे के स्थान का संयोग करके पूछे।

सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्त ने रोह अणगार से कहा—“हे रोह ! इन सभी में किसी भी दो को ले लें पर शाश्वत होने से पूर्वापर क्रम की बात इनमें नहीं बैठती। अतीत-अनागत आदि काल भी पूर्वापर क्रमरहित हैं।”

अपनी जिज्ञासा शान्त हो जाने पर रोह अनगार प्रभु को वन्दन-नमन कर तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

□ निरतिचार संयम-पालन कर रोह अणगार बने एक भवावतारी

रोह अनगार ने भी अंतिम समय में एक माह का संलेखना-संधारा किया। वैमानिक देव बने। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे।

□ सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् साधना का नाम ही मुक्ति-पथ

आपका और हमारा भी ध्येय, लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। मोक्ष ही हमारा चरम व परम उद्देश्य है, वही हमारी अंतिम मंजिल है। उस मंजिल तक पहुँचने के लिए सम्यक् साधना करनी होगी। सम्यक् साधना के लिए सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान और क्रिया का यह संगम ही हमें संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा दिलाकर उस ज्योतिर्मय लोक में पहुँचाएगा, जहाँ पहुँचकर आत्मा ज्योति में ज्योति बनकर विराजमान हो अनंत अव्याबाध सुखों की, आनंद की प्राप्ति करती है। प्राप्त करिए सम्यग्ज्ञान और करिए सम्यक् साधना तब देखिए इसका चमत्कार !

आनंद ही आनंद !



तीर्थकर-तेज से हारी तेजोलेश्या भी

(गोशालक तथा सर्वानुभूति, सुनक्षत्र, आनंद एवं सिंह अणगार)

चइत्ता भारहं वासं चक्क वट्टिमहिड्डिओ।
संती संतिकरे लोए पत्तो गईमण्णुत्तरं॥

आत्म-बंधुओं !

किसी भी शुभ कार्य को प्रारंभ करने से पहले कार्य की निर्विघ्न सिद्धि की अभिलाषा से प्रभु को स्मरण किया जाता है, ईश्वर की प्रार्थना की जाती है, महापुरुषों का वन्दन-अभिनन्दन किया जाता है—इसी का नाम है मंगलाचरण !

□ गोशालक का प्रसंग और रूढ़ परम्परा

महापुरुषों के स्मरण करने, उनका यशगान करने, उनकी कीर्ति-कथा कहने से कर्मनिर्जरा होती है। उत्कृष्ट रसायन आए (भावों में उत्कृष्टता हो) तो तीर्थकर गोत्र का उपार्जन हो जाता है। आज के प्रवचन में जिन-जिन महामुनिजनों का प्रसंग चलेगा, उनके साथ मंखलिपुत्र गोशालक का प्रसंग भी चलता रहेगा। यह एक रूढ़ परम्परा है कि गोशालक के प्रसंग-कथन का अवसर जब भी आए अवश्यमेव मंगलाचरण हो तथा परिषद् में कोई न कोई तप चल रहा हो।

□ नमो सुयदेवयाए भगवतीए

चातुर्मास के इन पावन दिनों में धर्मसभा में उपस्थित जनों में से अनेक श्रावक-श्राविकाओं के तपस्या चल रही है। मंगलाचरण अभी मैंने बोला, तपश्चरण चल ही रहे हैं अतः विघ्न तो उपस्थित होने का प्रश्न ही कहाँ है ? आज आपके समक्ष आनन्द मुनि, सुनक्षत्र मुनि, सर्वानुभूति मुनि और सिंह अणगार का जीवन-प्रसंग रखा जा रहा है—

गंगदत्त मुनि आनंद, तारण तिरण जहाज।
 मुनि कौशल रोहो, दियो घणा ने साज॥३६॥
 धन्य सुनक्षत्र मुनिवर, सर्वानुभूति अनगार।
 आराधक होई ने, गया देवलोक मंझार॥३७॥
 चवि मुगति जासी, वलि सिंह अनगार।
 बीजा पण मुनिवर, भगवती मा अधिकार॥३८॥

(आधार-भगवतीसूत्र, श. १५)

भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक 'गोशालक-चरित' में इन सभी का वर्णन मिलता है। इस शतक के प्रारंभ में शास्त्रकारों ने विघ्न निवारणार्थ मध्य मंगलाचरण के रूप में श्रुतदेवता को नमन करते हुए लिखा है—“नमो सुयदेवयाए भगवतीए।” भगवती श्रुतदेवता को नमस्कार हो। यहाँ जिनवाणी रूप माता सरस्वती को नमस्कार किया, जिससे वाणी दोष से बचा जा सके।

□ तीर्थंकर महावीर का मासक्षमण-पारणक, विजय गाथापति का उत्कृष्ट भाव से आहारादि दान

मंखलिपुत्र गोशालक भिक्षावृत्ति से जीवन व्यतीत करता हुआ निरन्तर विभिन्न देश-प्रदेश के ग्राम-नगरों में घूमता रहता था। एक समय जब वह चित्रफलक हाथ में लिए राजगृह नगरी के लोगों को चित्रपट-अंकित चित्र दिखाकर आजीविका करता हुआ नगरी के बाहर नालन्दा पाड़ा स्थित जुलाहों की बुनकरशाला में गया तो प्रभु महावीर भी वहीं विराजित थे। भगवान महावीर की दीक्षा का यह दूसरा वर्ष था। प्रभु के मासक्षमण था। पारणे के दिन वे राजगृही नगरी में घूमते हुए विजय गाथापति के घर में प्रविष्ट हुए। विजय गाथापति ने चतुर्विध आहार से प्रतिलाभ लिया, अशन-पानादि बहराते हुए वह अत्यन्त हर्षित, प्रफुल्लित एवं संतुष्ट था। पात्र-शुद्धि, दाता की शुद्धि और द्रव्य-शुद्धि, मन-वचन-काया की शुद्धि, कृत-कारिता- अनुमोदित की शुद्धि के कारण उसने संसार परिमित किया व देवायु का बंध किया। पाँच देव प्रकट हुए। देवों ने दिव्य-वृष्टि करते हुए 'अहोदानं-अहोदानं' का घोष किया।

□ स्वयं दीक्षित गोशालक महावीर के साथ

मंखलिपुत्र गोशालक ने जब यह बात सुनी तो पहले तो उसके मन में संशय फिर कुतूहल उत्पन्न हुआ। तब वह प्रभु महावीर के पास गया और वन्दन-नमस्कार कर बोला—“प्रभु ! मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ।” प्रभु मौन रहे। वे जानते थे कि इसमें शिष्यत्व का खरापन नहीं है। प्रभु ने द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मासक्षमण किया। चतुर्थ मासक्षमण के पारणे हेतु वे निकट के कोल्लाक सन्निवेश में बहुल नामक ब्राह्मण के यहाँ गए। उधर गोशालक ने प्रभु को ढूँढ़ा, जब वे नहीं मिले तो उसने अपने समस्त वस्त्र, पात्र, चित्रपट, खड़ाऊँ आदि ब्राह्मणों को दे दिए। स्वयं का मुंडन कराकर वह भी कोल्लाक सन्निवेश आया। प्रभु से मिला और बोला—“भगवन् ! आप मेरे धर्मगुरु और मैं आपका अन्तेवासी शिष्य हूँ।”

□ मंखलिपुत्र गोशालक प्रभु का अयोग्य शिष्य : मौन ही रहे

बंधुओं ! इस प्रकार गोशालक प्रभु महावीर का प्रथम शिष्य बना। पद-विहार करते हुए किसी समय एक तिल के पौधे की निष्पत्ति के विषय में गोशालक ने प्रभु से प्रश्न किया। प्रभु के दिए हुए तथ्य को झुठलाने के विचार से उसने पौधा उखाड़कर दूर फेंक दिया, किन्तु होनी तो होकर ही रहती है, प्रभु के वचन सत्य सिद्ध हुए। संयोगवश दौड़ती हुई गाय के खुर से उखड़े हुए तिल के पौधे की जड़ पुनः जमीन में धँस गयी और तभी वर्षा हुई, जिससे तिल का वह पौधा जहाँ फेंका गया था, वहीं पुनः जम गया।

भगवान महावीर के मौन रहने का अभिग्रह था, पर तत्त्वचर्चा के लिए भाषा-व्यवहार खुला था। कुछ कथा भाग में उल्लेख मिलता है कि भगवान की सेवा में उपस्थित देव जवाब देता था। अतः उन्होंने गोशालक को सत्य-तथ्य से अवगत करा दिया।

बंधुओं ! इस घटना से यह तो सिद्ध हो ही गया कि मंखलिपुत्र गोशालक एक अयोग्य शिष्य था। तिल के पौधे वाली इस घटना के बाद प्रभु कूर्मग्राम पधारे। उस ग्राम के बाहर वैश्यायन नामक एक बाल-तपस्वी सूर्य के सम्मुख खड़ा हो आतापना ले रहा था। सूर्य की गरमी से तपी हुई जूँ उरुँ उसके सिर से धरती पर गिरती थीं। वह तपस्वी जीव-दया के विचार से बार-बार उन गिरी हुई जूँओं को उठाकर पुनः अपने

मस्तक पर रख रहा था। उसे ऐसा करते देख गोशालक उसके निकट गया और बोला—“आप तपस्वी मुनि हैं या जुँओं के आश्रयदाता ?”

□ तेजोलेश्या से मंखलिपुत्र को प्रभु ने बचाया

तपस्वी ने उसके इस कथन का कोई ध्यान नहीं दिया, तब गोशालक ने दूसरी-तीसरी बार इसी प्रकार कहकर उस तपस्वी को चिढ़ाया। तपस्वी क्रुद्ध हो गया। वह तेजोलेश्या-सम्पन्न था। अतः क्रोधाभिभूत हो उसने गोशालक पर तेजोलेश्या छोड़ दी।

प्रभु ने मंखलिपुत्र गोशालक पर अनुकम्पा के विचार से शीतल तेजोलेश्या बाहर निकालकर उस तेजोलेश्या का प्रतिघात किया। यह सब देखकर, वस्तु-स्थिति समझते हुए वेश्यायन तपस्वी ने अपनी तेजोलेश्या वापस खींच ली। गोशालक के शरीर को तिल मात्र भी पीड़ा नहीं हुई।

□ प्रभु की बताई साधना द्वारा मंखलिपुत्र गोशालक को तेजोलेश्या प्राप्त

इस पर गोशालक ने प्रभु से तेजोलेश्या-प्राप्ति का उपाय पूछा। दयासिंधु प्रभु महावीर ने उपाय बता दिया। गोशालक ने प्रभु के कथन को विधिवत् स्वीकार किया। इसके बाद वह स्वेच्छया प्रभु से पृथक् विचरण करने लगा। प्रभु ने तिल के पौधे की घटना के समय बताया था कि वनस्पतिकायिक जीव परिवृत्य-मरकर परिहार करते हैं, अर्थात् मरकर बार-बार पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु गोशालक ने मिथ्या आग्रह बुद्धि से इस सिद्धान्त को केवल वनस्पतिकाय की जगह सभी जीवों के लिए एकान्त रूप से ‘परिवृत्य-परिहारवाद’ मान लिया और अपनी मिथ्या मान्यता का प्रचार करना प्रारंभ किया। उसका कहना था कि सभी श्रेणी के जीव मर-मरकर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं।

बंधुओं ! उस गोशालक ने भगवान महावीर द्वारा बताई गई विधि से विधिवत् साधना करके छह मास में संक्षिप्त विपुल तेजोलेश्या भी प्राप्त कर ली। अब वह अपने को ‘जिन’ बतलाने लगा, ‘जिन’ नहीं होते हुए भी इस बात का प्रचार करने लगा कि वह ‘जिन’ है। इसी मध्य शोण, कनन्द, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निर्वेश्यायन और गौतमार्जुन—ये छह दिशाचर उसके शिष्य बन गए।

□ क्या गोशालक का अपने आप को केवली-जिन-सर्वज्ञ बताना सत्य है ?

अनेक वर्षों बाद श्रमण भगवान महावीर स्वामी श्रावस्ती पधारे और उनके अन्तेवासी शिष्य गौतम स्वामी बेले के पारणे की गोचरी हेतु जब नगर के ऊँच, नीच, मध्यम कुलों में फिरने लगे तो उन्होंने अनेक लोगों के मुँह से सुना कि गोशालक मंखलिपुत्र कहता है—“मैं ‘जिन’ हूँ, मैं ‘केवली’ हूँ, मैं ‘सर्वज्ञ’ हूँ। उसकी यह बात कैसे मानी जाए ?” इस पर गौतम स्वामी ने प्रभु से इस बात का समाधान माँगा।

भगवान महावीर ने अपने अन्तेवासी गौतम और उपस्थित समस्त जन-समूह को मंखलिपुत्र गोशालक का जन्म से लेकर उनका शिष्य बनने, पृथक् विचरण करने, तेजोलेश्या प्राप्त करने आदि का सम्पूर्ण विवरण बताते हुए कहा—“हे गौतम ! वस्तुतः मंखलिपुत्र गोशालक ‘जिन’ या ‘केवली’ या ‘सर्वज्ञ’ नहीं है। वह प्रलाप करता है और अजिन होते हुए भी अपने आपको जिन बताता हुआ विचरता है।”

□ प्रभु द्वारा गोशालक को अजिन बताए जाने पर गोशालक क्रुद्ध

बंधुओं ! प्रभु के श्रीमुख से निकले इस सत्य-तथ्य को अनेक लोगों के मुँह से जब उस गोशालक ने सुना तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। वह प्रभु का प्रतिवाद करने और उन्हें बदनाम करने की नीयत से अपना साधना-स्थल त्यागकर श्रावस्ती नगर के मध्य में होता हुआ हालाहला कुम्भारिन की बर्तनों की दुकान पर अपने शिष्यों सहित आकर रहने लगा। हालाहला आजीविक मत की अटूट आस्थावान उपासिका थी।

□ महावीर के शिष्य अणगार आनंद और गोशालक

एक दिन श्रमण भगवान महावीर के अन्तेवासी आनन्द नाम के अणगार अपने बेले की तपस्या के पारणार्थ भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए हालाहला कुम्भारिन के बर्तनों की दुकान के निकट से निकले। मंखलिपुत्र गोशालक ने उन्हें जाते हुए देखा तो आवाज देकर अपने पास बुलाया और कहा—“अरे आनंद ! मैं एक विशिष्ट दृष्टान्त तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो।” प्रकृति से भद्र और विनीत आनन्द स्थविर गोशालक द्वारा उच्चरित दृष्टान्त सुनने लगे।

□ अथाह धन के बाद विनाश

गोशालक ने कहा—हे आनन्द ! बहुत पुराने समय की बात है। अनेक वणिक् धनार्जन हेतु किसी अन्य देश में वणिज् करने के विचार से गाड़ियों में माल भरकर निकले। मार्ग में चलते हुए भटककर वे एक गहन अटवी में चले गए। आवागमन रहित लम्बे पथ वाली उस अटवी से बाहर निकलने का कोई रास्ता उन्हें नजर नहीं आता था। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि निरंतर दस-बारह दिन हो गए चलते हुए, पर उस अटवी में कहीं कोई जल-स्रोत नहीं मिला। उनके पास जो पेय जल था पहले का, वह भी पीते-पीते समाप्त हो गया।

भूख तो लम्बे समय तक सहन की जा सकती है पर प्यास को सहना अत्यन्त मुश्किल है। तृषा से व्याकुल वे वणिक् अब पानी की टोह में लग गए। पानी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे अटवी के एक ऐसे भाग में जा पहुँचे जिस स्थान पर हरिताभ वाला एक सुन्दर वनखंड था। सभी वणिक् अत्यन्त हर्षित हुए। एक वणिक् ने कहा—“यहाँ हरियाली है, अतः पानी अवश्य मिलना चाहिए।” तभी दूसरे वणिक् ने एक तरफ संकेत किया और बोला—“देखो, वहाँ एक विशाल दीमक की बाँबी है जिस पर चार शिखर बने हुए हैं। हम इनमें से एक शिखर तोड़कर देखते हैं, हो सकता है उसके नीचे स्वादिष्ट, स्वच्छ, शीतल पेय जल निकल आए।”

सभी ने मिलकर प्रथम शिखर को तोड़ा। उनकी आशा पूरी हुई। स्वच्छ जल उस शिखर के नीचे से निकल आया। सभी ने भर पेट पानी पिया और अपनी प्यास बुझाई। अपने बैलों आदि को पानी पिलाया। साथ में जो पानी के बर्तन थे, उन्हें भी जल से भर लिये। अब विचार आया कि दूसरा शिखर भी तोड़कर देखें तो सही कि उसके नीचे क्या है ? हो सकता है इसके नीचे सोना निकल आए।

हे आनन्द ! उन्होंने उस दूसरे शिखर को तोड़ा तो उन्हें वहाँ शुद्ध स्वर्ण-भंडार मिला। उन सभी के आनन्द का पार नहीं था। उन्होंने अपने सारे वाहन उस स्वर्ण से भर लिये। स्वर्ण से वाहन भरने के पश्चात् उन्होंने फिर आपस में परामर्श किया कि तीसरा शिखर भी तोड़कर देखा जाए। शायद वहाँ स्वर्ण से भी बहुमूल्य रत्नादिक की राशि मिले। तोड़ा गया तीसरा शिखर और वस्तुतः उन्हें महामूल्यवान, निर्मल मणिरत्न प्राप्त हुए। तब उन्होंने अपने वाहनों से स्वर्ण-राशि को खाली किया और अपने बर्तन,

वाहन तथा अन्य ऐसी चीजें जिनमें रत्न भरे जा सकते थे, सभी को उन मूल्यवान रत्नों से भर लिया। एक वणिक् ने कहा—“अरे ! हम इन रत्नों से वाहन लाद तो रहे हैं पर चौथा शिखर भी तो देख लें।” दूसरा बोला—“अरे ! अब इतने मूल्यवान रत्नों से अधिक वहाँ क्या होगा ? कहीं ऐसा न हो कि किसी के शिकार बन जाँँ और जो कुछ पाया है, उसे भी खो बैठें।” तीसरा बोला—“किन्तु यदि इनसे भी अधिक मूल्यवान वज्ररत्नादि प्राप्त हो जाँँ तो !” चौथे ने कहा—“देखने में क्या आपत्ति है ?” अब सभी वणिक् उस चौथे शिखर को भी तोड़ने के लिए सहमत हो गए। दूसरे वणिक् की हितकारी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

चतुर्थ शिखर भी तोड़ डाला गया। हे आनन्द ! उस शिखर के टूटते ही एक काला, लम्बा-चौड़ा भयंकर दृष्टिविष सर्प निकला। फुफकारते हुए उस दृष्टिविष सर्प ने पहले दीप्तिमान सूर्य को देखा फिर दूसरे वणिक् को छोड़कर शेष तीन वणिकों पर दृष्टि प्रहार किया। तीनों वणिक् वहीं तुरंत जलकर राख बन गए। हितैषी वणिक् पर अनुकम्पा कर उस दृष्टिविष सर्प ने उसे सभी वाहनों सहित उसके नगर में पहुँचा दिया।

□ महावीर की अथाह प्रसिद्धि, पर अब मैं उनका विनाश करूँगा

कथानक की समाप्ति करते हुए गोशालक ने कहा—“हे आनन्द ! इन वणिकों की तरह तुम्हारे गुरु महावीर ने भी बहुत यश, कीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि अर्जित कर ली है। अब लोभवश यदि वह अधिक प्रसिद्धि, यश, कीर्ति प्राप्ति हेतु मेरे विषय में कुछ भी कहेंगे तो मैं भी उस सर्पराज की तरह उन्हें और उनके शिष्यों को अपने तप और तेज से एक ही प्रहार में भस्मीभूत कर दूँगा। हे आनन्द ! जिस प्रकार सर्पराज ने उस हितैषी वणिक् की रक्षा की, वैसे ही मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, क्योंकि तुम मेरी बात उन तक पहुँचा रहे हो।”

□ सर्वज्ञ महावीर द्वारा अणगार आनंद को समाधान

आनंद स्थविर मन-ही-मन आशंकित व भयभीत हुए। वे त्वरित गति से चलकर प्रभु के पास आए। उन्होंने सम्पूर्ण घटना, गोशालक का सम्पूर्ण कथन प्रभु को कह सुनाया और पूछा—“भगवन् ! गोशालक का इस प्रकार कहना मात्र अहंकारवश है अथवा वह ऐसा करने में समर्थ भी है ?” प्रभु ने बताया—“वह समर्थ है। वह भस्म

करने की शक्ति रखता है, पर वह अरिहन्त तीर्थकर भगवतों को जलाकर भस्म करने में समर्थ नहीं है। इस पर भी वह उन्हें संताप दे सकता है।”

प्रभु ने आनंद अनगार से कहा—“हे आनंद ! तुम जाकर गौतमादि सभी श्रमणवृंद को सूचित कर दो कि वे अभी मंखलिपुत्र गोशालक के साथ किसी भी प्रकार की धर्मचर्चा विशेषकर धर्ममत-प्रतिकूल विचारों पर कोई प्रतिवार्ता न करें, क्योंकि वह अत्यन्त मिथ्यात्वी एवं संत-द्वेषी बन चुका है।” आनंद मुनि ने सभी श्रमणों को प्रभु का आदेश बता दिया। प्रभु जानते थे कि अभी गोशालक के साथ संभाषण भी किया जाएगा तो परीषह उपस्थित हो जाएगा।

□ गोशालक का महावीर के निकट असत्य माया-कथन

गोशालक ने भी सुना कि श्रमण महावीर ने मेरे लिए सभी श्रमणों को ऐसा आदेश दिया है। वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि महावीर मेरे ज्ञान और तप का लोहा मान गए हैं। वह भगवान महावीर के पास आया और बोला—“आप सत्य कहते हैं कि गोशालक आपका धर्मशिष्य है, पर मैं वह गोशालक नहीं हूँ जो आपका अन्तेवासी था। वह तो पवित्र परिणाम वाला होकर काल के समय काल करके देवलोक में देव बन गया है। मैं तो कौण्डिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ। मैंने गौतमार्जुन के शरीर का त्याग किया, फिर मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। यह मेरा मरकर पुनः सातवीं बार किसी अन्य शरीर में प्रवेश हुआ है।”

गोशालक ने अपने स्वरूप को छिपाने व झुठलाने हेतु अपनी परिवृत्त-परिहार की मिथ्या मान्यतानुसार प्रभु के समक्ष अपने सात शरीरान्तर प्रवेश की प्ररूपणा की। इस पर प्रभु ने कहा—“हे गोशालक ! तेरा कथन सत्य नहीं है। तू वही मेरा अन्तेवासी मंखलिपुत्र गोशालक ही है, पर तू अपने आप को अन्य बता रहा है जो उचित नहीं है। तू वही है, जिसे मैंने बहुश्रुत बनाया, आगमज्ञान दिया और संयम-साधना सिखाई।”

□ कुपित गोशालक को सर्वानुभूति का सम्बोधन

यह सब सुनकर गोशालक अत्यन्त कुपित हुआ। उसने समवसरण के मध्य ही अनेक तरह के अनर्गल वचन प्रभु को कहे और प्रभु को धमकी दी कि आज तुम जीवित नहीं बचोगे।

उस समय प्रभु के पूर्व देश में जन्मे शिष्य सर्वानुभूति अनगार परिषदा में बैठे इन वचनों को सुन रहे थे। प्रकृति से भद्र एवं विनीत सर्वानुभूति मुनि ने अपने धर्माचार्य के प्रति अनुरागभाव प्रकट करते हुए गोशालक से कहा—“हे गोशालक ! जिनके दर्शन मात्र से धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, जिनका धर्मोपदेश सुनकर आत्म-कल्याण की भावना पैदा होती है, उन प्रभु महावीर ने तुम्हें आगमज्ञान दिया, व्रत और आचार रूप साधना सिखाई, तुम्हें शिक्षा दी, ऐसे उपकारी भगवान के प्रति तुम कैसा अनर्गल प्रलाप कर रहे हो ? यह उचित नहीं है। तुम प्रभु के वही शिष्य गोशालक हो। अतः उन्हें वन्दन-नमन कर उनके चरणों की शरण ग्रहण करो।”

□ तेजोलेश्या-प्रहार से सर्वानुभूति और सुनक्षत्र अणगार को गोशालक ने भस्म किया

गोशालक तो यह सब सुनकर आगबबूला हो गया। उसने साधना से प्राप्त अपनी तेजोलेश्या का एक ही प्रहार कर सर्वानुभूति अणगार को वहीं भस्म कर दिया। इसी भाँति गोशालक द्वारा पुनः अनर्गल प्रलाप करने और यह कहने पर कि महावीर ! आज तुम जीवित नहीं रहोगे, कौशल जनपदीय में उत्पन्न सुनक्षत्र नामक अनगार ने भी सर्वानुभूति अणगार की भाँति ही अपने धर्माचार्य के प्रति अनुराग प्रकट करते हुए वही सब कुछ कहा जो सर्वानुभूति अनगार ने कहा था। गोशालक फिर अति कुपित हुआ। उसने दूसरी बार अपने तपःतेज (तेजोलेश्या) का प्रहार किया और सुनक्षत्र मुनि को भी सर्वानुभूति मुनि की तरह ही परितापित कर दिया। जलते हुए उन मुनिवर ने प्रभु को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमन किया। उनकी साक्षी से स्वयमेव पंचमहाव्रतों का आरोपण किया। सभी श्रमण-श्रमणियों से क्षमा-याचना की। आलोचना और प्रतिक्रमण करके वे समाधि को प्राप्त करते हुए कालधर्म को प्राप्त हुए।

□ प्रभु पर तेजोलेश्या : प्रभु अप्रतिहत

इसके पश्चात् भगवान महावीर ने गोशालक को समझाते हुए कहा—“हे गोशालक ! तू जो कुछ कर रहा है, वह धर्म-विरुद्ध है। याद कर, मैंने तुझे शिक्षित किया, ज्ञान दिया, बहुश्रुत बनाया, साधना के विभिन्न चरण सिखाए और आज तू मिथ्यात्वी बनकर अपने मिथ्याचार का निशाना मुझे ही बना रहा है ? गोशालक ! तेरा ऐसा करना उचित नहीं है। अतः तू ऐसा मत करा।”

भगवान के इस उपदेश का उस मिथ्यात्वधारक गोशालक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह तो पुनः अत्यन्त कृपित होकर श्रमण भगवान महावीर का अनिष्ट करने को तत्पर हो गया। उसने अपने शरीर से तेजोलेश्या निकाली और उसे प्रभु की ओर प्रेषित किया। वह तेजोलेश्या प्रभु को लेश मात्र भी क्षति नहीं पहुँचा सकी। उसने दाहिनी ओर से प्रभु की प्रदक्षिणा की, फिर वह ऊपर आकाश में उछली और फिर लौटकर नीचे गिरी। तब वह तेजोलेश्या गोशालक की दिशा में गई और उसके शरीर को बार-बार जलाती हुई अन्त में उसी के शरीर में प्रविष्ट हो गई।

□ गोशालक का अनर्गल प्रलाप

अपनी ही तेजोलब्धि से पराभूत गोशालक तब क्रुद्ध हो कहने लगा—“हे काश्यप ! तुम मेरी तेजोलब्धि से पराभूत होकर पित्त-ज्वर से ग्रस्त बनोगे और दाह-ज्वर पीड़ा से छह माह में छद्मस्थ अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त कर जाओगे। मैं जिन हूँ, तीर्थकर हूँ, केवली हूँ। तुम छद्मस्थ हो, छद्मस्थ ही मरोगे। जिन नहीं हो, जिन नहीं बन सकोगे।”

□ प्रभु का गोशालक को उसकी मृत्यु के विषय में कथन

प्रभु ने तब शांत, स्थिर, गंभीर स्वर में उसे कहा—“हे गोशालक ! तुम्हारा यह वचन भी मिथ्या है। मैं छह मास में काल नहीं करूँगा, अपितु अभी सोलह वर्ष पर्यन्त जिन अवस्था में गंध-हस्ती की भाँति सम्पूर्ण जनपदों में विचरण करता हुआ धर्मोपदेश कर जन-कल्याण करूँगा। जहाँ तक तुम्हारा प्रश्न है तो हे मंखलिपुत्र गोशालक ! तुम आज से सातवीं रात्रि के अन्त में अपनी ही तेजोलब्धि से पराभव को प्राप्त कर पित्त ज्वर में अत्यन्त पीड़ा भोगते हुए छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर जाओगे।”

□ सत्यमेव जयते

कहावत है—“सत्यमेव जयते नानृतम्।”—विजय सत्य की ही होती है और वही हुआ भी। गोशालक तो हालाहला कुम्भारिन की दुकान पर चला गया। प्रभु ने अपने सभी श्रमणों से कहा—“देवानुप्रियो ! मैंने तुम्हें उस समय गोशालक से धार्मिक-चर्चा नहीं करने की बात कही थी, जब वह तेजोलेश्या से सम्पन्न था और उसके भीतर इस

बात का अहंकार था। अब उसके सिर से अहंकार का वह भूत उतर चुका है, क्योंकि उसकी तेजोलब्धि नष्ट हो चुकी है। अब तुम उससे धर्मचर्चा कर उसे निरुत्तर कर उसकी मिथ्या मान्यताओं का खंडन कर सकते हो।”

□ आजीवक मतावलम्बी प्रभु के शिष्य बने

प्रभु के इस कथन को सुन अनेक श्रमण जहाँ मंखलिपुत्र गोशालक था, उस हालाहला कुम्भारिन की दुकान पर आते हैं। धर्मचर्चा कर उसकी मिथ्या मान्यताओं का खंडन करते हुए अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण द्वारा उसे निरुत्तर कर देते हैं। गोशालक अत्यन्त कुपित होता है, क्रोध से उसका अन्तर्मन प्रज्वलित हो उठा, पर वह क्या करता ? उन श्रमण-निर्ग्रन्थों का कुछ भी बिगाड़ने में असमर्थ था। सभी लोग जान जाते हैं कि सर्वज्ञ तो प्रभु महावीर ही हैं। जो कुछ प्रसंग घटा, वह प्रभु के जीवन का एक उपसर्ग था, एक परीषह था। गोशालक के अनेक आजीविक स्थविर भी यह सब देख, सुन, समझकर गोशालक को छोड़ प्रभु की शरण में आ जाते हैं और वन्दन-नमन कर उनका आश्रय ग्रहण करते हैं।

□ गोशालक विक्षिप्त

इधर गोशालक की बुरी दशा होती है। वह चारों ओर निराशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है, दीर्घ श्वास-निःश्वास छोड़ रहा है, स्वयं को निःसहाय-सा पाकर मदिरापान करता है, जिससे वह विक्षिप्त-सा हो जाता है। अपनी असफलता से क्रुद्ध बन वह अपने दाढ़ी के बालों को नोंचता है, गर्दन खुजलाता है, कूल्हे को हाथों से थपका देकर आवाजें पैदा करता है। वह दोनों पैरों से भूमि को पीटता है और चिल्लाता है—“ओह ! हाय ! मैं मारा गया।” वह आम्रफल हाथ में लेकर मद्यपान करता है, गाता है, नाचता है, हालाहला कुम्भारिन को बार-बार हाथ जोड़कर प्रणाम करता है, मिट्टी के बर्तन में रखे शीतल जल को अपने शरीर पर छिड़कता है।

कुछ काल पश्चात् छठी रात्रि प्रारंभ होने पर अपना मरण निकट जानकर गोशालक ने अपने साढ़े ग्यारह लाख आजीविक शिष्य-स्थविरों, उपासकों को बुलाया और उन्हें कहा कि जब मैं कालधर्म को प्राप्त करूँ तो ठाट-बाट और सत्कार से मेरी शवयात्रा निकलवाना और उच्च स्वरो में स्थान-स्थान पर यह जरूर प्रचारित करना कि यह

मंखलिपुत्र गोशालक इस अवसर्पिणी काल का अंतिम चौबीसवाँ तीर्थकर होकर सिद्ध हुआ है। गोशालक की इस बात को उसके आजीविक शिष्यों ने बड़े विनय से स्वीकृति प्रदान की।

□ मृत्यु से पूर्व गोशालक के विचारों में आमूल परिवर्तन

जब सातवीं रात्रि व्यतीत हो रही थी, तभी अचानक गोशालक के विचारों में भारी परिवर्तन आया। भावों की सम्यग्धारा बहने लगी, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई। उसे विचार आया—‘मैं जिन नहीं हूँ, तीर्थकर नहीं हूँ, सर्वज्ञ नहीं हूँ। मैंने झूठ-मूठ ही अपने को जिन प्रचारित किया है। मैं श्रमणों का घातक, श्रमण-सिद्धांत विरोधी, आचार्य-उपाध्याय-गुरु-भगवन् का अपयश करने वाला, अवर्णवादकर्ता हूँ। अब मैं तेजोलेश्या से पराभव प्राप्त, पित्त-ज्वराक्रान्त, दाह से जलता हुआ छद्मस्थ अवस्था में ही काल करूँगा। वस्तुतः जिन, केवली, तीर्थकर या सर्वज्ञ तो भगवान महावीर हैं। मैंने उनकी घोर आसातना की है।’

□ सम्यक्त्व प्राप्त कर आत्मालोचन के बाद कालधर्म-प्राप्ति

गोशालक ने अंतिम समय में आत्मालोचन करते हुए अपने पापों का प्रायश्चित्त किया। अपने स्थविरों को बुलाकर जीवनभर के पापों को, अशुभ विचारों व कार्यों को उनके सम्मुख प्रकट किया और कहा—“मैं जिन नहीं हूँ। वास्तव में भगवान महावीर स्वामी ही जिन हैं। अतः मैं जब कालधर्म को प्राप्त करूँ तो मेरे बाएँ पैर को मूँज की रस्सी से बाँधना, मेरी निन्दा करना, मुझे बुरा-भला कहना। मेरे शरीर को राजमार्गों पर घसीटते हुए उच्च स्वरों से उद्घोषणा करना कि यह मंखलिपुत्र गोशालक जिन नहीं था, पर स्वयं को जिन प्रचारित करते विचरा। वास्तव में महावीर स्वामी ही जिन हैं।”

इतना सब कहने के बाद गोशालक कालधर्म को प्राप्त हुआ।

□ प्रभु महावीर को दाह-ज्वर

तदनन्तर तीर्थकर महावीर भी श्रावस्ती नगरी से विहार कर अन्य जनपदों में विचरण करने लगे। जब वे मेंढिक नामक नगर में पहुँचकर ग्राम के बाहर स्थित शालकोष्ठक नामक उद्यान में विराजित हुए, उस समय उनके शरीर में महापीड़ाकारी व्याधि उत्पन्न

हुई, जो पूरे शरीर में जलन उत्पन्न करने वाली अत्यन्त दुःसह थी। पित्त-ज्वर से उनका सारा शरीर दहकने लगा, रक्तयुक्त दस्तें प्रारंभ हो गईं। स्थान-स्थान पर लोगों के समूह प्रभु की इस व्याधि की चर्चा करते हुए कहने लगे—“गोशालक की बात सत्य होती प्रतीत होती है। उसकी तपोजन्य तेजोलेश्या के प्रभाव से महावीर भी पित्त-ज्वर एवं दाह से पीड़ित हो गए हैं। गोशालक के कथनानुसार कहीं छह मास में ही छद्मस्थ अवस्था में प्रभु कालधर्म को प्राप्त न कर लें !”

□ सिंह अनगार का रुदन

प्रभु महावीर के एक अन्तेवासी सिंह मुनि मालुकाकच्छ के निकट तपश्चरण करते हुए विचार रहे थे। लोगों के मध्य हो रही चर्चा सुनकर उन्होंने सोचा—‘मेरे धर्माचार्य अत्यन्त पीड़ा सहन कर रहे हैं। पूर्ण शरीर व्यापी पित्त-ज्वर और दाह का कारण क्या गोशालक की तेजोलेश्या का प्रभाव ही है ? सचमुच क्या वे छह माह में ही काल कर जाएँगे ? अन्य तीर्थिक तब कहेंगे—श्रमण महावीर जिन बनने से पूर्व ही छद्मस्थ अवस्था में काल कर गए।’

इन विचारों ने सिंह मुनि को महान् मानसिक पीड़ा पहुँचाई। मनोगत दुःख से पीड़ित वे सिंह मुनि आतापना भूमि से नीचे उतरे, ग्राम में प्रविष्ट हुए और असह्य पीड़ा को न सह पाने के कारण जोर-जोर से रोने लगे।

तब मेंढिक ग्राम में विराजित प्रभु ने अपने श्रमणों को बुलाया और कहा—“आर्यों ! आज मेरा अन्तेवासी सिंह अनगार मेरे रोग, मेरी पीड़ा, मेरी दाह-स्थिति तथा छद्मस्थावस्था में छह माह की अवधि में मेरा मरण जानकर जोर-जोर से रुदन कर रहा है। अतः हे आर्यों ! तुम जाओ और सिंह अनगार को यहाँ बुला लाओ।”

अनेक श्रमण तब प्रभु को वन्दन कर वहाँ से पद-विहार करते मालुकाकच्छ पहुँचे और सिंह अनगार को कहा—“हे सिंह ! धर्माचार्य तुम्हें बुलाते हैं।”

सिंह अनगार उन श्रमणों के साथ अपने धर्माचार्य के चरणों में उपस्थित हुआ। उसने प्रभु को विधियुक्त वन्दन किया। प्रभु ने सिंह अनगार के चिन्तन, चिन्ता और फूट-फूटकर रोने की बात उसको बताई तो सिंह अनगार ने कहा—“प्रभु ! आप सत्य फरमाते हैं।”

□ प्रभु का आश्वासन-रेवती के घर से बिजौरापाक लाने का आज्ञा-निर्देश

तब प्रभु ने सिंह अनगार को आश्वस्त करते हुए कहा—“गोशालक की तेजोलेश्या द्वारा पराभूत होकर मैं छह मास में काल नहीं करूँगा, अपितु हे सिंह ! मैं अभी साढ़े पन्द्रह वर्ष तक तीर्थकर के रूप में गंध-हस्ती की भाँति विभिन्न जनपदों में विचरण कर धर्म की ज्योत जलाऊँगा। तुम मेरे रोग या दाह की चिन्ता न करो। हे सिंह ! इसी मेंढिक ग्राम में रेवती नाम की गाथापत्नी रहती है। वह जिनोपासिका, श्रमणोपासिका एवं आढ्य और अपराभूत है। उस रेवती गाथापत्नी ने कोहले के दो फल संस्कारित कर, उनका पाक बनाकर मेरे लिए रखा है। चूँकि वह मेरे निमित्त से तैयार किया गया है। अतः मेरे लिए ग्राह्य नहीं है, किन्तु उसके यहाँ अश्वों के शरीर में उत्पन्न वायु-रोग को शांत करने निमित्त कल ही जो बिजौरापाक तैयार किया गया है, वह मेरे लिए ग्राह्य है और उपयोगी भी है। हे सिंह ! तुम उसके घर जाओ और वह बिजौरापाक ले आओ।”

□ प्रभु के निमित्त तैयार फल कल्पित नहीं

प्रभु का आदेश पाकर सिंह मुनि रेवती गाथापत्नी के घर गए। वहाँ उन्होंने कोहले के संस्कारित फलों का पाक लेने से इनकार करते हुए बताया कि यह प्रभु के निमित्त तैयार किया गया है, अतः ग्राह्य नहीं है। कल जो बिजौरापाक तैयार किया गया है, उसे बहराने का लाभ ले सकती हो, क्योंकि वह श्रमण-गवेषणा के अनुसार ग्राह्य भी है और प्रभु के प्रयोजन में आने वाला भी है।

□ रेवती द्वारा बिजौरापाक बहराना : देवायु का बंध

रेवती ने तब पूछा—“हे श्रमण ! किस ज्ञानी व तपस्वी ने मेरे अन्तर् की यह रहस्यमय बात जान ली कि मैंने प्रभु के लिए कोहले के पाक का निर्माण किया है ?”

सिंह अनगार ने कहा—“प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे सब जानते हैं। उन्होंने मुझे कहा। अतः मैंने भी जान लिया।”

रेवती गाथापत्नी ने तब श्रद्धा-भक्तिपूर्ण भाव से हर्षित-प्रफुल्लित मन से बिजौरापाक मुनि के पात्र में सम्यक् प्रकार से बहरा दिया।

देने वाले की उत्कृष्ट-शुद्ध भावना, लेने वाले निर्ग्रथ अतः श्रेष्ठ पात्र और दी जानी वाली वस्तु भी सम्यक् शुद्ध। इस श्रेष्ठ दान के परिणामस्वरूप रेवती गाथापत्नी ने देवायु का बंध किया। उसका जन्म और जीवन सफल हुआ।

□ प्रभु की व्याधि शांत

सिंह अनगार उस बिजौरापाक को लेकर प्रभु के पास आए, जिसे सेवन करने से प्रभु का महापीड़ाकारी वह रोगातंक तुरंत ही शांत हो गया। प्रभु स्वस्थ हुए, रोगमुक्त हुए, बलिष्ठ हुए। प्रभु को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट देख और जानकर समस्त श्रमण-श्रमणी वर्ग व श्रावक-श्राविकावृंद भी हर्षित, आनंदित, प्रफुल्लित हुए।

□ चारों अणगार मुक्ति प्राप्त करेंगे

प्रभु के स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करने पर गौतम स्वामी ने सर्वानुभूति अनगार व सुनक्षत्र अनगार जो मंखलिपुत्र गोशालक की तेजोलेश्या के प्रहार से मरण-धर्म को प्राप्त हुए थे, उनके मरणोपरांत जीवन, गति, मुक्ति के बारे में जिज्ञासा प्रस्तुत की।

प्रभु ने कहा कि सर्वानुभूति अनगार तो मरकर सहस्रारकल्प देवलोक में अठारह सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए हैं तथा सुनक्षत्र मुनि अच्युतकल्प में बाईस सागरोपम स्थिति के देव बने हैं। ये दोनों ही अपने-अपने देवभव की स्थिति पूर्ण करेंगे, तब च्यवकर महाविदेह में जन्म लेकर मुक्त होंगे, सर्वदुःखों का अंत करेंगे।

आनंद मुनि और सिंह अनगार भी यथासमय सर्वकर्म क्षय कर जीवन के चरम व परम ध्येय अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर संसार-परिभ्रमण रूप दुःख का अंत करेंगे।

□ गोशालक के भावी भव

गौतम स्वामी ने प्रभु से जिज्ञासावश जब गोशालक के बारे में यही प्रश्न किया तो प्रभु ने बताया कि गोशालक ने अंतिम समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति की, आराधक-भावना में रहते हुए शुभ भावों में कालधर्म करने से वह भी अच्युत देवलोक में उत्पन्न हुआ।

अच्युत देवलोक की स्थिति क्षय कर गोशालक का जीव भरतक्षेत्र के शतद्वार नगर में महापद्म राजा बनेगा। उस भव में वह सुमंगल अनगार को तीन बार तीव्र पीड़ा पहुँचाएगा। अतः उनके कोप का शिकार बनेगा और उनकी तेजोलेश्या के प्रहार से जलकर भस्म होगा।

जहाँ से गोशालक का जीव क्रमशः अधःसप्तम पृथ्वी (नरक), मत्स्य, सातवीं नरक, मत्स्य, छठी नरक, स्त्री-भव, छठी नरक, स्त्री-रूप, पंचम नरक, उरपरिसर्प, पंचम नरक, उरपरिसर्प, चौथी नरक, सिंह, चौथी नरक, सिंह, तीसरी नरक, पक्षी, तीसरी नरक, पक्षी, दूसरी नरक, सरीसृप, दूसरी नरक, सरीसृप, प्रथम नारकी, संज्ञी जीव, असंज्ञी जीव, प्रथम नारकी के भव करके अनेक लाख बार खेचर जीव बनेगा। फिर अनेक लाख बार भुजपरिसर्प जीवों के भव करेगा, अनेक लाख बार उरपरिसर्प जीवों के भव करेगा, अनेक लाख बार चतुष्पद जीवों की श्रेणी में जन्मेगा, अनेक लाख बार जलचर जीवों की योनि भोगेगा, अनेक लाख बार चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय की जीव-श्रेणियों में पुनः-पुनः उत्पन्न होगा, पुनः-पुनः मरेगा और सर्वत्र शस्त्र से मारा जाएगा या दाह-वेदना से काल करेगा।

प्रभु गौतम से कहते हैं कि हे गौतम ! वह इसी तरह अनेक लाख बार वनस्पति के भेदों में जीवन-यापन करेगा, वायुकायिक जीवों, तेजस्कायिक जीवों, अप्कायिक जीवों, पृथ्वीकायिक जीवों के प्रत्येक भेद में होता हुआ प्रत्येक काय में लाखों बार जन्म-मरण करेगा। बदतर जीवन में रहते हुए सर्वत्र शस्त्र से मारा जाएगा।

इतने भव करने के पश्चात् एक बार राजगृह नगर के बाहर और दूसरी बार राजगृह नगर के भीतर वेश्या के रूप में उत्पन्न हो जीवन बिताएगा। यहाँ भी उसका शस्त्र से वध ही होगा। फिर भरतक्षेत्र के बेभेल ग्राम में ब्राह्मण-कुल की बालिका बनेगा, माता-पिता द्वारा बेचा जाएगा, क्रेता द्वारा पत्नी के रूप में अत्यन्त गुप्त रखा जाएगा, गर्भवती होकर पीहर जाते हुए दावाग्नि से पीड़ित बन कालधर्म प्राप्त कर अग्निकुमार देव के रूप में उत्पन्न होगा।

इस तरह गोशालक का जीव स्त्री-भव बिताकर, देव-भव से च्यवकर मानव शरीर प्राप्त करेगा, सम्यक्त्वी बन अनगार बनेगा पर विराधक बनकर असुरकुमार देव होगा। वहाँ से च्यवकर पुनः मनुष्य-भव में सम्यक्त्व प्राप्त कर अनगार बन विराधक होकर नागकुमार बनेगा। इसी तरह एक-एक मनुष्य-भव, उसमें अनगार बन, विराधक हो सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार-इन नौ भवनपति देवता का जन्म बिताकर फिर मानव-भवों में अनगार बन विराधक हो मरकर ज्योतिषी देव बनेगा।

□ भावचारित्र बिना सद्गति नहीं

बंधुओं ! प्रभु ने बताया कि सम्यक्त्वी बनकर, अणगारधर्म ग्रहण करके भी जो केवल द्रव्य-चारित्र का पालन करता है, भाव-चारित्र की साधना नहीं करता तो उसे सद्गति नहीं मिलती, निम्न गति ही मिलती है।

यहाँ से आगे गोशालक का जीव मानव-भव पाकर सम्यक्त्वी बन, अनगारधर्म स्वीकार कर चारित्र का पालन करता हुआ आराधकपने में कालधर्म प्राप्त करेगा और सौधर्मकल्प देव के रूप में उत्पन्न होगा। इसी प्रकार एक-एक मानव-भव प्राप्त कर अनगार बनता हुआ आराधकपने में काल करता हुआ वह ईशानकल्प, सनत्कुमार कल्प, ब्रह्मलोक, महाशुक्र, आनत और आरण देवलोकों में एक-एक देव-भव करेगा।

□ धार्मिक व धर्म की निन्दा-विकथा से भव-भ्रमण

इसके पश्चात् मानव-भव प्राप्त कर, चारित्रधर्म अंगीकार कर, आराधकपने में संयम-जीवन बिता कालधर्म प्राप्त कर गोशालक का जीव सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से अनंतर च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में आढ्यादि उत्तम कुल में पुरुष रूप में उत्पन्न होगा, वैराग्य प्राप्त कर संयम लेगा, चारित्रधर्म का उत्कृष्ट पालन कर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करेगा। यहाँ उनका नाम दृढप्रतिज्ञ होगा। गोशालक का यह दृढप्रतिज्ञ रूप जीव केवली बनने के पश्चात् अपने अतीतकाल को उपयोगपूर्वक देखकर श्रमणों से कहेगा—“हे आर्यों ! मैं चिरकालपूर्व मंखलिपुत्र गोशालक था। श्रमणधर्म व श्रमणों पर आघात करने, उनका घात करने से छद्मस्थ अवस्था में ही मैंने कालधर्म को प्राप्त किया। उसी महापापकर्म के कारण मैं अनादि-अनंतकाल तक, अर्थात् अब तक चार गति रूप संसार-सागर में डूबता-गोते खाता रहा। अतः हे आर्यों ! तुममें से कोई भी कभी भी भूलकर भी आचार्य, उपाध्याय, श्रमण के विरोध में प्रचार मत करना, उनकी निन्दा-विकथा मत करना, उनका अवर्णवाद मत करना; अन्यथा तुम भी इस संसार के महारण्य में अनंतकाल तक भटकते-परिभ्रमण करते रहोगे।”

हे गौतम ! दृढप्रतिज्ञ के रूप में गोशालक का जीव अनेक वर्षों तक केवली-पर्याय का पालन कर काल के समय कालधर्म को प्राप्त करेगा और सर्व दुःखों का अन्त जहाँ है, उस शाश्वत सुखरूप मोक्ष में जाएगा।

□ श्रद्धा-भक्ति भाव जाग्रत करिए

बंधुओं ! धर्म की विराधना और धर्मीजन की आसातना का फल महाकष्टदायक, संसार- परिभ्रमण को अनंतकाल तक बढ़ाने वाला होता है। अतः निन्दा-विकथा छोड़कर ज्ञान और ज्ञानियों की, दर्शन और दर्शनियों की श्रद्धापूर्वक भक्ति करें। तात्पर्य यह कि यदि आप गुरु, आचार्य, उपाध्याय, श्रमण आदि की आसातना से बचने का प्रयत्न करेंगे तो आपका स्थान महापुरुषों की श्रेणी में निश्चित है।

□ बीजा पण मुनिवर भगवती मां अधिकार

आज जो विवरण आपने सुना, 'बड़ी साधु वन्दना' में उन महापुरुषों को भाववन्दन करते हुए पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी म. सा. ने गाथा के अन्त में "बीजा पण मुनिवर भगवती मां अधिकार" कहकर भगवतीजी में अन्य भी जिन-जिन मोक्ष-प्राप्त अथवा मोक्षगामी महानात्माओं का उल्लेख है, उनको भी स्मरण कर भाव-वन्दन किया है। उत्तराध्ययन व भगवतीजी के पश्चात् आगे की कड़ियों में ज्ञाताधर्मकथांग में आए हुए मुक्ति-प्राप्त अथवा मुक्तिगामी महापुरुषों का प्रसंग है। इनका विवरण आपको प्रवचन की आगामी कड़ियों में सुनने को मिलेगा।

आनंद ही आनंद !

□□

वीर पै व्रत लेइने—बांधी तपनी तेग

(मुनि मेघकुमार)

आयावयाही चय सोगुमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥

आत्म-बंधुओं !

महानात्मा, परम कल्याणकारी तीर्थंकर भगवन्तों की वाणी आपको बता रही है कि कैसे आप अपना दुःख दूर करें और लोक-परलोक में सुख को कैसे प्राप्त करें ?

बंधुओं ! यह इस जगत् का सार्वभौमिक सार्वकालिक नियम है कि प्राणिमात्र सुख की चाहना करता है, दुःख कोई नहीं चाहता। पर सुख चाहने वाला प्राणी यह नहीं जानता कि वास्तविक सुख क्या है ? अतः दुःख को ही सुख मान बैठता है। उसकी इस मान्यता के पीछे उसकी अज्ञानता है। जब तक सम्यग्ज्ञान-दर्शन जीव को प्राप्त नहीं होता, वह दुःख को सुख मानता रहेगा और वास्तविक सुख से दूर होता जायेगा।

□ अज्ञान दुःख-रूप है

एक चूहा भूखा है। रोटी के टुकड़े या अनाज के दानों के लिए वह पराक्रम फोड़ता है, जी-तोड़ मेहनत करता है, लकड़ी के कपाटों को काटकर दरवाजे से अन्दर प्रवेश कर जाता है। उसके लिए भूख मिटाना ही एक मात्र सुख है। क्यों है ऐसा ? स्पष्ट है, उसके पास इससे अधिक ज्ञान नहीं है। उसका ज्ञान पेट तक ही सीमित है, ठेट की बात वह क्या जाने ? कभी-कभी वह नादानी में सर्प की टोकरी को काट बैठता है और परिणामस्वरूप काल का ग्रास बन जाता है। कारण ? नादानी, नासमझी, अज्ञानता।

□ दुःख को सुख मानना ही अज्ञान है

क्रिया कोई भी हो, जब तक उसके साथ सम्यग्ज्ञान का जुड़ाव नहीं होता, तब तक वह सुख नहीं दे सकती। वह या तो दुःख देगी या सुखाभास करवा देगी और मूर्ख प्राणी उसी में सुख मान बैठेगा। प्रभु कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान से युक्त यदि क्रिया नहीं है तो सुख के बजाय दुःख का कारण बनती है, संसार-परिभ्रमण को घटाने की बजाय बढ़ाती है।

□ कैसे हो दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति ?

शिष्य गुरु के सम्मुख जिज्ञासा रखते हैं कि हे भगवन् ! दुःख का नाश कैसे करें और सुख की प्राप्ति कैसे हो ? इस पर गुरु ने जो कहा उसका उल्लेख दशवैकालिकसूत्र के द्वितीय अध्ययन 'सामण्य पुव्वयं' अर्थात् 'श्रामण्यपूर्वक' में वर्णित है। वही पाँचवीं गाथा अभी-अभी मैंने आपको सुनाई थी। गाथा का तात्पर्य है—

आतापना लेने अर्थात् अपने आप को अच्छी तरह से तपाने, सुकुमारता का त्याग करने और विषय-वासनाओं को छोड़ने से सारे कष्टों का अन्त अवश्य होता है। वास्तविक सुख-प्राप्ति के लिए द्वेष-भाव का त्याग करना होगा, राग-भाव को नष्ट करना होगा, तभी शाश्वत सुख की प्राप्ति कर जीव इहलोक व परलोक में सच्चा सुखी बन सकेगा।

□ दूर के ढोल सुहावने

गुरु ने कहा शिष्य को, जो कुछ कहा गया आप सभी ने भी सुना, पर सुनने के बाद कुछ कर दिखाने की बात आती है तो आपके चेहरे की रंगत बदल जाती है। ये ढोल तो दूर से ही सुहावने लगते हैं। न शरीर का ममत्व छूटता है, न परिवार-धन्धे से मोह घटता है। जीव दिन-ब-दिन माया के व्यामोह व स्वजन-परिजन के मोह में फँसता ही चला जाता है। गुरु कहते हैं—“बचो इनसे, त्यागो इन्हें।” पर गुरु की कौन माने ? ज्यादा कहें तो फट से जवाब मिल जायेगा—“बाबजी ! आप तो महान् त्यागी हो, म्हानें म्हाणां रास्ता पर चालण दो।”

□ इस तरह कैसे चलेगी यह गाड़ी ?

बंधुओं ! धर्म की नाव, तप और त्याग की गाड़ी, संयम और आचार का वाहन ऐसे कैसे चलेगा ? आप शरीर की सुकुमारता त्याग नहीं सकते। थोड़ा-सा परीषह आए

तो आप उसे सह नहीं सकते। व्रत-प्रत्याख्यान से दूर भागते हैं और लिहाजवश ले भी लेते हैं तो अतिचार लगा देते हैं। उन अतिचारों का प्रतिक्रमण नहीं करते, प्रायश्चित्त नहीं लेते, परिमार्जन कर पुनः उनमें स्थिर नहीं होते, दृढ़तापूर्वक उनको पालने की दृढ़-संकल्पना नहीं बनाते तो दुःख कैसे नष्ट होंगे, सुख कैसे मिल पायेंगे ?

□ ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के प्रेरक महापुरुष

जिनवाणी श्रवण का सुफल यह होना चाहिए कि धन, परिवार, वैभव, अपनी बात, अपने मान-सम्मान के प्रति आप में जो राग-भाव है, वह नष्ट हो। जब तक यह राग-भाव और इसके साथ रहा हुआ द्वेष-भाव मिटेगा नहीं, तब तक सुख-प्राप्ति की आशा एक दुःस्वप्न की तरह है। चल रहा है उन महापुरुषों का वर्णन 'बड़ी साधु वन्दना' के माध्यम से जिन्होंने तप और त्याग द्वारा, संयम और सदाचार द्वारा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (क्रिया) द्वारा राग-द्वेष का त्यागकर, सर्व दुःखों का अन्त किया और शाश्वत सुखों की प्राप्ति की। सम्यक् साधना में आए उपसर्गों एवं परीषहों को समभावपूर्वक सहन कर संसार को परित्त किया, मोक्ष मिला या एकभवावतारी बने। उत्तराध्ययन एवं भगवतीजी में वर्णित उन महानात्माओं के जीवन-प्रसंगों के बाद अब ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित महापुरुषों के प्रेरक प्रसंग पर चिन्तन करें।

श्रेणिक नो बेटो, मोटो मुनिवर मेघ।

तजी आठ अंतेउर, आण्यो मन संवेग॥३६॥

वीर पै व्रत लेइने, बांधी तपनी तेग।

गया विजय विमाने, चवि लेसे शिव-वेग॥४०॥

□ श्रेणिक-पुत्र मेघकुमार

मेघकुमार मगध के राजा श्रेणिक का पुत्र था। दीक्षा के पश्चात् प्रथम रात्रि में ही वह प्राप्त कष्ट से घबरा गया। हुआ यह कि उसे सोने के लिए जो स्थान मिला, वह सन्तों के आने-जाने के बीच में पड़ता था। अतः अन्य सन्त जनों के बार-बार आने-जाने से, उनके पैरों का मेघ के शरीर से स्पर्श होने से तथा उन पैरों की ठोकड़ें लगने से वह रातभर नींद नहीं ले सका, उसका धैर्य समाप्त हो गया, मन विचलित हो गया, संयम के साधनामय जीवन में आगे बढ़ने की जगह वह पीछे हटने की बात सोचने लगा।

प्रातःकाल होने पर प्रभु ने उसकी मनोदशा को जान, मनोगत भावों को समझ उसे उसके पूर्वभव का प्रसंग सुनाया और बताया कि मेरुप्रभ हाथी के भव में दो दिन और तीन रात तक एक खरगोश का जीवन बचाने के लिए किस तरह उसने अपना एक पैर ऊपर अधर रखते हुए तीन पैरों पर ही अपने विशाल भारी-भरकम शरीर को टिकाए रखा। तिर्यञ्च के भव में भी इतना कष्ट सहन किया तो अब मानव-भव में इस जरा-से कष्ट से घबराना क्या ? साधक की साधना में ऐसे कितने ही कष्ट आ सकते हैं, ये कष्ट साधना को परिपक्व और जीवन को पवित्र बनाते हैं।

प्रभु द्वारा अपने पूर्वभव का विवरण सुन श्रमण मेघ का हृदय पुनः साधना के लिए सुस्थिर हो गया और वह साधक जीवन में आने वाले कष्टों से जूझने, संघर्ष करने के लिए कटिबद्ध हुआ।

बंधुओं ! मेरुप्रभ हाथी ने खरगोश पर दया की, अनुकम्पा की। उसके जीवन को बचाने के लिए स्वयं इतना कष्ट सहा कि मृत्यु के मुख में जा पहुँचा। जैनधर्म में ही नहीं, संसार के प्रत्येक धर्म में जीवदया को सर्वश्रेष्ठ धर्म समझा जाता है। उत्कृष्ट भावना के साथ की गई जीवदया संसार को परित्त करती है।

□ अध्ययन के पठन-पाठन का सुफल

श्रेणिक-पुत्र मेघकुमार का विवरण ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में आया है। इस अध्ययन का पठन-पाठन एवं श्रवण, मनन-चिन्तन बड़ा शुभ फल देता है। ज्ञानियों ने बताया है कि अकाल की छाया हो, वर्षा के बिना जन-जीवन संकट में पड़ा हो, पानी के अभाव में हाय-त्राय मची हुई हो, ऐसे समय में उपवास या आयम्बिल व्रत लेकर इस अध्ययन का पाठ प्रारम्भ किया जाए और सात दिन तक, प्रतिदिन सात-सात बार इस अध्ययन का वाँचन हो तो वर्षा हो जाती है, अकाल दूर होता है, जन-जीवन में हर्ष की लहर छा जाती है। यह तो लौकिक फल है, लेकिन लोकोत्तर फल तो मेघकुमार की भाँति संयम में दृढ़ता लाकर साधक का उपसर्गों एवं परीषहों को सहन कर अपना संसार परिभ्रमण सीमित करना है।

□ महारानी धारिणी का स्वप्न-दर्शन

मेघकुमार जब महारानी धारिणी के गर्भ में आए तब धारिणी रानी ने स्वप्न में एक विशालकाय श्वेत हस्ती को आकाश से उतरकर अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा।

□ क्यों आते हैं स्वप्न ?

सपने आप भी देखते हैं, पर बहुत ही विरले व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें शुभ स्वप्न आते हैं। स्वप्न हमेशा अर्द्ध-निद्रित अवस्था में, जब न प्रगाढ़ निद्रा हो न ही जाग हो—ऐसे समय आते हैं। जैनदर्शन में स्वप्न आने का कारण मन में राग और द्वेष का स्पन्दन है। इन्द्रियाँ सो जाती हैं, पर संकल्प-विकल्प एवं विषयोन्मुखी वृत्तियों की प्रबलता का स्वभाव होने से मन की वृत्तियाँ चलती रहती हैं। ऐसे समय में अनेकानेक विषयों के चिन्तन की जो छायाएँ सुषुप्त अवस्था में चित्रपट पर चलते चित्रों की भाँति दिखाई देती हैं, वे ही स्वप्न कहलाती हैं।

□ सपनों का सच होना

बंधुओं ! यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ एवं तन्दुरुस्त हो और मन पूर्णतया शान्त हो तो स्वप्न हमेशा शुभ ही होते हैं, पर ऐसे स्वप्न बहुत कम आते हैं। ऐसे स्वप्न जब आते हैं तो वे जीवन में शुभ घटित होते हैं, श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

□ स्वप्न-समय और शुभाशुभ फल

प्रसुप्त इन्द्रियाँ और जागृत मन की स्थिति में कभी यह भी होता है कि मन के परदे पर भविष्य में होने वाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब घिर आता है। अनजाने में मन का साक्षात्कार हो जाता है उन अज्ञात घटनाओं से, जो भावी जीवन में घटित होने वाली हैं। इन अस्पष्ट भावी संकेतों का स्वप्न-दर्शन कभी-कभी हो जाता है।

स्वप्नशास्त्री कहते हैं कि रात्रि के प्रथम प्रहर में देखे गये स्वप्नों का शुभ या अशुभ परिणाम बारह महीनों के भीतर, द्वितीय प्रहर के स्वप्नों का फल छह माह में, तृतीय प्रहर के स्वप्नों का फल तीन माह में, चतुर्थ प्रहर में यदि मुहूर्त्तभर रात्रि शेष हो और स्वप्न दिखे तो उसका फल दस दिनों में प्राप्त हो जाता है। सूर्योदय से पूर्व अन्तर्मुहूर्त्त के समय में देखे स्वप्न अति शीघ्र फलदायी होते हैं। व्याधि, विकार आदि के कारण या दिन में देखे गए स्वप्न फल नहीं देते।

स्वप्न यदि शुभ है तो स्वप्न-द्रष्टा को स्वप्न देखने के बाद पुनः सोना नहीं चाहिए। स्वप्नशास्त्री मानते हैं कि पुनः सोने से स्वप्न का फल नष्ट हो जाता है। अतः शुभ

स्वप्न के पश्चात् धर्म-जागरण करते हुए स्वाध्याय, अध्यात्म-चिन्तन, प्रभु-स्मरण में मन लगाना चाहिए।

□ महारानी धारिणी के स्वप्न का फल : पुण्यशाली जीव का गर्भ-प्रवेश

महारानी धारिणी ने स्वप्न का फल महाराज श्रेणिक से पूछा। श्रेणिक ने तथा उसके राज्य के स्वप्न-पाठकों ने बताया कि महारानी ने जो शुभ स्वप्न देखा है, उसका फल बताता है कि उनके गर्भ से एक महानात्मा, कुल को उज्ज्वल करने वाला, राज्य की सीमाओं को बढ़ाने वाला और चहुँमुखी उन्नति व प्रगति करने वाला सुन्दर पुत्र पैदा होगा।

□ दोहद : मेघाच्छन्न गगन

स्वप्न-फल सुनकर महारानी धारिणी अत्यन्त प्रसन्न हुई। दो मास व्यतीत हो जाने के पश्चात् महारानी को उस गर्भ के प्रभाव से एक दोहद (गर्भिणी स्त्री की इच्छा विशेष) पैदा हुआ। उनके मन में अभिलाषा उत्पन्न हुई कि वे श्वेत, पीत, रक्त, नील और श्याम, इन पाँचों वर्ण वाले मेघों को गगन में आच्छादित देखें, उनका गर्जन-तर्जन सुनें, उनके मध्य विद्युत् की चमक देखें, उन्हें जलधारा बरसाते देखें। इस तरह के वातावरण में वे सज-धजकर महाराज के साथ गंध-हस्ती पर बैठकर चतुरंगिणी सेना के साथ राजगृह नगर के राजपथों से विचरण करती हुई, नागर-जनों के अभिनन्दन को स्वीकार करती हुई वैभारगिरि पर्वत के नीचे चारों ओर भ्रमण करें। यदि मेरी यह इच्छा पूर्ण हो जाए तो मैं धन्य हो जाऊँ।

□ चिन्ता चिन्ता समान है

बंधुओं ! वे दिन चातुर्मास के नहीं थे, वर्षा ऋतु तो कभी की आकर जा चुकी थी। अतः मेघों के आने, गगनाच्छादित होने, गर्जने या बरसने का प्रश्न ही नहीं था। महारानी भी इस बात को जानती थीं। अतः अपने दोहद को मन में ही सँजोए वे मानसिक रूप से संताप पाने लगीं। चिन्ता में उनका खून सूखने लगा, भूख-प्यास मिट गई। वे श्रान्त हो कृशकाय बन गईं। उनके मुख की कान्ति फीकी पड़ गई। महलों की परिचारिकाओं ने श्रेणिक को उनकी इस स्थिति से अवगत कराया। श्रेणिक ने पता लगाया तो दोहद

के विषय में सम्पूर्ण बात महारानी ने बता दी। महाराज ने उन्हें आश्वस्त किया कि वे अवश्य उनके इस अकाल दोहद को पूर्ण करेंगे, अतः चिन्ता त्यागें।

□ श्रेणिक चिन्तित : अभय द्वारा उपाय करना

श्रेणिक महाराज ने महारानी को आश्वासन तो दे दिया पर उन्हें कोई ऐसा उपाय नजर नहीं आया कि जिससे महारानी के दोहद की पूर्ति की जा सके। महारानी की चिन्ता का त्याग कराने वाले महाराज श्रेणिक अब स्वयं चिन्ताग्रस्त रहने लगे। अभयकुमार के पूछने पर महाराज ने दोहद वाली समस्या उसे बता दी। अभय ने अपने पिता से सारी बात सुनकर कहा—“तात ! आप चिन्ता छोड़ें। मैं अवश्य ही शीघ्र ऐसा कोई उपाय निकालूँगा, जिससे मेरी छोटी माता धारिणी के इस अकाल दोहद की पूर्ति होगी।”

□ तेले का तप : देव का आगमन

अपने महल में आकर अभयकुमार विचार करता है कि इस अकाल दोहद की पूर्ति मानवीय उपायों से तो असंभाव्य ही है। अतः मुझे दैविक उपाय का सहारा लेना चाहिए। वह अपने देव-मित्र का स्मरण करता हुआ अपनी पौषधशाला में आकर तेले की तपश्चर्या का प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, ब्रह्मचर्य धारण करता है, पौषध व्रत ग्रहण करता है। तपस्या की पूर्ति के दिन देव का आसन चलायमान होता है। देव अपने अवधिज्ञान से उपयोग लगाकर जान जाता है कि मेरे पूर्वभव के मित्र अभयकुमार ने अष्टम भक्त के तप द्वारा मेरा आह्वान किया है। देव अभयकुमार के पास पहुँचता है और पूछता है—“मित्र ! कहो कैसे याद किया ? क्या कष्ट है तुम्हें ? तुम्हारा कौन-सा मनोरथ मैं पूरा करूँ ?”

अभयकुमार ने मित्र-देव की वाणी सुनी और अपनी छोटी माता धारिणी के दोहद का पूर्ण विवरण देकर उसे पूर्ण करने हेतु प्रार्थना की। मित्र-देव ने स्वीकृति प्रदान की।

□ लक्ष्य निश्चित होने पर ही तपस्या का फल

बंधुओं ! तपस्या का फल निश्चित ही मिलता है, पर तपस्याराधन के लिए निश्चित लक्ष्य आवश्यक है। लक्ष्य यदि नहीं तो यथार्थ लाभ नहीं मिल पाएगा। लक्ष्य होना चाहिए—कर्म काटने का। उपवास, बेला, तेला आदि आप भी करते हैं,

पर कर्म काटने का लक्ष्य नहीं बनाते। स्पष्ट है जो फल तपाराधन का होना चाहिए, वह आपको नहीं मिल पाता।

□ तप से पूर्व और पश्चात् भाव क्या ?

मैं एक अन्य बात इस प्रसंग में कहना अति आवश्यक समझता हूँ। गुरु से जब आप प्रत्याख्यान लेते हैं और गुरु जब आपको प्रत्याख्यान दिलाते हैं तो उपवास के लिए चतुर्थ भक्त, बेले के लिए षष्ठ भक्त, तेले के लिए अष्टम भक्त आदि के प्रत्याख्यान दिलाते हैं। उपवास से लेकर मासक्षमण या उससे भी आगे की तपस्याओं के लिए यह स्पष्ट निर्दिष्ट है कि तपःसाधक तप से पूर्व के दिन तथा तप-पूर्ति के पश्चात् पारणे के दिन विवेक रखता हुआ ऊणोदरी तप ग्रहण करे। अब आप अपने तपश्चरण को साधना की तुला पर तौल लीजिए। ये ठूँस-ठूँसकर धारणा, वो पारणा, क्या हैं ये सब ? सच्ची तपस्या वह है जिसके पूर्ववर्ती तथा पश्चात्वर्ती दिवस पर ऊणोदरी आदि विवेक रखा जाए। अन्य भी अनेक बातें हैं, जो उचित समय व प्रसंग आने पर आपको बताई जायेंगी।

□ देव की वैक्रियलब्धि से दोहद पूर्ण

अभयकुमार के देव-मित्र ने वैभारगिरि पर जाकर अपनी वैक्रियलब्धि के प्रयोग से पाँच वर्ण वाले मेघों की रचना की, जो गर्जनायुक्त, विद्युत्युक्त एवं जल-बिन्दुओं से युक्त थे। आसपास के सम्पूर्ण प्रदेशों में वर्षा ऋतु की शोभा की विक्रिया कर देव पुनः अभयकुमार के पास आता है और कहता है—“हे प्रिय ! मैंने तुम्हारे कथनानुसार पंचवर्ण के मेघों एवं वर्षा ऋतु की विक्रिया कर दी है। अब तुम अपनी छोटी माता धारिणी देवी को जाकर कह सकते हो कि वे वैभारगिरि पर्वत पर जाएँ एवं अपने दोहद को पूरा करें। वहाँ पर अब अकाल में सावन-भादों के जैसे घन-गर्जन, बिजली की चमक युक्त वर्षा की झड़ी लग गयी है। नदी, नाले उफनने लगे हैं। चारों ओर हरियाली छा गयी है, पूरा वातावरण वर्षा ऋतु के समान हो गया है।”

□ मेघ का दोहद : अतः नाम मेघकुमार

इस प्रकार महारानी धारिणी का दोहद पूर्ण हुआ। गर्भकाल के नौ मास से कुछ अधिक समय बीतने पर महारानी ने अर्द्ध-रात्रि के समय एक सर्वांग सुन्दर शिशु को

जन्म दिया। अत्यन्त समारोह एवं विभिन्न मनोरंजक आयोजनों के साथ राजपुत्र का जन्मोत्सव मनाया गया। मेघ सम्बन्धी दोहद के कारण इस बालक का नाम रखा गया—मेघकुमार।

□ बाल एवं युवा अवस्था

आठ वर्ष का होने पर राजकुमार मेघ को कलाचार्य के पास भेजा, जहाँ कलाचार्य ने मेघकुमार को गणित, लेखन, वाद-विवाद आदि बहत्तर कलाएँ तथा संस्कृत, प्राकृत, मागधी, अर्द्ध-मागधी आदि अनेक भाषाओं में निष्णात बनाया। उस युग में राजकुमारों के लिए बहत्तर कलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध था। ज्ञाताधर्मकथांग में इन बहत्तर कलाओं के नाम बताए गये हैं। राजकन्याओं के लिए स्त्रियोचित चौंसठ कलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध था।

शिक्षा सम्पूर्ण करने के बाद उसके शारीरिक अवयव (नाक, कान, आँख, जीभ, मन, त्वचा) जो पूर्व में अव्यक्त चेतना वाले थे, वे अब जागृत हो गए। वह देश-प्रदेश की अठारह भाषाओं में कुशल हो गया। गीत, संगीत व नृत्य कला में वह प्रवीण बन गया। अश्व-युद्ध, रथ-युद्ध, बाहु-युद्ध आदि अनेक प्रकार के युद्ध करने में उसने असाधारण प्रतिभा हासिल कर ली। युवा एवं विवाह योग्य होने पर माता-पिता ने समान वय-यौवन-गुण-सम्पन्न उच्च कुल की आठ सुन्दर राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण करवाया।

□ तीर्थकर महावीर के दर्शनार्थ मेघ का जाना

उन्हीं दिनों भगवान महावीर राजगृह नगरी में पधारे और गुणशील नामक उद्यान में विराजित हुए। उनके दर्शनार्थ अनेक लोग अनेक समूहों में कोलाहल करते हुए नगर के चौराहों, तिराहों, राजपथों से निकले। इतने लोगों को विभिन्न समूहों में एक ही दिशा में जाते देख मेघकुमार ने अपने एक परिचारक को भेजकर इसका कारण जानने को कहा तो मालूम हुआ कि भगवान महावीर जो धर्मतीर्थ की आदि करने वाले, तीर्थों की स्थापना करने वाले हैं, वे नगर के बाहर गुणशील-उद्यान में विराजमान हैं और सभी जन उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहे हैं।

□ धर्मसभा में प्रवेश के पाँच नियम

मेघकुमार भी अपने अश्वरथ में बैठकर जहाँ प्रभु समवसृत थे, वहाँ गया। प्रभु के अतिशयों को देख विस्मित बना। रथ से उतर उसने पाँच अभिगमन किए अर्थात्—

- (१) अपने पास रहे हुए सचित्त द्रव्यों का त्याग किया।
- (२) तीर-धनुष, आभूषण, तलवार आदि शरीर से अलग कर व्यवस्थित रखे।
- (३) दुपट्टे का उत्तरासंग धारण किया।
- (४) दोनों हाथों को मिलाकर नमन मुद्रा बनाई।
- (५) मन को एकाग्र किया।

□ धर्मोपदेश सुनकर विरक्ति जगी

प्रभु के निकट आकर उसने प्रभु को वन्दना की, समवसरण में बैठकर धर्मोपदेश सुना। श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का कथन प्रभु के श्रीमुख से सुनकर मेघकुमार के मन में वैराग्य का प्रस्फुटन हुआ। उसने प्रभु के सम्मुख संयम ग्रहण करने की अभिलाषा प्रकट की। प्रभु ने कहा—“अहा सुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबंधं करेह।”

□ माता-पिता से दीक्षार्थ अनुमति माँगना

मेघकुमार ने घर आकर महाराज श्रेणिक तथा रानी धारिणी के समक्ष मुनि-दीक्षा लेने की अभिलाषा प्रकट कर अनुज्ञा माँगी। माता-पिता ने तब अनेक तरह से उसे बाद में दीक्षा लेने हेतु और पहले संसार-सुख भोगने हेतु समझाया, संबोधित किया, मनाया; पर वे उसे मनाने में असफल रहे। उन्होंने संयम जीवन की कठोरता, दुरुहता, कष्टप्रदता की अनेकविध बातें कहीं, पर मेघकुमार ने कहा—“हे तात, हे मात ! धीर एवं दृढ़व्रती पुरुषों के लिए संयम-पालन कदापि कठिन नहीं है। आप तो मुझे प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें।”

□ एक दिन का राजा मेघ

इस पर मेघकुमार के माता-पिता ने कहा कि “हे पुत्र ! हमारी इच्छा है कि तुम एक दिन के लिए राजा बनकर राज-सिंहासन पर आरूढ़ हो राज्य-संचालन करो। इससे हमें संतोष मिलेगा कि हमने अपने पुत्र की राज-ऋद्धि देख ली।” बंधुओं !

माता-पिता के इस कथन के पीछे उनका उद्देश्य यह था कि सिंहासन पर बैठकर शायद राज्य-वैभव का भोग करता हुआ हमारा राजकुमार विरक्ति से पुनः आसक्ति की ओर आ जाए। मेघकुमार ने माता-पिता का मन रखने के लिए मौन धारण कर लिया। “मौनं स्वीकृति लक्षणं।”—कहावत के अनुसार वह मौन स्वीकृति-रूप ही माना गया।

□ रजोहरण व ओघे-पातरे मँगाने का आदेश

अत्यधिक समारोह एवं उत्सवपूर्वक राज्याभिषेक किया गया। श्रेणिक राजा ने तब सिंहासनारूढ़ मेघकुमार से कहा—“हे नन्द ! अब बोलो, तुम्हारी क्या अभिलाषा है, क्या आदेश है ?”

□ धर्म के कार्य में व्यय की अधिकता का औचित्य

राजा मेघ ने तब रजोहरण और पात्र मँगवाने तथा नापित को बुलवाने की बात कही। बंधुओं ! राज-ऋद्धि प्राप्त करके भी वह भोगों का दास नहीं बना। आठ-आठ शील-सम्पन्न और सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी राजरानियों के मोहपाश में नहीं फँसा, अपितु उसने माता-पिता के पूछने पर उसी विरक्ति-भाव को भविष्य में सफलीभूत बनाने हेतु एक लाख स्वर्ण-मुद्रा के रजोहरण, एक लाख के ओघे-पातरे तथा एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ नापित के घर भिजवाकर उसे बुलवाने की बात कही। आप सभी के मन में इस बात की जिज्ञासा होगी कि एक-एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ क्यों ? क्या इतना अधिक धन खर्च करना, कम मूल्य की वस्तु एवं कम धन में प्राप्त होने वाली सेवा का इस तरह अत्यधिक मोल चुकाना उचित है ? बंधुओं ! यह धर्मानुष्ठान है। आप लोग विवाह के अवसरों पर अथवा कोई ऐसा अवसर जहाँ प्रतिष्ठा का प्रश्न हो, बढ़-चढ़कर धन व्यय करते हैं या नहीं। मुंशी प्रेमचंदजी की एक कथा में किसी सेठ के नौकर ने सेठ की प्रतिष्ठा की खातिर सोने की चैन देकर एक ककड़ी खरीदी थी। ककड़ी का मूल्य एक पैसे से भी कम था, पर बात ककड़ी की नहीं, सेठ की प्रतिष्ठा की बात थी। धर्म के कार्य में भी सौदेबाजी उचित नहीं है। राजाओं और श्रेष्ठियों का यह भी चिन्तन था कि इन्हें इतना दिया जाए कि आगे कभी किसी सामान्य व्यक्ति की दीक्षा पर भी ये बिना कुछ लिए ही सेवा करते रहें।

□ माता-पिता की आज्ञा : मेघकुमार दीक्षित

नापित राजदरबार में उपस्थित हुआ। राजा श्रेणिक के आदेशानुसार उसने मेघकुमार के सिर पर कुछ बालों के गुच्छ को छोड़, शेष बाल काट दिए। मेघकुमार को उत्तम वस्त्राभूषण पहनाए गए। माता-पिता, राजपुरुष एवं पारिवारिक पुरुषों-स्त्रियों के साथ वे प्रभु के पास उपस्थित हुए। प्रभु को वन्दना करके दीक्षा देने की प्रार्थना की। माता धारिणी व पिता श्रेणिक दोनों उस समय प्रभु से निवेदन करते हैं—“ भगवन् ! यह मेघकुमार हमें अत्यन्त प्रिय, अत्यन्त वल्लभ एवं अत्यन्त मनभावन है। जरा, मरण के भय एवं सांसारिक मोह-माया से उद्विग्न हो, विरक्त बना यह मेघ, आपके समीप मुंडित बन दीक्षित होना चाहता है। अतः हम अपने पुत्र को आपके शिष्य के रूप में आपको सौंपते हैं। हमारी यह शिष्य-भिक्षा आप स्वीकार करें।”

इसके पश्चात् प्रभु की आज्ञा पाकर मेघकुमार उसी उद्यान के ईशानकोण की ओर जाते हैं, स्वयं वस्त्राभूषण व अलंकरण उतारकर श्रमण-वेश धारण करते हैं, स्वयं पंचमुष्टि लोच करते हैं, प्रभु के निकट आकर प्रभु को तीन बार वन्दना करते हैं। प्रभु उन्हें दीक्षा-मंत्र देकर धर्म-शिक्षा प्रदान करते हैं।

□ मुनिधर्म की प्रथम रात और मेघ

दीक्षा-दिवस की रात्रि अर्थात् संयम जीवन की प्रथम रात्रि को शयन हेतु जब सभी श्रमणों के शय्या-संस्तारक लगे तो श्रमण मेघ का शय्या-संस्तारक द्वार के समीप लगा। रात्रि के पहले व अंतिम प्रहर में वाचना, पृच्छना, परावर्तन कर उच्चार-प्रस्रवण (बड़ीनीत-लघुनीत) के लिए संत जब बाहर गए व अन्दर आए तो अनेक सन्तों के रजोहरण का स्पर्श मेघ के शरीर से हुआ, किसी का पैर उनके सिर, वक्ष या पेट आदि से लगा, अनेक सन्त उन्हें लाँघकर गए। इन सबके कारण वे रात्रि में क्षण मात्र के लिए भी निद्रा की गोद में विराम न ले सके।

□ मुनि मेघ का मन विचलित

मुनि मेघ के मन में तब विचार आया कि ये ही श्रमण जब मैं राजकुमार था, दीक्षित नहीं बना था तब मेरा कैसा आदर करते थे, सत्कार-सम्मान करते थे, मृदु वाणी में मेरे साथ वार्त्तालाप करते थे, किन्तु अब जब मैं श्रमण बन गया,

मुंडित हो गया, दीक्षा-मंत्र धारण कर संयम पथ का पथिक बन गया हूँ तो आदर देना तो दूर, आलाप-संलाप भी नहीं करते, बल्कि मुझे रात्रि में लाँघते, स्पर्श करते और इस प्रकार निद्रा नहीं लेने देते हैं। यह सब मैं कैसे सहन कर सकूँगा ? मैं तो कल सूर्योदय होते ही प्रभु की आज्ञा लेकर पुनः गृहवास में चला जीऊँगा, यही मेरे लिए अच्छा रहेगा।

□ प्रभु महावीर द्वारा मुनि मेघ के पूर्वभव का वृत्तान्त बताना

रात्रि व्यतीत हुई, प्रातः हुई, सूर्य का प्राची दिशा में उदय हुआ तब मुनि मेघ श्रमण भगवान महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार कर पर्युपासना करने लगे। वह कुछ कहें इससे पूर्व ही श्रमण भगवान महावीर ने मेघ से पिछली रात्रि में उसके साथ जो घटा तथा उसके मन में जो चिन्तन पैदा हुआ, वह सब वैसा ही बताकर पूछा—“क्या तुम पुनः गृहवास में जाने की आज्ञा की अभिलाषा लेकर मेरे पास आए हो ?”

□ मुनि मेघ का सुमेरुप्रभ-हस्ती का भव

श्रमण मेघ के स्वीकार करने पर प्रभु उसे उसके अतीत के तीसरे भव का विवरण सुनाते हुए कहते हैं—“हे मेघ ! तब तुम सुमेरुप्रभ नाम के हस्ती थे। एक बार जिस वन में तुम थे, उस वन में ज्येष्ठ की भीषण ग्रीष्म में पेड़ों की आपसी रगड़ से दावानल फैलने लगा, ज्वालाओं से वन सुलगने लगा। प्राण बचाने के लिए तुम सुमेरुप्रभ के भव में इधर से उधर खूब दौड़े। अग्नि से संतापित, दौड़-भाग से थकित, भयंकर ग्रीष्म से तप्त, भूख और प्यास से व्याकुल हो गए। एक कम पानी वाले और अधिक दलदली कीचड़ वाले तालाब में गरमी और आग से बचने, शीतलता प्राप्त करने और अपनी प्यास बुझाने के लिए उतर गए। पानी तो मध्य में था पर कीचड़ चारों तरफ। वह हाथी अर्थात् तुम्हारा जीव अपने उस पूर्वभव में पानी पीकर अपनी प्यास न बुझा सका, क्योंकि पानी तक पहुँचा ही नहीं कि कीचड़ में फँस गया।

□ पुनः हस्ती का भव मिला : नाम मिला मेरुप्रभ, शुभ अध्यवसायों से जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति

मेघ ! बहुत जोर लगाने पर भी तुम अपने उस भव में कीचड़ से बाहर नहीं निकल सके, अपितु अधिकाधिक फँसते गए, धँसते गए। तभी उसी सरोवर के

किनारे एक नौजवान हाथी आया। जब तुम यूथपति थे, तब तुमने उस हाथी को सूँड़ और दाँतों के प्रहार से बुरी तरह मारा और अपने यूथ (झुण्ड) से अलग कर दिया। पूर्व काल के वैर का स्मरण कर अत्यन्त कुपित हो उस युवा हाथी ने सुमेरुप्रभ हाथी के भव में तुम्हें अपने तीक्ष्ण दाँतों से बार-बार आघात लगाते हुए ऐसा बीँधा कि तुम्हारे शरीर से खून के फव्वारे निकलने लगे। उस समय की प्रचंड वेदना को सात दिन-रात भोगकर आर्तध्यान के वशीभूत बन काल के समय कालकर पुनः हस्ती के रूप में ही भारत में गंगा नदी के किनारे उत्पन्न हुए। युवा होने पर तुम अपने यूथ के यूथपति बन गये। वहाँ तुम्हें मेरुप्रभ नाम मिला। पिछले भव की तरह, मेरुप्रभ के भव में भी ज्येष्ठ मास में तुम्हारे वन में भीषण दावानल उठा। उस दावानल को देखकर तुम्हें ऐसा विचार आया कि इस तरह की अग्नि की उत्पत्ति मैंने पहले भी कभी कहीं देखी है। शुभ लेश्या, शुभ अध्यवसाय व शुभ परिणामों से तुम्हें जातिस्मरण ज्ञान पैदा हुआ।

□ मेरुप्रभ हस्ती का शुभ चिन्तन

प्रभु महावीर ने प्रसंग को आगे सुनाते हुए कहा—“मेघ ! जातिस्मरण ज्ञान पैदा होने पर मेरुप्रभ के भव में तुमने सोचा कि यदि इस दावानल से बच गया तो फिर कभी दावानल से जंगली जानवर मौत के मुँह में न जाएँ, इसका उपाय करूँगा।”

□ पुनः दावानल से सुरक्षा हेतु तत्परता

दावानल शान्त हुआ। मेरुप्रभ के रूप में तुमने सात सौ हाथियों एवं हथिनियों से सहयोग लेकर एक योजन परिधि वाला एक विशाल मंडल तैयार किया। मंडल की भूमि को ऐसा साफ किया कि कहीं भी पेड़, पौधा, घास, लता आदि नहीं थे। कालान्तर में एक बार फिर ग्रीष्म ऋतु में भयानक दावानल की उत्पत्ति हुई, फैलाव हुआ। जंगल के अनेक मृग, सिंह, बाघ, भेड़िए, चीते, रीछ, सियार, विडाल, श्वान, खरगोश आदि पशु तथा सरीसृप आदि उस दावानल से बचने हेतु उसी मंडल में एकत्रित हो गए। तुम भी अपने हाथी और हथिनियों के समूह के साथ दौड़ते हुए उसी मंडल में पहुँचे। दावानल से त्रस्त वे वहाँ अपने जातिगत वैर-भाव को भी भूल चुके थे। तुम भी यूथ के

साथ उसी मंडल में एक स्थान पर ठहर गए। उस मेरुप्रभ के भव में तुम मन-ही-मन अत्यन्त हर्षित थे कि तुम्हारी योजना व मेहनत रंग लाई, सफल हुई, अनेकानेक प्राणियों को मौत के मुँह से बचाने वाली सिद्ध हुई।

□ नन्हें शिशु-खरगोश की रक्षार्थ उत्कृष्ट अनुकम्पा : मनुष्यायु का बंध

तभी तुम्हारे शरीर के किसी अंग में खुजली होने से तुमने अपना एक पाँव शरीर खुजलाने हेतु उठाया। उसी समय अन्य बलवान प्राणियों से धक्का खाकर एक नन्हा शिशु खरगोश उस स्थान में प्रविष्ट हो गया जो तुम्हारे पैर उठाने से रिक्त हुआ था।

हे मेघ ! तुमने अपने उस हाथी के भव में खुजलाने के लिए उठाया हुआ वह एक पैर जब नीचे रखना चाहा तो लगा वहाँ कोई अन्य प्राणी है। देखा तो शशक था। तुम्हारे मन में उसके प्रति अनुकम्पा की भावना ऐसी उमड़ी की अत्यन्त कष्ट पाकर भी तुमने वह पाँव 'शशक मर जायेगा' इस भय से भूमि पर नहीं रखा। उस प्राणि-अनुकम्पा, जीवदया के श्रेष्ठ चिन्तन से तुम्हारा संसार परित्त हुआ और तुमने उस भव में वहीं मनुष्यायु का बंध किया।

□ शशक को बचाया पर मेरुप्रभ हस्ती न बच सका

बंधुओं ! प्रभु ने आगे बताया कि हे मेघ ! ढाई अहोरात्र के बाद दावानल जब पूर्ण शान्त हुआ तो अग्नि के भय से मुक्त सभी सिंहादि प्राणी उस मंडल से निकले और अपनी-अपनी भूख-प्यास शान्त करने की चिन्ता में फिरने लगे।

मैदान खाली हुआ तो तुमने भी चाहा कि अब पैर नीचे रख लूँ। तब तक तुम इतने निर्बल, अशक्त, शिथिल हो चुके थे कि ढाई दिन तक ऊपर रहने के कारण अकड़ गए उस पैर को नीचे नहीं रख सके। तुमने तब अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस पैर को नीचे रखने हेतु लगा दी। परिणाम यह हुआ कि तुम्हारा वह हाथी-शरीर पूरा का पूरा धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। उस समय तुम्हें तीव्र वेदना हुई, ज्वर हो आया, शरीर में जलन व्याप्त हो गई। तीन अहोरात्र तक तुमने वह दुस्सह वेदना सहन की। वहाँ से कालकर तुम इस भव में महाराज श्रेणिक के घर धारिणी की कुक्षि से कुमार के रूप में उत्पन्न हुए।

□ मेरुप्रभ का जीव ही मेघ : पूर्व जन्म स्मरण कर पुनः संयम में स्थिरता

हे मेघ ! गजराज के भव में, तिर्यच योनि के जीव में सम्यक्त्वरहित होते हुए भी तुमने प्राणि-अनुकम्पा के विचार से इतना कष्ट सहा तो फिर हे मेघ ! अब तो तुमको दुर्लभ मानव-भव में, उच्च कुल में सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ जन्म मिला है। उत्कृष्ट वैराग्य भाव में श्रमणधर्म अंगीकार किया है तुमने, फिर भी तुम रात्रि के प्रथम व अंतिम प्रहर में सन्तों के रजोहरण व पद-स्पर्श से प्राप्त कष्ट को सहन नहीं कर सके ? शान्ति धारण न कर सके ? अदीनभाव से तितिक्षापूर्वक शरीर को निश्चल रखकर सहन न कर सके ?

बंधुओं ! श्रमण भगवान महावीर के श्रीमुख से मेघकुमार श्रमण ने अपने पूर्वभवों का विवरण सुना। चिन्तन की ऐसी गहराई में पहुँचे कि उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्वभवों को देखना प्रारम्भ किया और सोचना प्रारम्भ किया—‘प्रभु सत्य कहते हैं। कहाँ है मुझमें धैर्य, दृढ़ता, सहनशीलता ? कहाँ तो मैं हाथी के भव में भी ऐसा दृढ़ मनोबल वाला बना रहा और कहाँ अब श्रमण-पर्याय में इस तरह का संकल्प-विकल्पयुक्त विचलित हुआ मेरा मन, चलित, अस्थिर मेरे विचार ! धिक्कार है मुझे।’ उनका पुरुषार्थ जागृत हो गया, मन सुदृढ़ बन गया, चित्त सुस्थित हो गया। पुनः-पुनः पश्चात्ताप कर प्रायश्चित्त लिया मेघकुमार श्रमण-श्रेष्ठ ने। पुनः दीक्षा ली। संकल्प लिया कि इन दो आँखों के अतिरिक्त मेरा सम्पूर्ण तन आज से निर्ग्रन्थ-मंडल की सेवा में ही अर्पित रहेगा।

□ भाव-विचलन भी प्रायश्चित्त का हेतु है

बंधुओं ! वे मेघ मुनि केवल भाव-विचलित हुए। न किसी अन्य श्रमण व श्रावक ने उन्हें विचलित देखा, न सुना फिर भी उन्होंने पश्चात्ताप, निन्दा, गर्हा कर प्रायश्चित्त लिया। प्रभु ने भी उन्हें पुनः दीक्षित किया। संयमी साधक के महाव्रत मन से या वचन से या काया से, किसी तरह यदि पूर्ण खंडित हो जाए तो प्रायश्चित्त लेकर पुनः दीक्षा आवश्यक है—यही शास्त्रीय विधान है। व्रतों या महाव्रतों में अतिचार-दोष लग जाए तो गीतार्थ मुनियों या आचार्यों के सम्मुख उसे प्रकट करना चाहिए। आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो भी प्रायश्चित्त दें, वह प्रायश्चित्त स्वीकार करना ही संयम-जीवन का सत्य पथ है।

अतिचार या अनाचार के विषय में इतना और कहना उचित होगा कि आचार्य भी अपराध के अनुरूप, भूल के अनुरूप प्रायश्चित्त नहीं देते हैं, कम-ज्यादा देते हैं तो वे भी दोष के भागी बनते हैं।

□ मुनि मेघ द्वारा उग्र तप एवं आतापना लेना

मुनि मेघ ने पुनः दीक्षा ली। प्रभु ने भी उन्हें पुनः दीक्षित किया। इस तरह वे शुद्धि की प्राप्ति कर संयम में उद्यम करने लगे। उन्होंने अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। अनेक तपस्याएँ कीं, एक मास की भिक्षु-प्रतिमा अंगीकार की, उसके पूर्ण होने पर दो मास की भिक्षु-प्रतिमा का पालन किया। फिर तीन माह की, चार माह की। इसी भाँति पाँचवीं पाँच माह व छठी छह माह की व सातवीं सात माह की भिक्षु-प्रतिमाओं का पालन किया। आठवीं, नौवीं तथा दसवीं सात-सात अहोरात्र की, ग्यारहवीं तथा बारहवीं एक-एक अहोरात्र की भिक्षु-प्रतिमाओं का पालन करते हुए उन्होंने बारह ही भिक्षु-प्रतिमाओं का यथाविधि पालन किया। उसके पश्चात् मुनि श्रेष्ठ ने गुणरत्न संवत्सर तप का अनुष्ठान किया। इस तप में सोलह मास लगते हैं। प्रथम मास में एक दिन उपवास एक दिन पारणा, दूसरे मास में बेले-बेले पारणा, तीसरे में तेले-तेले पारणा और इसी प्रकार एक-एक उपवास बढ़ाते हुए अन्त में सोलहवें मास में सोलह दिन उपवास करने के बाद पारणा फिर सोलह दिन उपवास करके पारणा करते हैं। कुल चार सौ सात दिन उपवास के तथा तिहत्तर दिन पारणे के आते हैं। इस तप में मेघ मुनि दिन में गोदोहन आसन में आतापना लेने की भूमि में सूर्य के सन्मुख आतापना लेते तथा रात्रि में निर्वस्त्र होकर वीरासन लगाते।

□ संथारा, समाधि-मरण, देव एवं मानव-भव पूर्ण कर मुक्ति-प्राप्ति

अनेक प्रकार के अन्य तपश्चरण कर शरीर को शुष्क, रूक्ष बना मेघ मुनि जब माँस और रुधिररहित शरीर वाले बने, जब उनकी हड्डियाँ मात्र ही चमड़े के खोल में रह गई, तब उन्होंने पादोपगमन संथारा धारण किया। श्रमण-निर्ग्रन्थ ग्लानिरहित भाव से मेघ मुनि की वैयावृत्य करते। एक माह की संलेखना द्वारा आत्मा को निर्मल, शुद्ध बना, संथारापूर्वक आलोचना-प्रतिक्रमण कर, माया-मिथ्यात्व को हटा, शल्यरहित बन समाधिमरण प्राप्त कर वे अनुक्रम से कालधर्म को प्राप्त हुए।

मेघ मुनि के कालधर्म को प्राप्त करने के पश्चात् गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से पूछा कि वे किस गति में, किस जगह उत्पन्न हुए ? प्रभु ने फरमाया—“हे गौतम ! मेघ मुनि का जीव यहाँ से कालकर विजय नामक अनुत्तर महाविमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ की तैंतीस सागरोपम की स्थिति का वेदन कर देवलोक से च्यवकर महाविदेह में जन्म लेगा और सिद्धि को प्राप्त कर, सर्व कर्मरहित हो, परिनिर्वाण प्राप्त कर समस्त दुःखों का अन्त करेगा।”

□ जीवदया एवं कष्ट-सहिष्णुता सीखिए, आत्म-कल्याण निश्चित

महापुरुषों के जीवन से आप और हम जीवन में बहुत-कुछ प्राप्त कर सकते हैं। जीव, प्राण, भूत, सत्त्व पर अनुकम्पा तथा कष्ट-सहिष्णुता के गुण भी यदि किसी अंश तक जीवन में उतर गए तो वह पथ खुल जायेगा, जिस पर चलकर मुक्ति की मंजिल प्राप्त की जा सकती है।

आनंद ही आनंद !



आराधक होईने-कीधो खेवो पार (1)

(थावच्चा-पुत्र)

आत्म-बंधुओं !

अनंत-अनंतकाल से संसार रूप समुद्र में यह जीव गोते लगा रहा है। चार गति और चौरासी लाख जीव योनियों में पुनः-पुनः भटकता हुआ असहनीय कष्टों, पीड़ाओं, वेदनाओं को भोग रहा है। प्रत्येक जीव चाहता है इनसे छुटकारा, पर छुटकारे की राह पर चलता नहीं।

सर्वज्ञों की वाणी में जीवन जीने की जो कला बताई है, वह कला उस राह पर ले जाने वाली है। कौन-सी है वह कला ? वह है-आध्यात्मिक साधना।

जीवन जीने के दो ढंग दार्शनिकों ने बताए हैं-एक है भौतिक पदार्थों की चाह, प्राप्ति, संग्रह एवं उनका भोगोपभोग और दूसरा है आध्यात्मिक साधना, संयम एवं चरित्र की आराधना।

संसार में रचे-पचे रहकर सांसारिक पदार्थों की कामना, प्राप्त-पदार्थों में आसक्ति एवं मानवीय सम्बन्धों के प्रति मोह-भाव जीव को रुलाने वाला, भटकाने वाला और संसार के चक्र को बढ़ाने वाला होता है।

इसी संसार में रहकर गृहस्थ के रूप में सभी भौतिक पदार्थों को भोगते हुए एवं मानवीय सम्बन्धों का निर्वहन करते हुए भी जल में कमलवत् मन से अलगाव, विरक्ति भाव, अनासक्ति भाव, निर्लिप्तता रखते हुए सांसारिक कार्यों का सम्पादन, आत्माभिमुखी बन शरीर-पोषण का कम और आत्म-पोषण का अधिक ध्यान रखना आध्यात्मिक जीवन का एक ढंग है।

आध्यात्मिक जीवन का उत्कृष्ट रूप है-निर्ग्रन्थ-मुनि जीवन, संयम-साधक का जीवन। जो 'तिन्नाणं तारयाणं' रूप होते हैं।

□ तिन्नाणं तारयाणं

'तिन्नाणं' का अर्थ है जो स्वयं तैरकर पार उतरने वाले हैं, संसार-सागर को पार कर किनारे पर पहुँचने वाले हैं, जन्म-मरण को मिटाकर मोक्ष के अधिकारी बनने वाले हैं। 'तारयाणं' का अर्थ है कि संसार रूप समुद्र को पार करने के लिए उन्होंने जिन-जिन साधनों का और जिस पथ का उपयोग किया, सफलता-प्राप्ति के पश्चात् उन-उन साधनों और उस पथ को वे संसार के लोगों के समक्ष प्रकट करते हैं, जिससे अन्य-अन्य भवि जीव भी उस पथ पर चलकर, वैसी ही साधना कर मोक्ष प्राप्त कर सकें। अपने जनकल्याणी धर्मोपदेशों से वे संसार के प्राणियों को मोक्ष जाने की राह दर्शाते हैं।

कभी इस अवसर्पिणी काल की 'ऋषभादिक महावीर' अर्थात् चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों की जीवनी, उनके व्यक्तित्व, उनके कृतित्व, उनकी साधना, उनके आदर्श और उनके उपदेशों पर एक नजर डालिए, तब आपको ज्ञात होगा कि कितने-कितने राजा-महाराजा, अमीर-गरीब, सेठ-साहूकार, उच्च-नीच, क्षत्रिय-वैश्य-ब्राह्मण-चांडाल आदि नर-नारी, आबाल-वृद्ध उन सर्वज्ञों की वाणी को सुनकर, समझकर, जीवन-व्यवहार में उतारकर विरक्त बन गए, अणगार धर्म में दीक्षित हो गए, निरतिचार संयम के पालक बन वे अंतिम समय में संलेखना-संधारा द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन गए।

□ उत्कृष्ट भाव-रसायन चाहिए !

जो धर्म करता है, धर्म-सिद्धान्तों को अपने जीवनाचरण में ढालता है, शुद्ध श्रमणाचार का पालन करता है, वह स्वयं तो इस संसार से तिरता ही है, जीवन के चरम और परम ध्येय को प्राप्त करता ही है; साथ ही अपने अनुभवों को जन-जन के हितार्थ वाणी-मुखरित कर एक ऐसे आलोक का प्रसारण भी करता है जो पाठक और श्रोता की मिथ्या धारणाओं के अंधकार को नष्ट करने में पूर्ण सक्षम होता है। प्रभु की उस अनमोली धर्मवाणी का श्रवण करने वाले के मन में भी कभी उत्कृष्ट भावों का रसायन आ जाए तो वह संसार-समुद्र से पार उतर जाता है।

बंधुओं ! केवल जिनेश्वर भगवंतों की निर्दोष वाणी में, सर्वज्ञ-तीर्थकरों द्वारा भाषित और गणधरों द्वारा गुम्फित जैनागमों में ही वह सामर्थ्य है, जो प्राणी को धर्म के पथ पर अग्रसर कर उसे बेहाल से निहाल बना दे। तीर्थकर-वाणी का एक बोल भी जिस किसी के अंतस्तल में गहरा उतर गया, उसके अनादिकाल से कर्मावृत आत्म-गुण एक क्षण में आवरण को भेदकर प्रकट हो जाते हैं, उसका सम्यक्त्व-प्राप्ति का पथ खुल जाता है और वही पथ उस प्राणी के मुक्ति-पथ को प्रशस्त बनाता है।

□ आत्म-कल्याणी मुनि थावच्चा-पुत्र

धर्मकथानुयोग में उन अनगिनत (अगणित) आत्माओं में से अनेक ऐसी आत्माओं के प्रसंग का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने जिनवाणी का श्रवण कर सम्यक्त्वबोधि रत्न को प्राप्त किया और चारित्रधर्म का निरतिचार पालन कर अपना मुक्ति-पथ प्रशस्त किया। ऐसी सभी आत्माएँ मोक्ष गति की अधिकारिणी बनीं।

पूज्य आचार्य श्री जयमलजी महाराज द्वारा सृजित 'बड़ी साधु वन्दना' में ऐसी ही भव्यात्माओं, मुक्तात्माओं की भावपूर्ण स्तुति की गई है। आपने अब तक उत्तराध्ययन में वर्णित ऐसी महानात्माओं के जीवन-प्रसंग सुने, भगवतीजी में वर्णित मुक्त और मोक्षगामी महापुरुषों के जीवनादर्शों को भी सुना। इन दिनों आप सभी सुन रहे हैं—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र की वैसी ही उज्ज्वल महनीय चारित्रात्माओं के प्रसंग। पूर्व प्रवचन में आपने मेघकुमार की आत्मा को आलोकित करने वाले जीवन-प्रसंग का रसास्वादन किया था। आज प्रसंग है—थावच्चा-पुत्र का!

धन्य थावच्चापुत्र, तजी बत्तीसों नारा।
 तेहनी साथे निकल्या, पुरुष एक हजार॥४१॥
 शुकदेव संन्यासी, एक सहस शिष्य लारा।
 पाँच सौ से शैलक, लीधो संजम भार॥४२॥
 सब सहस अढाई, घणा जीवों ने तारा।
 पुंडरिक गिरि ऊपर, कियो पादोपगमन संथार॥४३॥
 आराधक हुईने, कीधो खेवो पार।
 हुआ मोटा मुनिवर, नाम लियां निस्तार॥४४॥

□ जीवन का चिरन्तन सत्य है-मरण

अपने घर के किसी मंजिल पर बने एक कमरे के झरोखे में बैठा एक श्रेष्ठि-पुत्र पड़ोस के घर से आ रही कर्णप्रिय मधुर स्वर-लहरी की ओर कान दिए बैठा है। कुछ नारी-कंठों से निकल रही गीतों की स्वर-लहरियाँ हवा में तैर रही हैं। बहुत देर तक उन्हें सुनने के बाद भी श्रेष्ठि-पुत्र का वहाँ से हटने का जी नहीं चाहता। न वह गीतों के बोल पकड़ पा रहा है, न उनके अर्थ या भाव को ही समझ पा रहा है, पर कंठ-ध्वनियों के माधुर्य में जो आकर्षण है, वह उसी से बँधा है।

तभी एक जिज्ञासा जन्म लेती है, जिसका समाधान पाने को व्याकुल वह नीचे उतर आता है और घर के आँगन में गीले बाल सुखा रही अपनी माता से पूछता है—“माता ! पड़ोस में ये ऐसे सुन्दर, मनभावने गीत गाए जा रहे हैं, उसका क्या कारण है ?”

पुत्र की जिज्ञासा को शान्त करती हुई माता कहती है—“वत्स ! हमारे इन पड़ोसी के घर एक नया जीव आया है, वह लड़का है। अतः पुत्र होने की खुशी में ये मंगल, मधुर गीत गाए जा रहे हैं।”

इस पर श्रेष्ठि-पुत्र पूछता है—“माता ! क्या पुत्र के जन्म होने पर इतनी खुशी होती है?”

माता कहती है—“हाँ, पुत्र ! जिस घर में पुत्र-रत्न उत्पन्न होता है, वहाँ खुशियों का सागर उमड़ पड़ता है।”

श्रेष्ठि-पुत्र तब सहज भाव से पूछ लेता है—“माँ ! तब तो मेरे जन्म के अवसर पर भी खूब खुशियाँ मनाई गई होंगी, खूब गीत गाए गए होंगे, खूब आनंद रहा होगा इस घर में।”

माता बोली—“वत्स ! तुम्हारा जन्म तो इस परिवार के लिए प्रसन्नता का महासागर लेकर आया था। कई दिन तक गीत-संगीत की मधुर स्वर-लहरियों से दिशाएँ गुञ्जित रही थीं। बधाइयों का ताँता-सा लग गया था। तुम्हारे पिता ने सम्पूर्ण जाति को जाति-भोज दिया था। याचकों को दिल खोलकर अनाज और वस्त्र दिए थे। तब एक सप्ताह तक यह घर खुशियों के खजाने से भरा रहा था।”

श्रेष्ठि-पुत्र माता की इन बातों को सुनकर बहुत खुश था। जिज्ञासा शान्त हो चुकी तो कान पुनः उस कर्ण-प्रिय स्वर-लहरी का आस्वादन करने को उत्सुक बन गए, पर यह क्या? वह ध्वनि, वे गीत, वह संगीत तो गायब था। कान अब कुछ और ही ध्वनि सुन रहे थे। अब आने वाली ध्वनि में न माधुर्य था, न आकर्षण। कर्कश, कटु ध्वनियाँ ! कान जैसे मना कर रहे हों कि नहीं, नहीं सुनना है हमें यह सब।

श्रेष्ठि-पुत्र सोचने लगा—‘अचानक यह क्या ? क्यों हुआ यह परिवर्तन ? क्यों बदल दिए गए गीत और गीतों के स्वर ? क्या पहले गाने वाले चले गए और इन दूसरे तरह के गीत गाने वालों को बुला लिया गया ?’

अन्तर् में कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिला तो पुनः आकर माता से प्रश्न किया—“माता ! ये कैसे गीत ? वे गीत कहाँ गए ? अब तो इनमें तनिक भी माधुर्य नहीं। क्यों हुआ यह परिवर्तन ? मुझे ये गीत नहीं अच्छे लगते। क्या पुनः वे गीत शुरू नहीं होंगे ?”

माता द्रवित तो पहले से ही थी। अपने लाड़ले की ऐसी बातें सुनकर उसके कपोलों पर अश्रु की लड़ियाँ झलक उठीं। उसने कहा—“बेटे ! सारी खुशियाँ नष्ट हो गईं। कुछ देर पहले की हरियाली पर तुषारापात हो गया। माता की खुशियों पर दुःखों का पहाड़ टूटकर गिर पड़ा। सद्यजात जिस पुत्र की खुशी में गीत बिखेरे जा रहे थे, उसका प्राणांत हो गया। नन्हा-सा वह शिशु माँ के गर्भ से दुनिया देखने को बाहर निकला था, पर बिना किसी को देखे ही मौत के मुँह में चला गया। वत्स ! उसकी श्वासें अभी प्रारम्भ ही हुई थीं कि समाप्त हो गईं। लम्बे जीवन को जिए बिना ही वह मर गया।”

माता की यह बात सुन श्रेष्ठि-पुत्र उदास हो गया। आश्चर्य प्रकट करते हुए बोला वह—“माता ! अभी कुछ समय पूर्व तो तुमने उसके जन्म की खुशियों की बात कही और अब तुम उसके मरण की बात कर रही हो। यह कैसे ? क्या जीवन इतना छोटा भी हो सकता है ?”

पुत्र के मुँह से इन बातों को सुनकर माँ ने कहा—“पुत्र ! जन्म और मरण पर किसी का वश नहीं। जीवन पानी के बुलबुले की भाँति है। संसार में जो कुछ दिखाई देता है, सारा का सारा क्षणभंगुर, नश्वर है। मरण कभी भी संभाव्य है—आज, अभी या फिर कभी ! पड़ोस में जब पुत्र-जन्म हुआ तो खुशियों के गीत गाए गए, अब जबकि वह जन्म के कुछ समय बाद ही कालधर्म को प्राप्त हो गया है, मातम मनाया जा रहा है। माता-पिता रो रहे हैं, आस-पड़ोस वाले उनके शोक में सहभागी बन रहे हैं, घर वाले व अन्य सम्बन्धी विलाप कर रहे हैं। कुछ जिनका हृदय मजबूत है, वे माता-पिता को धैर्य बँधा रहे हैं।”

श्रेष्ठि-पुत्र ने पूछा—“तब तो माँ दुनिया में जितने भी प्राणी हैं, वे सब एक न एक दिन मृत्यु को प्राप्त होंगे।”

माता ने कहा—“यही सत्य है पुत्र ! जीवन का अंतिम चरण मृत्यु ही है। जन्मा है जो, मरना निश्चित है उसका।”

श्रेष्ठि-पुत्र बोला—“तब तो एक दिन तुम भी सभी को रोता-बिलखता छोड़ घर, परिवार, समाज, दुनिया से मुँह मोड़ लोगी ?”

माता बोली—“बेटे ! एक दिन तो यह होना ही है।”

श्रेष्ठि-पुत्र ने तब माँ के दिल की धड़कन को तीव्र गति प्रदान करने वाला प्रश्न कर डाला—“क्या मैं भी मरूँगा ?”

प्रश्न को अनसुना कर दिया माँ ने, पर पुनः वही प्रश्न करने पर भाव-विह्वल बनी माँ ने उसके मुँह पर हाथ रखते हुए कहा—“ना, बेटे ना ! ऐसी अशुभ बात मुँह से मत निकाल।”

श्रेष्ठि-पुत्र कहाँ मानने वाला ! बार-बार पूछा उसने—“बता न माँ ! क्या मुझे भी मरना पड़ेगा ?”

विवश माता ने बताया—“हाँ, मेरे लाल ! मरण ही जीवन का चिरन्तन सत्य है। तुम्हारी जितनी आयुष्य है, उतनी आयुष्य भोगकर तुम्हें भी वहीं जाना होगा, जहाँ एक दिन सभी जाते हैं। इस संसार में कोई भी प्राणी अमर नहीं है।”

□ सम्यक् साधना से मिलती है—अमरता

श्रेष्ठि-पुत्र पहले चिन्ता में पड़ा, फिर चिन्तन करने लगा—‘यदि यही सत्य है तो अत्यंत दुःखदायी है यह संसार ! जन्म है तो मरण है और मरने के बाद ? मरने के बाद पुनर्जन्म ! जन्म-मरण-जन्म-मरण-जन्म-मरण.....यह चक्र तो चलता ही रहेगा। क्या कोई उपाय नहीं ऐसा कि यह चक्र न चले ? जन्म-मरण मिट जाँ जहाँ, कोई ऐसी जगह जहाँ केवल सुख ही सुख हो, वह भी ऐसा सुख जो एक बार आकर फिर कभी कहीं जाए नहीं.....।’

चिन्तन की धारा एक बार जन्म-मरण काटने की ओर मुड़ी तो चलती रही, पर उपाय कुछ ज्ञात नहीं। अतः फिर माता की छाँह तले आना पड़ा। पूछा माता से—“अमर बनने का कोई उपाय तो होगा ? क्या कोई ऐसा तरीका नहीं कि मृत्यु से बचा जा सके ? किसी न किसी तरह जन्म-मरण का चक्र मिटता तो होगा ?”

अपने पुत्र की यह बात सुन माता का दिल धक्-धक् करने लगा। कहीं यह विरक्त न बन जाए ? इस पर भी उस वीर माता ने बालक की जिज्ञासा का समुचित समाधान करते हुए कहा—“उपाय तो है बेटा ! जन्म-मरण का चक्र मिटाने और अमरत्व प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है—‘सम्यक्-चारित्र साधना।’ निरतिचार चारित्र का दृढ़ता से पालन करते हुए जीव कर्मबंधन को काटकर जन्म-मरण मिटा सकता है, अमरत्व प्राप्त कर सकता है, मुक्तात्मा बन सकता है।”

पुत्र द्वारा साधना करने का विधि-विधान पूछे जाने पर माता ने कहा—“लाल ! अर्हन्त प्रभु अरिष्टनेमि उस साधना-पथ के पूर्ण ज्ञाता हैं। वे ही समर्थ हैं साधना-जगत् के समस्त रहस्यों, विधि-विधानों को बताने में।” (यह वर्णन कथा भाग में मिलता है)

□ माता के नाम से पुत्र की पहचान : युगीन संस्कृति की महती विशिष्टता

बंधुओं ! एक सहज जिज्ञासा अब तक बन चुकी होगी आप सभी के मन में कि कौन था वह श्रेष्ठि-पुत्र ? कौन थी वह माता ?

उस बालक की माता का नाम थावच्चा था और पूरा नगर उन्हें थावच्चा गाथापत्नी कहकर उनका सम्मान करता था। लगता है उस काल में पितृकुल परम्परा के साथ ही मातृकुल परम्परा को भी पूर्ण सम्मान प्राप्त था। यही कारण है कि श्रेष्ठि-पुत्र का

आगमोल्लेखित नाम माता के नाम पर ही मिलता है, अर्थात् श्रेष्ठि-पुत्र का नाम था थावच्चा-पुत्र।

□ थावच्चा-पुत्र का पाणिग्रहण

थावच्चा-पुत्र जब युवा हुआ तो बत्तीस श्रेष्ठ कुल की सुन्दर श्रेष्ठि-कुमारिकाओं के साथ उसका पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न किया गया। भोग-समर्थ उस आयु में थावच्चा-पुत्र अपनी उन इन्द्राणियों के समान सुन्दर पत्नियों के साथ भोग भोगने लगा। विपुल भोग-सामग्री का स्वामी था वह। अतः ऐश्वर्य और समृद्धि के बीच भोग-विलास में दिन व्यतीत होने लगे।

□ अर्हत् अरिष्टनेमि का द्वारिका पदार्पण

एक बार स्वर्गलोक की अलकापुरी के समान सुन्दर, कुबेर द्वारा निर्मित, सुवर्ण एवं मणि-माणिक्य से बनी नौ योजन लम्बी और बारह योजन चौड़ी द्वारिका नगरी में अर्हत् अरिष्टनेमि भगवन् का अपने हजारों साधु-साध्वी के साथ पदार्पण हुआ। प्रभु गिरनार पर्वत के निकट नन्दनवन उद्यान के सुरप्रिय यक्षायतन में विराजे और विशाल अशोक-वृक्ष के तले साधनारत हो गए।

□ प्रभु की धर्मदेशना : थावच्चा-पुत्र को वैराग्य-रंग

प्रभु आगमन का सन्देश पाकर द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण अपने प्रिय विजय-गंध-हस्ती पर आरूढ़ होकर वृहत् परिवार के साथ समुद्रविजय आदि दशों दशार्ह, सोलह हजार मुकुट बंध राजाओं, साढ़े तीन करोड़ राजकुमारों, साठ हजार दुर्दान्त योद्धाओं, बत्तीस हजार रानियों आदि से घिरे चतुरंगिनी सेना सजाकर प्रभु वन्दन के लिए नन्दनवन उद्यान में आए। वहाँ विराजमान प्रभु को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमन किया और धर्मदेशना श्रवण करने हेतु समवसरण में बैठ गए।

द्वारिका नगरी के अन्यान्य नागरिकों से प्रभु आगमन का सन्देश सुनकर थावच्चा गाथापत्नी भी अपने पुत्र एवं पुत्र-वधुओं के साथ समवसरण में धर्मदेशना श्रवण करने आईं। थावच्चा-पुत्र ने भी प्रभु का उद्बोधन सुना। प्रभु ने अपने उद्बोधन में श्रुतधर्म और चारित्र धर्म का कथन करते हुए बताया कि किस प्रकार जीव कर्मों से बद्ध होते

हैं, किस प्रकार वे संक्लेश को प्राप्त होते हैं और किस प्रकार वे मुक्त होते हैं। प्रभु की धर्मदेशना सुनकर, यथार्थ जानकर, उसमें प्रतीति करते हुए थावच्चा-पुत्र ने हृदय में उसे धारण किया। उसे जन्म-मरण व संसार के प्रति भय उत्पन्न हुआ, वैराग्य का रंग लगा और ऐसा लगा कि संयम-पथ पर चलने की चाह उत्पन्न हो गई।

□ माता से दीक्षानुमति की याचना

बत्तीस सुन्दर, सुकुमार एवं युवा पत्नियों का स्वामी, विपुल ऐश्वर्य के बीच पलने वाला, विपुल वैभव एवं भोग-सामग्री को भोगने वाला नवयुवक प्रभु के एक प्रवचन से ही विरक्त बन गया, दीक्षा की कामना करने लगा, घर आकर माता से दीक्षा की अनुमति का याचक बन कहने लगा—“मातेश्वरी ! यह संसार दावानल है, मैं इस दावानल की ज्वाला में जलने से बचना चाहता हूँ, मुझे संयम के पथ पर अग्रसर होने की आज्ञा प्रदान करें।”

□ अत्यंत प्रेरक एवं उत्कृष्ट वैराग्य प्रसंग

बंधुओं ! थावच्चा गाथापत्नी यद्यपि अत्यंत समृद्ध और विपुल वैभव की स्वामिनी थी, अपने समाज में उसकी महनीय प्रतिष्ठा और पूर्ण प्रभाव था, इस पर भी उसके मन में धर्म की ज्योति जगमगा रही थी। वह अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु पर अटूट श्रद्धा रखने वाली, जिनवाणी को हृदयंगम करने वाली, जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों की ज्ञाता एक आदर्श सुश्राविका थी। सत्य ही है जहाँ सम्यग्ज्ञान हो, वहीं सम्यक् श्रद्धा विराजित होती है। जहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं, वहाँ श्रद्धा मिथ्या होती है।

कैसा उत्कृष्ट, कितना श्रेष्ठ, कितना प्रेरक है यह वैराग्य प्रसंग ! क्या है आपके पास उसकी तुलना में ? कुछ भी तो नहीं ! पर आपसे वह भी नहीं छूटता। रंग लगता ही नहीं आपको। कोरे घड़े पर छींटा लगे तो लगे पर चिकने घड़े पर छींटा भला कैसे ठहरे ?

माता थावच्चा अपने संयम-प्रार्थी युवा पुत्र से कहती है—“हे लाल ! तू मेरे कुल का एकाकी दीपक है, तू मेरे जीवन का एक मात्र सहारा है, तू ही तो मेरे बुढ़ापे की लकड़ी है। तू ही मुझे छोड़कर चला गया तो मेरा क्या होगा ?” उस माता ने अपने

लाल को अनेक प्रलोभन दिए, धन-वैभव, विषय-भोग आदि के प्रति आकृष्ट करना चाहा, संसार के प्रति रिझाने के अनेक प्रयत्न किए, पर थावच्चा-पुत्र पूर्णतः वैराग्य के रंग में पक्का रँग चुका था। उसने माता की ये बातें सुनकर प्रभु की धर्मदेशना में सुनी संसार की नश्वरता, धन-वैभव एवं विषय-भोगों की भयानकता, भोगों के दुष्परिणाम, रिश्ते-नातों के अस्थायित्वपन आदि अनेक बातें माता से कहीं और समझाया उसे कि केवल संयम ही सुखदायी है, शान्ति-प्रदायक है। अतः वे दीक्षा की अनुमति प्रदान करें।

□ माता द्वारा दीक्षानुमति

माता ने देख लिया कि मेरा लाल अब इस संसार की मोह-माया में उलझा रहने वाला नहीं है। उसने समझ लिया कि न तो विपुल वैभव या भोगोपभोग उसे घर में रोके रह सकते हैं, न यह अपनी बत्तीस-बत्तीस सुन्दरियों की सुन्दरता, भाव-भंगिमा व आकर्षण में फँसा रह सकता है। अतः अंतरेच्छा न होते हुए भी उस महनीया वीर माता ने उसे दीक्षानुमति प्रदान कर दी, पर साथ ही यह भी कह दिया कि मैं तुम्हारी दीक्षा का विशाल महोत्सव आयोजित करना चाहती हूँ, उस महोत्सव को देखना चाहती हूँ।

□ वासुदेव श्रीकृष्ण से माता द्वारा राज्य-चिह्नों की माँग

दीक्षा महोत्सव की तैयारियाँ प्रारंभ हुईं। माता थावच्चा स्वयं द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण से भेंट करने पहुँची। थावच्चा गाथापत्नी ने त्रिखंडाधिपति के समक्ष उचित भेंट-सामग्री प्रस्तुत की और बोली—“महाराज ! मेरा अत्यंत प्रियकारी इकलौता पुत्र संसार की नश्वरता एवं जन्म-मरण की भयानकता से उद्विग्न बनकर अर्हत् अरिष्टनेमि प्रभु के पास प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता है। आपके राज्य में उसकी महाभिनिष्क्रमण यात्रा आप ही की मान-मर्यादा के अनुकूल आयोजित हो, इस विचार से मैं चाहती हूँ कि यात्रा-प्रारंभ से दीक्षा-स्थल तक वह राज्य-प्रदत्त छत्र, चामर और मुकुट धारण करे।

□ श्रीकृष्ण द्वारा दीक्षोत्सव-आयोजन की सहमति

बंधुओं ! सम्यक् दृष्टि जीवों के लिए दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण की बात अत्यंत प्रसन्नता की हेतु होती है, पर यदि प्राणी मिथ्यादृष्टि का धारक है तो उसे ऐसी बात रुचती नहीं।

वह ऐसे कृत्यों की, समारोहों की, उत्सवों की निन्दा करता है। श्रीकृष्ण वासुदेव ने जब एक माता के मुँह से उसके युवा पुत्र के दीक्षित होने की भावना सुनी तो वे अत्यंत प्रमुदित हुए और बोले—“हे देवानुप्रिये ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मुझ पर विश्वास रखो। मैं स्वयं ही तुम्हारे पुत्र का दीक्षा महोत्सव सम्पन्न कराऊँगा।”

□ त्रिखंडाधिपति थे पर विनय की मूर्ति थे श्रीकृष्ण

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण वासुदेव स्वयं थावच्चा गाथापत्नी के भवन में गए। उन्होंने थावच्चा-पुत्र की दीक्षा-भावना को सर्वोच्च माना। वे स्वयं त्रिखंडाधिपति थे, पर विनय एवं सरलता की मूर्ति बन थावच्चा-पुत्र के पास गए, लेशमात्र भी अभिमान नहीं कि मैं राजा, वासुदेव, अर्द्ध-चक्री, त्रिखंडाधिपति होकर एक सामान्य से गृहस्थ के घर क्यों जाऊँ ? आज का आदमी क्या इस विनय-भाव, इस सरलता, इस निरभिमानता का स्पर्श भी कर सकता है? साधारण स्थिति का कोई व्यक्ति मिलने आया हो तो ढंग से बात करना भी बड़े आदमी, धनवान आदमी, ओहदेदार आदमी अपना अपमान समझते हैं। एक प्रसंग मैंने सुना था, आपको भी सुना देता हूँ।

□ वर्तमान में न विनय है, न बड़ों का आदर

एक ग्रामीण कृषक माता-पिता ने अपने पुत्र को बड़ी कठिनाई के साथ अपने ही ग्राम के स्कूल में पढ़ाया। अपर प्राइमरी अर्थात् मिडिल तक की शिक्षा समाप्त हो गई तो उसे शहरी स्कूल में भर्ती कराया। पहले से उसकी शिक्षा पर आठ-दस गुना खर्च आने लगा, पर कृषक दम्पति ने कभी कोई चाँदी का आभूषण बेचा, कभी घर के पुराने भारी बर्तन बेचे और उसे पढ़ाया। जब वह कॉलेज में आया तब भी उसकी शिक्षा जारी रखी, गाँव में महाजन से सूद पर पैसा लेकर वह कृषक अपने बच्चे को पढ़ाता रहा। परिणाम यह हुआ कि बच्चा जो अब युवक बन गया था, उसकी शिक्षा, उच्च शिक्षा के लिए खेत गिरवी चला गया।

□ पिता ने कलेक्टर के योग्य बनाया पर.....

कृषक-पुत्र पढ़ने में प्रतिभावान था। आई. ए. एस. (इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन सर्विसेज अर्थात् 'भारतीय प्रशासनिक सेवा') के कम्पीटीटिव एक्जाम्स में बैठा,

हजारों में जो थोड़े से गिनती के परीक्षार्थी उत्तीर्ण हुए, उनमें एक वह कृषक-पुत्र भी था। पुत्र को कलेक्टर के पद पर नियुक्ति मिल गई। अब वह एक बड़े शहर का सर्वोच्च राज्याधिकारी, अर्थात् एक जिले का मालिक हो-ऐसा अधिकारी बन गया। पिता प्रसन्न था कि उसने अपने एकमात्र पुत्र को पूरे जिले का मालिक, कलेक्टर बना दिया।

□ कलेक्टर-पुत्र ने पिता को अपना घरेलू नौकर बताया

एक दिन अपने कलेक्टर-बेटे से उसका कृषक-पिता मिलने हेतु गाँव से शहर आया। पुत्र इतने दिन आया नहीं था। अतः पिता का हृदय माना नहीं। माता का दिल भी उसकी खबर, उसकी सुख-सुविधा-स्वास्थ्य के समाचार जानने को उत्सुक था। अतः कृषक को शहर भेज दिया। गर्मी के दिन, चिलचिलाती धूप, ग्राम से शहर ६-१० किलोमीटर दूर, पैदल चलना, शहर जाने का अन्य साधन था नहीं। शहर आकर थकान से चूर, ग्रीष्मोष्णता से संतप्त कृषक पूछताछ करते कलेक्टर-बेटे के सरकारी बंगले में पहुँचा। अन्दर ड्राइंगरूम में कलेक्टर साहब अपने मातहत अधिकारियों से कुछ प्रशासनिक सलाह-मशविरा कर रहे थे। पिता को द्वार पर चपरासी ने रोक दिया तथा स्वयं पूछने के लिए अंदर गया। कहा कलेक्टर साहब को कि एक ग्रामीण व्यक्ति मिलना चाहता है। कलेक्टर साहब ने मिलने की तब अनुमति नहीं दी।

बहुत देर तक जब अन्दर से आवाजें आती रहीं और कृषक-ग्रामीण को अंदर नहीं बुलाया गया तो कृषक को क्रोध आ गया। वह चपरासी को एक तरफ कर सीधा कमरे में चला गया। कलेक्टर चौंका, देखा व्यक्ति को, पहचान गया कि मेरे पिता हैं पर बोला—“अरे ! तुम अंदर कैसे आ गए ? अभी ठहरो थोड़ी देर बाहर। जरूरी मीटिंग चल रही है फिर तुम्हारी बात सुनूँगा।”

पिता हैरान, भौंचक्का, आश्चर्यचकित रह गया। सोचा—‘इसने तो मुझे पहचानकर भी नहीं पहचानने का सलूक किया है। इसकी तो आँखों का पानी ही मर गया है। अब तो इससे कोई बात करना ही व्यर्थ है।’ यही सब सोचकर वह बिना कुछ कहे बाहर जाने की सोच रहा था कि एक अफसर ने पूछा—“कौन है यह बदतमीज व्यक्ति ?”

कलेक्टर-पुत्र ने कहा—“है कोई ग्रामीण ! पहले मेरे यहाँ नौकरी करता था—घरेलू नौकर था।” कृषक-पिता ने पुत्र के मुँह से निकले ये शब्द सुने तो उसका हृदय रो पड़ा, उसकी आँखें सावण-भादों की तरह बरसने लगीं। मामूली-सा कलेक्टर का पद पर अहं-भाव देखा, अविनय देखा। आप ही कहिए कौन था वास्तव में बदतमीज, बेटा या बाप ? कलेक्टर या कृषक ? शिक्षित या अशिक्षित ?

□ यही अभिमान चार गतियों में रुलाता है

बंधुओं ! यह अहं, यह घमण्ड, यह मान, यह अविनय जीव को चार गतियों में अनंत-अनंतकाल तक रुलाने वाला है। संसार के परिभ्रमण का अनहद विस्तार करने वाला है। संसार यदि परित्त करना है, घटाना है संसार-परिभ्रमण, पार होना है संसार-सागर से तो क्रोध, मान, माया, लोभ; इन चार कषायों को कम कीजिए, इन्हें नष्ट कीजिए। व्यक्ति चारित्र्य ग्रहण कर अणगार धर्म में दीक्षित बन संयमी-साधु हो जाता है पर यदि कषायों को पतला नहीं करता तो वह सच्चा संयमी नहीं है। वह द्रव्य-संयमी तो है पर भाव-संयमी नहीं। जीवनभर वह यदि संयम का पालन करे तो भी देवलोक से आगे उसकी गति नहीं होती।

□ श्रीकृष्ण द्वारा थावच्चा-पुत्र के वैराग्य की परख

सम्यक्त्वी वासुदेव श्रीकृष्ण की कषाएँ कुछ अंशों में पतली हो चुकी थीं। वे जानते थे कि थावच्चा-पुत्र दीक्षा लेगा और वे माता थावच्चा को विश्वास भी दिला चुके थे कि दीक्षा का समस्त समारोह वे आयोजित करेंगे। इस पर भी थावच्चा गाथापत्नी के घर पहुँचकर वे थावच्चा-पुत्र की मानसिक स्थिति को परखते हैं, जिससे यह जाना जा सके कि उसके मन में उत्पन्न वैराग्य-भाव वास्तविक और दृढ़ है या नहीं।

□ विपुल भोग भोगने का आमंत्रण

कृष्ण ने कहा—“हे थावच्चा-पुत्र ! तुम इस युवा वय में मुँडित होकर प्रव्रज्या क्यों ले रहे हो ? तुम्हें क्या कष्ट है यहाँ ? यदि कोई कष्ट है तो तुम मेरी छत्र-छाया में आकर निर्भय होकर रहो और मानव के भोग योग्य विपुल कामभोगों को भोगो।”

□ “मरण-भय से मुक्ति दिला दें मुझे”-कहा थावच्चा-पुत्र ने

थावच्चा-पुत्र बोला-“राजन् ! यदि आप मुझे मरण के भय से मुक्ति दिला दें तथा शरीर को अशक्त, निर्बल बनाकर, रूप-सौन्दर्य का नाश करने वाली वृद्धावस्था को रोक दें तो मैं आपने जैसा कहा, वैसा करने को तैयार हूँ।”

□ कृष्ण असहाय थे, असमर्थ थे

कृष्ण बोले-“यह कैसे संभव है ? जरा और मरण को तो मानव क्या, देवता भी नहीं रोक सकते। निज कर्मों का भोग तो देवताओं, तीर्थकरों को भी भोगना पड़ता है। हाँ, साधक बनकर साधना के द्वारा नवीन कर्मबंध को रोककर पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय किया जा सकता है।”

□ खरे उतरे श्रीकृष्ण की परख में थावच्चा-पुत्र

कृष्ण के इन वचनों को सुन थावच्चा-पुत्र ने मुस्कराते हुए कहा-“हे राजन् ! इसी कारण मैं संयम का पथ ग्रहण कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की साधना करता हुआ पूर्व संचित कर्म क्षय करना चाहता हूँ।”

बंधुओं ! पारिवारिक क्लेशों से घबराकर, गरीबी से तंग आकर, सांसारिक झंझटों से त्रस्त बनकर दीक्षा नहीं ली जा रही थी और न अच्छा खाने, पहनने या सम्मान प्राप्त करने के लिए अथवा पूजा की अभिलाषा, जय-जयकार की इच्छा से ही प्रव्रज्या स्वीकार की जा रही थी, वहाँ तो हृदय में किरमिची रंग का पक्का विरक्ति-भाव था। मसानिया वैराग्य होता तो डिगना मामूली बात होती। श्रीकृष्ण ने जान लिया, समझ लिया कि विरक्ति क्षणिक नहीं है। बंधुओं ! मुनि-जीवन में दीक्षित बनने का अर्थ है जीवनभर की उग्र साधना। साधना में सफलता कब मिलती है ? जब वैराग्य परिपक्व हो, वास्तविक हो, अन्तर् के गहन अंतस्तल तक उतरा हुआ हो।

□ श्रीकृष्ण की घोषणा, दीक्षा के लिए जन-जन को प्रेरणा

थावच्चा-पुत्र के उत्तर से सन्तुष्ट हो श्रीकृष्ण वासुदेव ने द्वारिका नगरी में स्थान-स्थान पर उद्घोषणा करवाई कि थावच्चा-पुत्र अरिहंत अरिष्टनेमि के पास मुंडित होकर प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे। जो भी नागरिक, श्रेष्ठजन, राज्याधिकारी, राज-परिवार के लोग, सेना के

सैनिक या अधिकारी या अन्य कोई उनके साथ दीक्षित होंगे तो उनके पीछे जो भी पारिवारिक जन, सम्बन्धी, मित्र, ज्ञाति आदि के भरण-पोषण, संरक्षण का उत्तरदायित्व द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज वहन करेंगे।

□ थावच्चा-पुत्र के साथ एक हजार पुरुष दीक्षित

यह घोषणा सुनकर थावच्चा-पुत्र से प्रेम (अनुराग) रखने वाले, उनसे अनुरक्ति रखने वाले, उनसे अटूट मैत्रीभाव रखने वाले एक हजार पुरुष दीक्षा के लिए तैयार हो गए। श्रीकृष्ण महाराज ने उन सभी दीक्षार्थी-पुरुषों का बहुत बड़ा महोत्सव आयोजित किया। अनेक प्रकार के विभिन्न समारोह हुए। दीक्षा के शुभ दिन थावच्चा-पुत्र ने उन एक हजार पुरुषों के साथ मेघकुमार की तरह (दीक्षा महोत्सव, अभिनिष्क्रमण आदि अपेक्षा) अरिहंत अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

□ धर्म की उत्कृष्ट दलाली की थी वासुदेव श्रीकृष्ण ने

बंधुओं ! श्रीकृष्ण महाराज ने जीवन में कभी एक सामायिक भी नहीं की, पर उन्होंने सामायिक करने वालों, चरित्र ग्रहण करने वालों, धार्मिक अनुष्ठानों आदि की दलाली में ही जीवन व्यतीत किया और इसी दलाली में तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया। मेरे मन्तव्य में आज आप जिस तरह सामायिक करते हैं, उस सामायिक के साथ-साथ दूसरों को भी सामायिक के लिए प्रेरित कर उन्हें सम्यक् सामायिक करने के लिए कटिबद्ध कर दें तो और अधिक लाभ मिल सकेगा। आप तो व्यापारी हैं, जानते ही होंगे कि दलाल के तो दोनों हाथ लड्डू लगते हैं। आप तो पूँजी लगाकर व्यापार प्रारम्भ करते हैं, पर दलाल बिना पूँजी लगाए कमाता है। आपको व्यापार में हानि भी हो सकती है, पर दलाल को कभी हानि नहीं होती। वह तो क्रेता से भी दलाली लेता है और विक्रेता से भी दलाली वसूल करता है। ऐसे ही डबल धर्म-लाभ के लिए आप भी धर्म-दलाली कर सकते हैं, पर धर्म-दलाली आपसे होती नहीं, रुचि नहीं है आपकी डबल धर्म-लाभ में। आप तो नाटक, सिनेमा, पिकनिक आदि के लिए मित्रों, पारिवारिकजनों, अन्यान्य लोगों को तैयार कर पापकर्म में दलाली का पार्ट अदा कर सकते हैं और करते भी हैं। कई व्यक्ति हैं जिन्हें सगाई, ब्याह-शादी, लड़के-लड़कियों का सम्बन्ध कराने में ही आनंद आता है। वे नहीं जानते कि वे ऐसा करके कितने

महान् पाप के भागी व्यर्थ ही में बन जाते हैं। खेद इस बात का भी है कि प्रेरणा पाकर ऐसे कार्यों में साथ देने वाले हजारों मिल जायेंगे, पर धर्म-कार्यों की प्रेरणा यदि कोई देता है तो अब्बल तो प्रेरित व्यक्ति हाँ भरता नहीं, स्वीकृति देता नहीं और हाँ भर भी ले तो समय पर साथ बिरले ही चलते हैं।

□ मुनि थावच्चा-पुत्र शैलकपुर में

कालान्तर में मुनि थावच्चा-पुत्र ने अरिहंत अरिष्टनेमि के स्थविरों के निकट रहकर ज्ञानार्जन किया, अनेक आगमों का अध्ययन किया, चौदह पूर्वों का ज्ञान अन्तर् में सँजोया और उपवास, बेला, तेला आदि अनेक तप करते हुए विचरने लगे। थावच्चा-पुत्र मुनि ने एक बार किसी समय अरिहंत अरिष्टनेमि को वंदना-नमस्कार करके निवेदन किया—“प्रभो ! आपकी आज्ञा मिलने पर एक हजार साधुओं के साथ मैं जनपदों में विहार करना चाहता हूँ।” प्रभु ने प्रत्युत्तर दिया—“देवानुप्रिय, जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा को सुख उत्पन्न हो वैसा करो।” प्रभु की आज्ञा प्राप्त करके वे एक हजार साधुओं के साथ विभिन्न ग्राम-नगरों में विचरण करने लगे। अनेक जनपदों में पद-विहार करते हुए मुनि थावच्चा-पुत्र ने सहस्रों भविजीवों को बोधिरत्न प्रदान किया। शैलकपुर के नरेश शैलक ने अपनी रानी पद्मावती, युवराज मंडुक और पाँच सौ मंत्रियों के साथ थावच्चा-पुत्र मुनि का धर्मोपदेश श्रवण किया और श्रावक-धर्म के बारह व्रत अंगीकार किये। शैलक नरेश ने मुनिवर से जीवादि नौ तत्त्वों का ज्ञान सीखा। शैलक के पाँच सौ मंत्री भी श्रावक-व्रत धारण कर श्रमणोपासक बने।

□ सौगंधिका नगरी में : “शौचमूलक धर्म, धर्म नहीं है”

वहाँ से विहार कर अनेक अन्य ग्राम-नगरों में जिनवाणी की ज्योति जलाते हुए थावच्चा-पुत्र मुनि सौगंधिका नगरी पधारे। नगरी के नीलाशोक उद्यान में शुक-परिव्राजक द्वारा धर्मोपदिष्ट शौचमूलक धर्म को मानने वाले सुदर्शन श्रेष्ठि को प्रतिबोध दिया। मुनिवर ने उसे विनयमूलक चारित्र-धर्म की व्याख्या बताई, आगार और अणगार धर्म के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला। मुनिवर ने सुदर्शन से कहा—“हे सुदर्शन ! तुम्हारे गुरु ने जो शौचमूलक धर्म के सिद्धान्त बताए हैं, वे जीवन को सफल बनाने वाले नहीं हैं। वे निरर्थक हैं, अधिक पाप में डुबोने वाले हैं।”

□ सुदर्शन द्वारा श्रावक-व्रत धारण

सुदर्शन थावच्चा मुनि से प्रतिबोधित हुआ। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किए और वह श्रमणोपासक बन गया। उसने भी जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया। वह निर्ग्रन्थ श्रमणों के प्रति पूर्ण श्रद्धावान बन उन्हें आहारादि का दान देते हुए निर्मल धर्मयुक्त जीवन व्यतीत करने लगा।

□ शुक-संन्यासी का मुनि थावच्चा-पुत्र से शास्त्रार्थ

सुदर्शन के पूर्व धर्मगुरु शुक-संन्यासी ने जब यह सुना कि उसका प्रिय शिष्य सुदर्शन उसके द्वारा बताए गए शौचमूलक धर्म सिद्धान्तों को त्यागकर विनयमूलक धर्म अंगीकार कर श्रमणोपासक बन गया है तो वह शुक-संन्यासी अपने एक सहस्र परिव्राजकों के साथ सौर्गधिका पहुँचा। सुदर्शन के यह कहने पर कि “थावच्चा-पुत्र मुनि ने मुझे विनयमूलक धर्म बताया और वह मुझे सत्य लगा। अतः मैंने शौचमूलक धर्म का त्याग कर दिया है।” शुक-संन्यासी सुदर्शन को साथ लेकर शास्त्रार्थ करने थावच्चा-पुत्र मुनि के पास गया।

शुक-परिव्राजक, उसके एक हजार शिष्य और श्रमणोपासक सुदर्शन जहाँ मुनिवर विराजमान हैं, वहाँ आकर खड़े हो जाते हैं। सुदर्शन वन्दना करता है। शुक-परिव्राजक थावच्चा-पुत्र मुनि से अनेक प्रश्न करता है और मुनि उनका उचित एवं संतोषजनक समाधान देते हुए कहते हैं—“हे शुक ! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम आदि योगों से षट्काय (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति आदि पाँच स्थावर व छठा त्रस) के जीवों की यतना करना ही हमारी यात्रा है।” शुक ने पृच्छा की—“यापनीय कितने प्रकार की है ?”

तब थावच्चा मुनि ने कहा—“शुक ! यापनीय दो प्रकार के कहे गए हैं—इन्द्रिय यापनीय और नोइन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन; इन पाँच इन्द्रियों को पूर्णतः नियन्त्रण में रखना ही इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय-चतुष्क को क्षीण, उपशांत करना, ऐसे प्रयत्न करना कि वे उदय में न आएँ—यह है नोइन्द्रिय यापनीय।” हम मुनिजन पाँचों इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हुए क्रोधादि कषाय-चतुष्क को उपशांत बनाने, क्षीण करने के लिए सदैव पल-पल प्रयत्नशील

रहते हैं। शुक ने पुनः अव्याबाध एवं प्रासुक विहार के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब मुनिश्री ने इस प्रकार समाधान किया—

“शुक ! जो वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि से सम्बन्धित रोग और मरणांतक व्याधियाँ हैं, उनको उदय में नहीं आने देने के हमारे प्रयत्न ही हमारे अव्याबाध हैं।

“और हे शुक ! हम जो बाग-बगीचों में, चैत्यों या यक्ष-मंदिरों में, प्याऊ आदि स्थानों में, स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित स्थानकों में वापस लौटा देने योग्य पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि ग्रहण करके विचरते हैं, वह हमारा प्रासुक विहार है।”

मुनि थावच्चा-पुत्र के समाधान से संतुष्ट बने शुक परिव्राजक ने तब द्वेषभावनावश सरिसवया (पुत्र), कुलथ्था (नारी), मासा (माँस, मछली) आदि के बारे में प्रश्न करते हुए पूछा कि “ये भक्ष्य हैं या अभक्ष्य ?”

मुनिवर ने प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख करते हुए कहा कि पुत्र, नारी, माँस आदि तो अभक्ष्य ही हैं एवं सरिसवया-सरसों धान्य, कुलथ्था-कुलथ धान्य, मासा-उड़द। अर्थात् धान्य सरसों, कुलथ और उड़द अशस्त्रपरिणत हों तो वे भी मुनि के लिये अकल्प्य हैं। धान्य सरसों, कुलथ, उड़द शस्त्रपरिणत होने पर कल्पनीय हैं।

इस पर शुक-परिव्राजक ने अपना अगला प्रश्न मुनिजी के सम्मुख रखते हुए पूछा—“मुनि श्रेष्ठ ! आप एक हैं, दो हैं या अनेक हैं ? क्या आप अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं ? क्या आप भूत, भाव और भावी वाले हैं ?” इस प्रश्न के पूछने में शुक-परिव्राजक का अभिप्राय यह था कि मुनि यदि इनमें से किसी एक की बात करेंगे तो मैं खंडन कर दूँगा, इस तरह मेरा पक्ष मजबूत बन जायेगा।

बंधुओं ! यदि मुनि कहते हैं कि मैं एक हूँ तो यह पूर्ण रूप से सत्य नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान और शरीर के अवयव अनेक होने से आत्मा की अनेकता का प्रतिपादन भी किया जा सकता है। द्वित्व स्वीकार करने पर ‘अहम्’ प्रत्यय से होने वाली एकता की प्रतीति से आत्मा एक है—ऐसा सिद्ध किया जा सकता है। यही बात अन्य पक्षों के लिए भी है, पर थावच्चा-पुत्र तो जिनधर्म के प्ररूपक थे। वे तो अनेकान्तवाद को लेकर ही अपनी बात का प्रतिपादन करना उचित समझते थे। अतः

बोले—“हे शुक ! मैं द्रव्य की अपेक्षा से एक हूँ। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से दो भी हूँ। प्रदेशों की अपेक्षा से अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूँ। मैं उपयोग की अपेक्षा से भूत (अतीत), भाव (वर्तमान) और भावी (भविष्य) भी हूँ, क्योंकि मैं अनित्य हूँ।”

□ शुक का एक सहस्र शिष्यों के साथ जिनधर्म में दीक्षा अंगीकार करना

शरीर-शुद्धि अर्थात् शौचमूलक धर्म की अयथार्थता एवं निर्ग्रन्थ-जिनधर्म की सत्यता का बोध हो जाने पर शुक-परिव्राजक अपने एक हजार शिष्यों के साथ थावच्चा-पुत्र मुनि के निकट मुंडित हो प्रव्रजित हो जाता है। दीक्षित होकर सभी मुनि सामायिक से प्रारंभ कर चौदह पूर्वों का ज्ञानार्जन करते हैं और शुद्ध संयम का पालन करते हुए साधना-पथ पर निरन्तर अग्रसर हो जाते हैं। बाद में इन्हीं शुक मुनि के पास शैलक नरेश अपने पाँच सौ मंत्रियों के साथ दीक्षा अंगीकार करते हैं।

□ मुनि थावच्चा-पुत्र बने मोक्षाधिकारी

थावच्चा-पुत्र मुनि साधना-पथ पर विहार-विचरण करते हुए, जन-जन को जिनधर्म का प्रतिबोध देते हुए अंतिम समय निकट आने पर एक सहस्र श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर्वत पर जाकर स्वच्छ श्याम रंग के शिलापट्ट का प्रतिलेखन कर संलेखना करते हैं, आहार-पानी का त्याग कर पादोपगमन संथारा अंगीकार करते हैं और एक मास का समय व्यतीत हो जाने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त करते हैं। आयुष्य पूर्ण होने पर वे परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, सर्वदुःखों का अन्त करते हैं, संसार-परिभ्रमण से छुटकारा प्राप्त करते हैं, समस्त कर्मबंधनों को काटकर मोक्ष-स्थल पर जा विराजते हैं।

□ शुक-मुनि को मोक्ष

शैलक अनगार को पंथक आदि पाँच सौ अनगारों सहित अलग विहार-विचरण की आज्ञा देकर शुक-मुनि भी अनेक वर्षों तक धर्म-प्रचार करते हैं। कालान्तर में अपना अंतिम समय निकट जानकर वे भी पुंडरीक (शत्रुंजय) पर्वत पर अपने शिष्य-समुदाय सहित जाकर शिलापट्टक का प्रतिलेखन कर एक मास की संलेखना से अपनी आत्मा को भावित करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनते हैं।

□ शरीर-साधक नहीं, आत्म-साधक बनिए

बंधुओं ! प्राणिमात्र का अंतिम ध्येय है-मुक्ति, मोक्ष, जन्म-मरण से छुटकारा। आत्म-विशुद्धि से प्राप्त होती है मुक्ति। अपने अंतिम ध्येय की प्राप्ति में दृढ़ बनिए और शरीर के स्थान पर आत्माभिमुख बनकर अपने आप को मिथ्यात्व से समकित में लाते हुए, समस्त शंका-कांक्षा-वित्तिगिच्छा-परपाषंडप्रशंसा-परपाषंडसंस्तव रूप समकित के दूषणों को त्यागकर साधना के पथ पर एक-एक कदम आगे बढ़ते हुए मंजिल-प्राप्ति के निकट पहुँचते जाइए। जीवन की यही सफलता होगी और इसी सफलता में मिलेगा शाश्वत सुख, स्थायी शान्ति, सर्वदुःखों से मुक्ति।

आनंद ही आनंद !



आराधक होईने-कीधो खेवो पार (2)

(शैलक-पंथक)

आत्म-बंधुओं !

परम पावनी तीर्थकर वाणी जगत्-जीवन के समस्त रहस्यों का उद्घाटन करने वाली है। दार्शनिकों के लिए जन्म और मरण, संसार और मोक्ष, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म—ये सभी रहस्य के तत्त्व हैं; इन सभी तथ्यों का यथार्थ विवेचन जिनवाणी में मिलेगा। धर्म की परिभाषा करते हुए इस वाणी में बताया गया है कि “**धारयति इति धर्मः।**” अर्थात् जो धारण करता है, वह धर्म है। प्रश्न उठता है कि धारण किसे किया जाए। मनीषियों ने बताया कि जो दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण करे, उनकी दुर्गति को रोके वह धर्म है। तात्पर्य यह कि धर्म की शरण में आने वाला जीव दुर्गति में नहीं जाता है।

ग्रन्थों में “**वत्सु सहावो धम्मो**” कहकर वस्तु के स्वभाव को धर्म बताया है। जिस पदार्थ का, प्राणी का जैसा स्वभाव होना चाहिए, उसमें जैसे गुण प्रकृत्या होने चाहिए, उस स्वभाव या उन गुणों का उसमें होना धर्म है। आप यहाँ जितने भी श्रोता हैं, मानव जाति में आते हैं। क्या है मानव का स्वभाव ? क्या है मानवीय गुण ? मानव का स्वभाव है मानवता, मानवीय गुणों को धारण करना। यही है उसका आत्म-धर्म। जहाँ मानवता है वहाँ मानव, मानव है; जहाँ मानवता नहीं वहाँ मानव, मानव नहीं, दानव भी हो सकता है अथवा पशु के समान भी बन सकता है।

□ **स्वभाव धर्म है और विभाव अधर्म**

आप आत्म-धर्मा हैं और आत्मा के गुण हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र। यदि आप इन रत्नत्रयी रूप आत्मा के निज गुणों में स्थित हैं, सुस्थित हैं, दृढ़ हैं तो निश्चय ही मुक्ति के द्वार आपके लिए खुले हैं; उस मुक्ति का द्वार जो आपका और हमारा परम व चरम ध्येय है। इसके विपरीत आप यदि अपने स्वभाव में स्थित नहीं हैं,

विभावास्था में पड़े हैं, भटक रहे हैं अज्ञानांधकार में तो नरकादिक अंतहीन महापीड़ाकारी योनियों के द्वारा आपका स्वागत हो सकता है।

बंधुओं ! अपने स्वभाव में स्थित होकर, धर्म को धारण करके भी यदि कोई जीव धर्म से, स्वभाव से, आत्मिक गुणों से गिरता है और पर-धर्म, पर-भाव, पर-गुणों में उलझता है; जीव है लेकिन पुद्गलों की ओर दौड़ता है तो यह विभाव है, निज गुणों से विपरीतता है। अतः ऐसी स्थिति में अशुभ एवं घनघाति कर्मबंध होना, आत्मा का ज्ञानावरण आदि से आवृत होना साधारण बात है।

□ विनय धर्म का मूल है

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के पाँचवें अध्ययन में सांख्य-दर्शन के आचार्य शुकदेव के परमानुयायी सुदर्शन ने थावच्चा-पुत्र मुनि से प्रश्न किया कि “भंते ! आपके धर्म का मूल क्या है ?”

प्रश्न के समाधान में थावच्चा-पुत्र मुनि ने बताया—“विणयमूले धम्मे पण्णत्ते।” अर्थात् जिसके मूल में विनय हो वही धर्म कहा जाता है। जहाँ विनय नहीं वहाँ धर्म नहीं। मूल ही नहीं तो वृक्ष पनपेगा कैसे ? आपकी भाषा में कहूँ यदि मूल ही नहीं तो ब्याज आयेगा कहाँ से ? मूल का अर्थ है आधार। आधार ही नहीं जिसका वह टिकेगा कहाँ ? भव्य भवन की नींव दृढ़ नहीं तो भवन गिर सकता है। वृक्ष को खड़ा रहना है, विकास करना है, आँधी-तूफानों में गिरना नहीं है तो आधार-रूप जड़ें मजबूत चाहिए। वही बात धर्म के लिए भी है।

□ धर्माचरण के दो पथ : अगार-धर्म एवं अणगार-धर्म

तीर्थकर वाणी में मुक्ति-प्राप्ति के लिए जीवन में धर्माचरण के दो पथ दर्शाए हैं—पहला पथ वह है जिस पर आप श्रोता श्रावक-श्राविकाएँ चल रहे हैं, अर्थात् अगार-धर्म और दूसरा वह जिस पर हम धर्मोपदेशक, आपके धर्मगुरु चल रहे हैं, अर्थात् अणगार-धर्म। ‘अगार’ शब्द का अर्थ है—घर। दूसरा प्रचलित शब्द है—आगार, जिसका अर्थ है—छूट। आगमवाणी को जीवन-व्यवहार में जब कोई व्यक्ति आगार सहित छूट रखते हुए, आंशिक रूप में ग्रहण करता है तो वह अगार-धर्म को ग्रहण करने वाला होता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि जिसका अपना किसी एक या एक से अधिक स्थान पर एक या एकाधिक स्थायी घर हों, निवास-स्थान हों, उसमें रहकर वह गृह-धर्म का निर्वहन करता हो, अर्थात् गृहस्थ हो तो वह अगार-धर्म का पालक होता है।

□ अणगार-धर्म विशेष कठिन है

अगार-धर्म की अपेक्षा अणगार-धर्म कठिन है। 'संजम रो मारग दोहिलो', 'संयम खांडे री धार' आदि कथनों से स्पष्ट है कि संयम-धर्म, मुनि-धर्म, अणगार-धर्म का पालन सहज नहीं है। अणगार-धर्म पालकों के लिए कोई निश्चित आवास कहीं पर नहीं होता, साथ ही वे जो भी व्रत, नियम, आचार जीवन में व्यवहृत करते हैं, उसका मन-वचन-काय से पालन करते हैं और जिन पापपूर्ण सावद्य वृत्तियों का त्याग करते हैं, त्याग के बाद न स्वयं वे पापकार्य करते हैं, न दूसरों से कराते हैं और न पापकर्म करने वालों की अनुशंसा, अनुमोदना ही करते हैं, अर्थात् उनके अपने धार्मिक व्रतों में किसी तरह की छूट नहीं होती।

□ विराधक को सद्गति नहीं

धर्म चाहे अणगार हो या आगार, पर उसे अपनाकर धारण करने के पश्चात् उसमें शिथिल बनना, उससे गिरना, च्युत होना, विचलित होना संसार की अनंत वृद्धि का कारण बनता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की, जिनसे ज्ञानादि की प्राप्ति हुई ऐसे सद्गुरुओं की और दर्शन व चारित्रिक गुणों की विराधना करने वाला विराधक जीव चाहे अगार-धर्म का पालक हो या अणगार-धर्म साधक कभी सद्गति प्राप्त नहीं करता। विराधक की गति तो है ही अनंत संसार-भ्रमण।

'बड़ी साधु वन्दना' का भाव-स्मरण, पठन और पाठन, कथन और श्रवण विराधक से आराधक बनाने में सक्षम है और जो आराधक हैं उन्हें विराधक नहीं बनने देती, इसकी शक्ति ऐसी ही है। विगत प्रवचन में मुनि थावच्चा-पुत्र का प्रसंग चला था, उसी प्रसंग के निरन्तरण में शैलक मुनि और शुक संन्यासी के प्रसंग का कुछ-कुछ विवेचन आया था। आज इन्हीं का विस्तृत प्रसंग चलेगा।

□ राजा शैलक और उसके पाँच सौ बुद्धिमान मंत्री

शैलकपुर नामक नगर के राजा का नाक शैलक था। पद्मावती उसकी सुन्दर, सुशीला रानी थी और युवराज था मंडूक नाम का राजकुमार। राजा के पंथक आदि पाँच सौ मंत्री थे, जो औत्पतिकी, वैनयिकी, पारिणामिकी तथा कार्मिकी—इन चारों प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न थे।

बंधुओं ! बुद्धि का सम्बन्ध है मतिज्ञान से। मतिज्ञान के मूल रूप में दो भेद हैं—एक श्रुतनिश्चित और दूसरा अश्रुतनिश्चित। श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक संस्कार के आधार या

निमित्त से जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है पर वर्तमान में श्रुतनिरपेक्ष होता है, वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहलाता है। जिस मतिज्ञान में श्रुतज्ञान के संस्कार की तनिक-सी भी अपेक्षा नहीं रहती, वह अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहलाता है।

□ बुद्धि के चार प्रकार

औत्पतिकी आदि चारों प्रकार की जिन बुद्धियों के नाम अभी मैंने आपके समक्ष रखे, वे चारों ही बुद्धियाँ अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान में आती हैं। क्या हैं ये चारों बुद्धियाँ, इसे भी जान लीजिए।

(१) औत्पतिकी बुद्धि—ऐसी सूझ-बूझ जो विषम से विषम समस्या के आ जाने पर भी तत्क्षण उसका समाधान खोज ले और पूर्व में 'कभी न देखे, न सुने हुए'—ऐसे किसी भी विषय को एकदम समझ ले।

(२) वैनयिकी बुद्धि—वह बुद्धि जो विनय से प्राप्त हो।

(३) पारिणामिकी बुद्धि—उम्र की परिपक्वता से जीवन के विभिन्न अनुभवों द्वारा प्राप्त बुद्धि।

(४) कार्मिकी बुद्धि—कोई भी कार्य जो पुनः-पुनः किया जाए और इस तरह बार-बार एक ही तरह के कार्य करने से जो अत्यधिक लम्बा अभ्यास होता है, उसके कारण प्राप्त होने वाली बुद्धि। ऐसा भी कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ द्वारा जो बुद्धि प्राप्त होती है, वह कार्मिकी होती है।

□ राजा व मंत्रियों का श्रावक-व्रत अंगीकार करना

इस तरह की चारों बुद्धियों से सम्पन्न पाँच सौ मंत्रियों के साथ शैलक नरेश एक समय थावच्चा-पुत्र मुनि के शैलकपुर पधारने पर उनके धर्मोपदेश से प्रभावित हो, श्रावक के बारह व्रतों को धारण करता है और कहता है—“मुनिवर ! मेरा मन संयम के पथ पर अग्रसर होने की दिशा में गति कर गया, लेकिन मैं अभी दीक्षा लेने में समर्थ नहीं हूँ। श्रावकधर्म का दृढ़ता से पालन करते हुए उचित अवसर आने पर दीक्षा का भाव रखता हूँ।”

□ सुश्रावक शैलक नरेश द्वारा श्रमण-धर्म अंगीकार

बंधुओं ! थावच्चा-पुत्र मुनि के मोक्षगमन के पश्चात् उन्हीं से दीक्षित शुक मुनि एक बार अपने एक सहस्र शिष्यों के साथ शैलकपुर आते हैं। दृढ़धर्मी सुश्रावक शैलक

नरेश उन्हें वन्दन हेतु आता है और वहाँ धर्मोपदेश सुनता है। वैराग्य का अंकुर का वपन तो पूर्व में हो ही चुका था, इस समय तक अंकुरित वह पौधा फल देने की क्षमता में आ गया। शैलक नरेश ने अपने पाँच सौ बुद्धिमान मंत्रियों के साथ शुक मुनि के निकट दीक्षा अंगीकार की। समय आने पर शुक मुनि ने शैलक मुनि को इन पाँच सौ शिष्य मुनियों के साथ पृथक् विचरण की आज्ञा प्रदान की।

□ राजर्षि दाह-खाज से पीड़ित

शैलक ऋषि इस तरह अपने पाँच सौ शिष्यों के समुदाय सहित विभिन्न जनपदों में विचरण कर जिनवाणी का प्रसार करने लगे। बहुत समय पश्चात् किसी एक दिन शैलक ऋषि रोगग्रस्त हो गए। उनके समस्त शरीर, सारे अंगोपांगों में दाह और खाज हो गई। तन-बदन में रह-रहकर दाह का तीव्र ताप सताने लगा, सारा शरीर जलन से सुलगने लगा। इधर धीरे-धीरे खुजली से प्राप्त वेदना भी तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम बन दुसह्य होने लगी। शैलक राजर्षि उस रोगातंक से अत्यंत निर्बल, कृश, शुष्क शरीर बन गए।

□ मंडूक नरेश द्वारा चिकित्सा-लाभ की याचना

ऐसी रुग्णावस्था में भी आत्म-बल प्रबल था और यही कारण था कि उनका पद-विहार चलता रहा, वे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। जहाँ जैसी सुविधा होती, श्रमण-मर्यादा में रहकर वे वैसी चिकित्सा करवा लेते। इस तरह विहार-क्रम में एक बार उनका पदार्पण शैलकपुर में हुआ। यहाँ वे सुभूमिभाग नामक उद्यान में विराजे।

राजर्षि के पधारने का सन्देश शैलकपुर नरेश मंडूक के पास पहुँचा। राजा मंडूक सपरिवार राजर्षि के दर्शनार्थ आया। वन्दन-नमन करते हुए उन्हें इस तरह निर्बल, कृश, रुग्ण देखा तो मुनियों से कारण पूछा। उनसे सारा विवरण जानकर राजा मंडूक ने संसार-पक्षीय पिता का महत् पद रखने वाले शैलक राजर्षि से निवेदन किया—
“मुनिवर ! आप स्वीकृति दें तो मैं आपकी श्रमण-मर्यादानुरूप चिकित्सा का यथोचित प्रबंध करूँ।”

□ चिकित्सा सफल : राजर्षि रोग-मुक्त

राजर्षि ने स्वीकृति प्रदान कर दी। राजा मंडूक ने अनेक विशिष्ट वैद्यों व चिकित्सकों से मुनि के शरीर का परीक्षण करवाया। सभी की सलाह से राजर्षि के लिए श्रमणचर्या के योग्य औषध-भेषज की व्यवस्था की गई। निस्तेज शरीर को शक्ति प्रदान करने के

लिए शक्तिवर्धक, पौष्टिक एवं गरिष्ठ अशन-पान आदि का भी प्रबंध किया गया। इन सब में एक पेय पदार्थ ऐसा भी दिया गया जो आसव युक्त शक्तिवर्धक था।

समुचित चिकित्सा एवं पौष्टिक भोजन व पेय के प्रभाव से राजर्षि का रोगातंक शरीर धीरे-धीरे स्वस्थ व सबल होने लगा। एक दिन उनका रोग पूर्णतः जाता रहा, शरीर पुनः हृष्ट-पुष्ट और पहले से भी अधिक सशक्त, सबल, कान्तिमान बन गया।

□ तन तो स्वस्थ पर मन अस्वस्थ.....

रोग तो समूल नष्ट हो गया, पर मन बीमार पड़ गया। तन तो सशक्त, सबल, तेजवान हो गया, पर आत्मा निर्बल-अशक्त और प्रभाहीन बन गई। स्वस्थ होने के बाद भी राजर्षि की आसक्ति गरिष्ठ भोजन व पौष्टिक पेय में बनी रह गई। जिन पदार्थों का सेवन पहले उन्हें दवा के रूप में कराया जाता था, अब उन्हीं पदार्थों का सेवन वे स्वादासक्ति के वशीभूत करने लगे। रुग्णता के कारण वे श्रमणचर्या की जिन दैनिक क्रियाओं को विवशता में नहीं कर पाते थे, अब उन्हीं धार्मिक अनिवार्य क्रियाओं को न करना उनकी प्रकृति बन गई। उनका श्रमणाचार छूट गया। वे शिथिलाचारी बन गए। वे प्रमादी हो गए। 'खाओ, पीओ, मौज करो'—उनका जीवनादर्श बन गया। जनपद-विहार में समर्थ होते हुए भी उन्होंने अपने को असमर्थ बताया और एक ही स्थान पर रहने लगे।

□ शिष्यों को विहार की अनुज्ञा

पंथक मुनि आदि सभी ५०० शिष्यों ने एक दिन चिन्तन किया। इस तरह एक स्थान पर ठहरने से सभी को दोष लगने की संभावना रहती है। गुरुदेव प्रमत्त बन गये हैं। हमारे में से किसी एक को उनकी सेवा में रहकर शेष सभी को निर्दोष संयम पालना हेतु कल प्रातःकाल यहाँ से विहार कर देना चाहिए। दूसरे दिन प्रातःकाल सभी की सहमति से पंथक मुनि शैलक राजर्षि की सेवा में रुके तथा शेष सभी शिष्य गुरु की अनुज्ञा लेकर अप्रमत्त विचरण करने लगे।

□ पंथक मुनि द्वारा चातुर्मासिक प्रतिक्रमण

चातुर्मास का समय आया। श्रमण-मर्यादा है—चातुर्मास में एक ही स्थान पर ठहरकर साधना करने की। श्रावण से प्रारम्भ होता है—जैन चातुर्मास।

चातुर्मास व्यतीत होने लगा। कार्तिकी चौमासी का दिवस भी आ गया। संध्या के समय पंथक मुनि चौमासी प्रतिक्रमण कर क्षमापना के लिए उनके निकट आए। शैलक

तो आहार-पानी करके, गरिष्ठ सुस्वादिष्ट पेय पदार्थ का कुछ अधिक मात्रा में सेवन करके आलस्य की मदमस्ती में डूबे निद्राधीन थे। पंथक मुनि ने जब उनके चरणों से अपने मस्तक का स्पर्श किया तो उनकी निद्रा भंग हो गई। वे अत्यधिक क्रुद्ध हुए और बोले—“अरे दुष्ट ! क्यों मेरे सुख में बाधा पहुँचा रहा है ? क्यों मेरी नींद खराब कर रहा है ? लगता है तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।”

□ मुनि पंथक का विनय एवं सहनशीलता

पंथक मुनि को खेद हुआ कि उसके कारण गुरुदेव को आज कष्ट हुआ। गुरुदेव व्यथित हो रहे हैं और आवेश में आ गए हैं। अत्यंत विनयपूर्वक वह बोला—“गुरुदेव ! आज चातुर्मासिक प्रतिक्रमण था। प्रतिक्रमण के पश्चात् क्षमापना हेतु मैंने अपना मस्तक आपके चरणों में रखा था। स्पर्श के कारण आपको कष्ट हुआ, आपके आराम में बाधा पहुँची, इसके लिए मुझे बहुत खेद है। मैं अपनी आज तक की आसातना के लिए और आज के इस कष्ट के लिए हृदय से क्षमाप्रार्थी हूँ। आप विशाल हृदय हैं। मुझे क्षमा प्रदान करें।”

□ गुरु के प्रति विनय : तब और अब.....

बंधुओं ! कहाँ तो उस समय के वे पंथक मुनि जैसे विनीत शिष्य-संत और कहाँ वर्तमान युग के शिष्य-संत ! वर्तमान में कोई गुरु यदि बिना किसी भूल या अपराध के इस तरह के वचन या अन्य किन्हीं शब्दों में शिष्य की ताड़ना-प्रताड़ना कर दे तो.....?

बंधुओं ! वह चौथा आरा था, बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु का शासनकाल था। उस समय के मानव प्रकृति से ही प्रज्ञावान और सरल स्वभावी होते थे। साधकों के व्रत दूषित उस समय भी होते थे, पर दोष लगते ही या ज्ञात होते ही अंतःकरण से पश्चात्ताप कर प्रायश्चित्त ले लेते और निःशल्य बन जाते थे। जो ऐसा नहीं करते, वे बिरले सैकड़ों-हजारों में एकाध होते थे, पर वे भी उचित अवसर आने पर संभल जाते थे, अपने को संभाल लेते थे।

अब जरा नजर डालिए वर्तमान पर, क्या हो रहा है आज ? दोष पर दोष लग रहे हैं और प्रकट हो जाएँ तो उन्हें छिपाने के लिए, स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए एडी से चोटी तक का जोर लगा देते हैं। कहलाते हैं निर्ग्रन्थ पर अनेक ग्रन्थियाँ साथ लिए चलते हैं। वक्रता इतनी कि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म सिद्ध करने से भी नहीं चूकते। मुनि-धर्म का पालन करते हैं एक रत्ती और दिखावा करते हैं सवा सोलह

आना। महावीर के चरण-चिह्नों पर चलने का दावा करने वाले संयम-पथ के पथिक निर्ग्रन्थ-भगवंतों की क्रियाओं में आज अनेक स्थानों पर आडम्बर ही आडम्बर घुस गया है, मुनि-जीवन भी आज अन्दर से कुछ और है और बाहर से कुछ और।

□ राजर्षि शैलक सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में

प्रतिक्रमण के पश्चात् क्षमायाचना के लिए गुरु के चरण-स्पर्श से क्रुद्ध बने गुरु को जब पंथक मुनि ने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की बात कही तो शैलक राजर्षि की सुषुप्त आत्मा को विद्युत्-तरंग जैसा एक झटका लगा। वे जागे, उनकी आत्मा जागी, उनका चिन्तन जागा। जाग्रतावस्था में प्रवेश करते ही राजर्षि विचार करने लगे-‘मैं श्रमण हूँ, निर्ग्रन्थ हूँ। मुझे इस तरह स्वाद में आसक्त और प्रमत्त बनकर बिना कारण एक जगह स्थिरवास करना कल्पता नहीं। मैंने संयम-पथ पर अग्रसर होते समय राज्य, परिवार, ऐश्वर्य, भोग आदि का पूर्ण त्याग कर संयम धारण किया, पर आज मैं अपने श्रमण-आचार से च्युत बन शिथिलाचारी हो चुका हूँ। मुझे यह सब छोड़ना होगा, मुझे आसक्ति को निकाल फेंकना होगा, मुझे प्रमादी अवस्था से बाहर आकर अप्रमत्त बनना होगा। बहुत सो लिया मैं, अब मुझे जागना होगा। मैं कल ही मंडूक नरेश की आज्ञा पुनः उसे संभलाकर यहाँ से विहार कर दूँगा।’

दूसरे दिन राजर्षि शैलक ने जैसा सोचा था, वैसा ही किया। पंथक मुनि के अतिरिक्त शेष जिन चार सौ निन्यानवें शिष्य-मुनियों ने गुरु को छोड़कर अलग विहार किया था, उन्होंने जब गुरुदेव की जागृति और विहार का सन्देश सुना तो सभी अत्यंत हर्षित हुए। कुछ काल पश्चात् वे सभी पुनः राजर्षि शैलक के पास पहुँच गए और उन्हीं के साथ-साथ विचरण करने लगे। पंथक मुनि तो राजर्षि के साथ थे ही।

□ राजर्षि शैलक व उनके सभी शिष्यों को मिली-मुक्ति

तत्पश्चात् अनेक वर्षों तक निरतिचार संयम का पालन कर आयुष्य के अंतिम काल में वे सभी पुंडरीक (शत्रुंजय) पर्वत पर आए और थावच्चा-पुत्र मुनि की भाँति संलेखना-संधारा कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

आनंद ही आनंद !

अविचलित मन ही मुक्ति का सोपान

(जिनपाल-जिनरक्षित)

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय शंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि॥

आत्म-बंधुओं !

अद्भुत भक्ति रस से भरा भक्तामर स्तोत्र का एक पद है यह। भक्तामर के सभी अड़तालीस श्लोकों में तीर्थकर भगवन्त का गुण-कीर्तन किया गया है। इस पद में तीर्थकर प्रभु को बुद्ध, शिव और विधाता बताकर उनके विराट् व्यक्तित्व को पुरुषोत्तम के रूप में व्यक्त किया है।

□ तीर्थकर बुद्ध हैं : शिव और विधाता हैं

क्यों कहा तीर्थकर-प्रभु को बुद्ध ? इसलिए कि तीर्थकर ही बोध देने वाले हैं, देवता भी उन्हीं से बोध की अर्चना करते हैं। अतः वे बुद्ध हैं।

शिव क्यों कहा गया तीर्थकर-प्रभु को ? क्योंकि वे जगत् का, जन-जन का, प्राणिमात्र का कल्याण करने वाले हैं। 'शि' का अर्थ है कल्याण और 'व' का अर्थ है करने वाला।

तीर्थकर-प्रभु को इस पद की तीसरी पंक्ति में विधाता भी बताया है। वे यथार्थ में विधाता हैं, पर जिस अर्थ में आप विधाता शब्द को जानते-पहचानते हैं, उस अर्थ में नहीं। आपकी दृष्टि में तो विधाता वह जिसने संसार का विधान किया, सृष्टि की रचना की, पदार्थ और जीव जगत् को बनाया। जैन सिद्धान्तों के अनुसार विधाता वह है जो

मोक्ष-मार्ग का, मुक्ति-पथ का विधान करता है और ऐसे विधाता केवल तीर्थकर भगवंत होते हैं।

अन्तिम चरण में कहा स्तुतिकार आचार्य मानतुंगाचार्य ने कि इन तीनों रूपों को (बुद्ध, शिव, विधाता) अपने में समेटे हुए जिस विराट् व्यक्तित्व का मैं कीर्तन कर रहा हूँ, हे तीर्थकर भगवन्त ! वह विराट् रूप तुम्हीं हो।

□ वीतराग-वाणी ही बनाती है वीतरागी

बंधुओं ! वीतराग-वाणी हमें बोध देती है और सन्मार्ग पर लाती है। उस सन्मार्ग पर चलने से आत्मा का कल्याण होता है और एक दिन यह आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन उन्हीं की श्रेणी में जा विराजती है। मुक्ति प्रत्येक जीव का अन्तिम ध्येय है, पर मुक्ति की प्राप्ति सहज नहीं है। जिन महापुरुषों ने वीतरागी बनने के लिए तीर्थकर-वाणी का श्रवण किया, उसका मनन-चिन्तन किया, उसे जीवन-व्यवहार में उतारा; वे महापुरुष संसार-सागर से पार हो गये।

मुनि जिनपाल

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी महाराज ने भी वीतराग-पथ का अनुसरण करते हुए वीतराग-पथ पर चलने वाले पूर्व महापुरुषों की अत्यन्त भाव-विभोर होकर 'बड़ी साधु वंदना' में स्तुति, वंदना की है, गुणगान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र एवं भगवतीसूत्र में वर्णित मुक्ति-प्राप्त अथवा मोक्षगामी आत्माओं के जीवन चरित्र एवं साधना प्रसंग आपने सुने। ज्ञाताधर्मकथांग के प्रसंग चल रहे हैं। महामुनि मेघकुमार तथा थावच्चा-पुत्र, शुकदेव संन्यासी, शैलक ऋषि के वर्णन विगत दो-तीन दिन तक चले थे। आज अति चंचल मन को दृढ़तापूर्वक नियंत्रण में रखने वाले एवं अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भी साहस दिखाने वाले जिनपाल मुनि का प्रसंग चलेगा।

धन जिनपाल मुनिवर, दोग धन्ना हुआ साध।

गया प्रथम देवलोके, मोक्ष जासे आराध॥४५॥

जिनपाल और जिनरक्षित-ये दो भ्राता थे। दोनों चम्पानगरी के निवासी और माकन्दी सार्थवाह के पुत्र थे। इनकी माता का नाम था-भद्रा ! अर्थोपार्जन हेतु दोनों पुत्रों ने ग्यारह बार लवण समुद्र की यात्रा की थी। अच्छा व्यापार कर खूब लाभ कमाया था।

घर में धन की, भोग-साधनोंकी कोई कमी नहीं थी, पर तृष्णा का कोई पार नहीं होता। कहते भी हैं कि ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें अध्ययन की एक गाथा है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्डई।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठयं॥ (उ. ८/१७)

अर्थात् जहाँ लाभ है, वहीं लोभ भी है। लाभ से निरन्तर लोभ की वृद्धि होती रहती है। दो माशा स्वर्ण से सन्तुष्ट होने वाला (कपिल) करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से भी संतुष्ट नहीं हो पाया।

लोभी व्यक्ति को कितना भी दीजिए, वह कभी सन्तुष्ट नहीं होगा।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥ (उ. ८/१६)

प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि धन-धान्य से भरा यह सारा संसार भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाये, तब भी यदि वह लोभी है तो सन्तुष्ट नहीं हो सकता। यह तृष्णा बड़ी दुष्कर, अर्थात् मुश्किल से पूर्ण होने वाली है।

□ तृष्णाओं का अन्त ही सुख है

बंधुओं ! आप कहते तो यह हैं कि धन हाथ का मैल है, पर न तो वह मैल आपके हाथों से छूटता है, न आप उसे छुड़ाना चाहते हैं। आप तो चाहते हैं कि आपके हाथों का यह मैल और अधिक बढ़े। प्रभु महावीर ने कहा—तृष्णाओं का अन्त ही सुख है। इसी बात को कवि-हृदय मारवाड़ के महाराजा जसवन्तसिंहजी ने अपने एक दोहे में प्रकट किया है—

ना सुख काजी पण्डिता, ना सुख भूप भयां।
सुख तो जब ही आवसी, तृष्णा-रोग गयां॥

उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में केशी श्रमण के पूछने पर इन्द्रभूति गणधर गौतम स्वामी उन्हें जो बताते हैं, वह इस प्रकार है—

भवतणहा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।
तमुद्धरित्तु जहाणायं, विहरामि महामुणी॥ (उ. २३/४८)

गौतम बताते हैं कि मैंने तृष्णा की बेल को काटकर अपने दुःखों का अन्त कर लिया। संसार में तृष्णा की अमर बेल ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों दुःख, पीड़ा, कष्ट, रोग, शोक आदि बढ़ते जाते हैं।

जानते आप भी हैं, पर तृष्णा छूटती नहीं। कवि सुन्दरदासजी ने तभी तो कहा है—

जो दस-बीस पचास भए, शत होय हजार तो लख मँगेगी।
कोटि अरब अरु खरब भए, तो धरापति होन की चाह जगेगी॥
स्वर्ग-पताल का राज मिले, तृष्णा तबहू अति आग लगेगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना, नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी॥

□ बारहवीं बार लवण समुद्र की यात्रा

बंधुओं ! यही संसार की रीति है। माकन्दी के दोनों पुत्र जवान हैं, कुछ कर गुजरने की चाह है, अधिक-से-अधिक धन कमाने की कामना है और इसी कामना, इसी तृष्णा, इसी लोभ के वशीभूत बने वे दोनों युवा निश्चय करते हैं कि अब बारहवीं बार लवण समुद्र की यात्रा कर हमें फिर विपुल धनोपार्जन करना चाहिए।

माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया। उन्हें बताया कि हमारे घर में धन-सम्पत्ति इतनी है कि सात पीढ़ियों तक बैठे-बैठे, बिना काम-धंधा किए, बिना अर्थ-उपार्जन किए भी खाते रहें तो कम होने वाली नहीं है। अब क्यों व्यर्थ में अनेक विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण लवण समुद्र की यात्रा करना चाहते हो ? वैसे भी लोक-श्रुति के अनुसार लवण समुद्र की बारहवीं बार की जाने वाली यात्रा निश्चित रूप से कष्टकारी होती है। अतः इस यात्रा का विचार त्याग दो।

बंधुओं ! कहते हैं कि जवानी के जोश में होश कहाँ ? यौवन-मद अंधा होता है। पिता की बातों पर युवा पुत्रों ने कोई ध्यान नहीं दिया। वे अपने जलयानों में विभिन्न प्रकार का माल भरकर लवण समुद्र में यात्रा के लिए निकल गये। ग्यारह बार पूर्व में यात्रा कर चुके थे। अपने अनुभव पर पूरा भरोसा था, पर उन्हें क्या ज्ञात कि प्रकृति अपना काम कर रही है और यह कि उनके भाग्य में इस बार निरापद यात्रा का सुख नहीं है। मारवाड़ में आप सभी मानते हैं कि जाते हुए को पीछे से टोकना अपशकुन है और मना करते हुए जाना भी हितकर नहीं होता।

□ समुद्र में भीषण तूफान

जिनपाल और जिनरक्षित, दोनों समुद्र में काफी दूर निकल आये। चारों तरफ पानी ही पानी। लहरों की ध्वनि के अतिरिक्त पूर्ण निस्तब्धता, मौसम वर्षा का नहीं था, पर अचानक आकाश की रंगत बदली। वह घटाटोप होने लगा। काले-कजरारे मेघ न जाने किधर से, कैसे आकाश में जुड़ने लगे। मेघ-गर्जन और विद्युत्-तर्जन प्रारम्भ हो गया। ज्यों-ज्यों समय आगे सरक रहा था, मेघों की गर्जना में भीषणता बढ़ती जा रही थी। बिजलियों की चकाचौंध प्रतिपल सौ-सौ बार दमककर चमक दिखाती लुप्त हो जाती। स्थिति बद से बदतर बनने लगी। प्रलय का-सा नजारा वहाँ नजर आने लगा, तब जिनपाल का ध्यान पिता के वचनों पर गया। उसने जिनरक्षित से कहा—“पिताजी शायद ठीक ही कहते थे—लवण समुद्र की बारहवीं यात्रा दुष्कर होती है।”

□ अडिग विश्वास

जिनरक्षित ने भ्राता से कहा—“हम कहाँ ऐसे-वैसे तूफानों से घबराने वाले हैं। इन प्रलयकारी संकटों से खेलना हमारे लिए साधारण-सी बात है। तूफान बढ़ता है, जहाज पर संकट मंडराता है तो नावें तैयार हैं। अभी इन भुजाओं में बहुत ताकत है। हारेगा यह समुद्र ही, हम नहीं हार सकते। कदाचित् नावें भी धोखा दे जायें तो भी चिन्ता नहीं, हम अपने बाजुओं के बल पर समुद्र को तैरकर पार करेंगे।”

बंधुओं ! जिनरक्षित के शब्दों में अपार जोश था, पर उस जोश में नादानी थी। युवावस्था होती ही ऐसी है। कविवर दिनकर ने कहा है—

खम ठोक ठेलता है जब नर।
पर्वत के जाते पाँव उखड़।।
मानव जब जोर लगाता है—
पत्थर पानी बन जाता है।।

□ विश्वास चकनाचूर

जिनरक्षित के जोशीले शब्दों की तरंगें अभी वायुमण्डल में छितरा रही थीं कि उनके जलयान तूफान से घिर गये। आकाश तक गर्वोन्नत लहरें जलयान से टकराकर उसे चकनाचूर करने के प्रयत्नों में लग गईं। इन दोनों भाइयों ने भी जब स्थिति को पूर्णतः बिगड़ते अनुभव किया तो जहाज के उस स्थल की ओर चले, जहाँ आपातकाल

के लिए प्रयोग की जाने वाली नावें रखी हुई थीं। वे इन नावों तक पहुँचते, उससे पूर्व ही भयंकर तुमुल ध्वनि करता हुआ तूफान उनके जहाज को छिन्न-भिन्न कर समुद्र के अतल जल में समाधि लेने को डुबाने लगा।

□ तन तैर रहा था, मन पश्चात्ताप में डूब रहा था

दुर्भाग्य में भी कभी भाग्य साथ दे जाता है। जिनपाल व जिनरक्षित उस छिन्न-भिन्न नष्ट होते, समाधि लेते जलयान से समुद्र में छलाँग लगा गये। धनार्जन का व्यवसाय करने का वह सारा नशा जो चम्पानगरी से यात्रारम्भ करते समय था, नष्ट हो चुका था। समाधि लेते हुए जलयान के साथ व्यापार के लिए भरा गया सारा माल उनकी आँखों के समक्ष ही अगाध सिन्धु के असीमित वक्ष-स्थल में समाता चला जा रहा था। उन्हें लगा कि अब हमारा जीवन समाप्त हो रहा है। वे मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे कि 'काश ! पिता की बात हमने मान ली होती।'

□ बाल न बांको करि सके....

समुद्र के बीच निराधार व निरवलम्ब उन दोनों भाइयों को संयोगवश जलयान से टूटकर अलग हुआ लकड़ी का एक बड़ा पाटिया मिल गया। डूबते हुआओं को तिनके का सहारा मिल गया हो जैसे। अब वे दोनों उस पाटिया को पकड़ तैरने लगे। विशाल समुद्र, नन्हा पाटिया और दो मानव। तैरते रहे, तैरते रहे और तीन दिन-रात से तैरते हुए वे किनारे से आ लगे। यह था रत्नद्वीप का समुद्री किनारा ! आयुष्य यदि शेष है तो भयानक-से-भयानक बवण्डर भी मानव का कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जां को आयुष है खड़ो, मार सके नहीं कोया।

बाल न बांको करि सके, जो जग बैरी होया॥

□ रत्नद्वीप की धरती पर

बंधुओं ! दोनों माकंदी-पुत्र रत्नद्वीप की धरती पर पहुँच गये। इस रत्नद्वीप की चारों दिशाओं में चार अत्यन्त मनोरम वनखण्ड थे। द्वीप के मध्य में एक भव्य, विशाल, अति मनोहर, सुदर्शनीय महल था। उस भव्य महल में रत्नद्वीप की देवी निवास करती थी। यह देवी अत्यन्त पापिनी, दुस्साहसिक एवं तुच्छ स्वभाव वाली थी। रत्नद्वीप के किनारे पहुँच दोनों भ्राताओं ने काफी देर तक विश्राम कर अपनी थकान को मिटाया।

थकान मिट जाने पर उन्हें भूख की याद आई। आसपास में गवेषणा कर फलों को ग्रहण कर अपनी बुभुक्षा मिटाई। निकट ही एक बावड़ी देख वहाँ स्नान किया। बावड़ी से बाहर आकर वे एक शिला पर बैठ पूर्व घटनाओं को याद कर चिन्तामग्न हो गये और सोचने लगे—‘अब क्या होगा ? कहाँ हैं हम ? इस द्वीप पर मानव हैं या नहीं ? क्या कभी कोई जहाज इधर से जायेगा ? क्या कोई हमें देखेगा और अपने साथ ले जायेगा ? क्या हम फिर से अपनी जन्म-भूमि के दर्शन पा सकेंगे ? क्या माता-पिता, परिवारीजन हमें पुनः देख सकेंगे ? ऐसा तो नहीं कि इसी सुनसान द्वीप में हमारी समाधि बन जायेगी ?’

□ देवी की धमकी

इधर रत्नद्वीप की उस पापिनी देवी रत्ना ने अपने विभंगज्ञान से उन माकन्दी-पुत्रों को देखा तो तीव्र गति से चलती हुई वहाँ पहुँची और अत्यन्त कुपित बन निष्ठुर, कटुक, अप्रिय शब्दों में कहने लगी—“यह द्वीप मेरे अधीन है। तुम मौत से बचकर यहाँ पहुँचे हो। यदि पुनः मौत नहीं चाहते तो दोनों मेरे साथ चलकर मेरे प्रासाद में रहो, मेरी आज्ञाओं का पालन करते हुए मेरे साथ भोग-विलास का सुख भोगते हुए अपना जीवन बिताओ। यदि तुमने मेरी अवज्ञा की तो तुम्हारा शिरोच्छेद कर दिया जायेगा और इसी द्वीप में तुम्हारी जीवित समाधि बना दी जायेगी।”

□ दोनों भ्राता भोगों में रत

बन्धुओं ! देवी के वचनों से भयभीत बने इन माकन्दी-पुत्रों के पास देवी की आज्ञा-पालन के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं था। अतः इन दोनों ने देवी की बात मान ली। देवी उन्हें अपने प्रासाद में ले गई। इस भव्य प्रासाद में जीवन के योग्य भोगोपभोग सम्बन्धी प्रचुर सामग्री थी। दोनों भाई देवी के चंगुल में फँसे वहाँ भोग भोगने लगे। उस देवी को लवण समुद्र को स्वच्छ रखने के लिए इन्द्र ने नियुक्त कर रखा था। अतः वह नित्य नियत समय पर सफाई करने जाती थी। दोनों माकन्दी-पुत्रों को देवी ने प्रथम दिन ही सफाई-कार्य पर जाते समय चेतावनी भरे शब्दों में कह दिया था कि “वे दोनों देवी की अनुपस्थिति में दक्षिण दिशा को छोड़कर शेष तीनों दिशाओं में स्थित वनखण्डों में जा सकेंगे, घूम-फिर सकेंगे। दक्षिण दिशा वाले वनखण्ड में एक विकराल विषधर रहता है। अतः उधर गये तो उस विषधर के शिकार बन जायेंगे।”

□ शूली ऊपर लटकता पुरुष

दोनों बन्धु तीनों दिशाओं में कई दिन तक घूमे-फिरे, उन वनों की शोभा में खोये रहे। एक दिन दक्षिण दिशा का ध्यान आया। एक तरफ देवी-वचनों (देवी की कही गई बात) का भय और दूसरी तरफ प्रतिबन्ध में छिपा आकर्षण। अन्त में भय पर आकर्षण ने विजय प्राप्त की और वे दोनों एक दिन उस वनखण्ड की ओर चल पड़े। कुछ ही दूर चले होंगे वन में कि तीव्र दुर्गन्ध से उनका जी मिचलाने लगा। नाक पर वस्त्र रखकर आगे बढ़े तो उन्हें शूली पर चढ़ा एक पुरुष दिखाई दिया जो अभी तक कराह रहा था। उस पुरुष की आँखों में अत्यन्त भय समाया हुआ था। उस शूली के नीचे चारों ओर मृत कलेवरों तथा हड्डियों के ढाँचों का ढेर लगा था। दोनों माकन्दी-पुत्र एक बार तो भयभीत हुए फिर साहस का संचार कर एक ने शूली पर चढ़े पुरुष से उसकी उस दुर्दशा का कारण पूछा।

□ देवी के कोप का परिणाम : शूली

बन्धुओं ! जो कुछ उस पुरुष ने बताया उसका सार यही था कि वह काकन्दी का निवासी एक व्यापारी है। व्यापार निमित्त यात्रा कर रहे उसके जलयान के भग्न होकर डूब जाने पर एक लकड़ी की पट्टिका के सहारे वह जैसे-तैसे यहाँ पहुँचा। यहाँ की देवी के कहने पर उसके साथ विपुल काम-भोग भोगने लगा। एक बार किसी छोटे-से अपराध पर अत्यन्त कुपित हो उसी देवी ने उसकी यह दुर्दशा की है।

□ दुर्दशाग्रस्त पुरुष ने बताया सुरक्षा का उपाय

दोनों माकन्दी-पुत्र शूली पर चढ़े पुरुष की ये बातें सुन अति भयभीत हुए कि एक दिन हमारी भी यही दुर्दशा हो सकती है। तभी शूली पर चढ़े पुरुष ने कहा—“तुम्हारी भी किसी दिन निश्चित ही ऐसी दुर्दशा की जायेगी। तुम यदि अपनी दुर्दशा से बचना चाहते हो तो मुझसे एक उपाय सुनो।”

उस पुरुष की यह बात सुनते ही दोनों माकन्दी-पुत्र आश्वस्त होकर धैर्य एवं ध्यानपूर्वक उसकी बात सुनने लगे। उस पुरुष ने बताया कि पूर्व दिशा के वनखण्ड में एक यक्षायतन है। उस यक्षायतन का यक्ष प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन एक नियत समय पर खूब ऊँची आवाज में कहता है कि किसको तारूँ ? किसको पालूँ ?

उस समय यदि कोई कहे कि हमें तारो, हमें पालो, तो वह उनकी देवी से रक्षा कर सुरक्षित रूप से उनको उनकी जन्म-भूमि पर छोड़ आता है। तुम दोनों अच्छे खानदान के पुण्यशाली, साहसी पुरुष लगते हो। तुम अपनी रक्षा के लिए अवश्य प्रयत्नशील बनना। वहाँ जाओ तो यक्ष को विनयपूर्वक नमन-वंदन करना, सेवा-अर्चना करना।”

□ किसे तारूँ, किसे पालूँ ?

उस दिन पूर्णिमा थी। दोनों माकन्दी-पुत्र शूली पर चढ़े उस पुरुष की बातें सुन तीव्र गति से पूर्व दिशा के वनखण्ड में गये। वहाँ यक्षायतन के निकट बनी बावड़ी में स्नान किया। यक्षायतन में जाकर यक्ष के समक्ष नतमस्तक हुए, उत्कृष्ट भावों से पूजार्चना की और सेवा-उपासना करने लगे।

नियत समय पर यक्ष ने कहा—“किसे तारूँ, किसे पालूँ ?”

माकन्दी-पुत्रों ने तुरन्त हाथ जोड़ते हुए कहा—“यक्ष देव ! हमें तारिए, हमें पालिए।”

□ तारूँगा पर विचलित मत बनना

यक्ष ने इन्हें देखा और बोला—“मैं तुम्हें तारूँगा। तुम मेरी पीठ पर सवार होओगे। मैं आकाश में उडूँगा। लवण समुद्र के मध्य में पहुँचने पर वह दुष्टा देवी तीव्र गति से आयेगी और तुम्हें डरायेगी, धमकायेगी, हाव-भाव दिखायेगी, मोहित करेगी, तुम दोनों को येन-केन-प्रकारेण विचलित करना चाहेगी। उस समय तुममें से जो भी विचलित होगा, मैं उसे अपनी पीठ से नीचे गिरा दूँगा। जो अविचलित रहेगा, उसका निस्तार करूँगा।”

इस पर माकन्दी-पुत्रों ने यक्ष को विश्वास दिलाया कि वे दोनों दृढ़ रहेंगे, देवी की बातों में कदापि न आयेंगे।

□ यक्ष पर सवार जिनपालित-जिनरक्षित

यक्ष ने वैक्रिय-समुद्घात करके संख्यात योजन जितने बड़े आकार का अश्व रूप धारण किया और बोला—“मेरी पीठ पर चढ़ जाओ।”

दोनों माकन्दी-पुत्र उस अश्व रूप यक्ष की पीठ पर चढ़ गये। अश्व आकाश में खूब ऊँचाई पर उड़ा और देव-दिव्य गति से लवण समुद्र के बीचोंबीच होकर चम्पानगरी

की ओर उड़ान भरने लगा। इधर लवण समुद्र के चारों तरफ इक्कीस चक्कर लगा, समुद्र के भीतर का तृणादि कचरा निकाल दूर फेंककर स्वच्छता-कार्य पूर्ण हो जाने पर वह देवी पुनः अपने प्रासाद में आई। वहाँ इधर-उधर देखा तो माकन्दी-पुत्र नहीं थे। अवधिज्ञान का प्रयोग करने पर उसे दोनों माकन्दी-पुत्र लवण समुद्र के बीचोंबीच यक्ष की पीठ पर सवार उड़ते दिखाई दिए।

□ देवी द्वारा बहकाना, डराना, लुभाना

बंधुओं ! देवी अत्यन्त क्रुद्ध हुई। विकराल लम्बा-चौड़ा रूप बना, तलवार-ढाल साथ ले दिव्य-देव गति से उड़ान भर शीघ्र ही वहाँ आई, जहाँ माकन्दी-पुत्र थे। उसने पहले अत्यन्त कटु भयानक वचनों से उन्हें डराना चाहा, धमकाकर विचलित करना चाहा, पर यक्ष ने पहले ही सचेत कर दिया था उन्हें। अतः माकन्दी-पुत्र उसकी धमकी पर बिना विचार किये निर्भय रहे।

उन्हें अविचलित देख देवी ने अत्यन्त आकर्षक, शृंगारमय रूप धारण कर उन्हें काम-भोग भोगने, रति क्रीड़ा करने हेतु आमन्त्रित किया। पूर्व में जो मनोवांछित क्रीड़ाएँ कीं, चौपड़-पासे खेले, हास-परिहास किया-उनकी याद दिलाते हुए पुनः साथ चलने की चित्ताकर्षक मनुहारें करने लगी, हाव-भाव-कटाक्ष से मन को मुग्ध बनाने लगी। जब देवी ने अपने हाव-भाव से जिनरक्षित के मन को कुछ शिथिल होते देखा तो बोली-“जिनपालित तो मुझे इतना प्यार नहीं करता था, मुझमें इतनी आसक्ति नहीं रखता था, मुझे इतना नहीं चाहता था, पर हे जिनरक्षित ! तुम तो मुझे अत्यधिक चाहते थे, मैं तुम्हारी अत्यन्त प्रिय थी, इष्ट थी और मुझे भी तुम अत्यधिक प्रिय लगते थे। फिर हे जिनरक्षित ! तुम कैसे मेरा वियोग सहन करोगे? मैं तो तुम्हारे बिना यहाँ विलापात करती, रोती, स्मरण करती मर ही जाऊँगी।”

□ विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः

उसने वैक्रिय-लब्धि का प्रयोग करते हुए अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों की वृष्टि की, विभिन्न आभूषणों के शब्दों को दसों दिशाओं में व्याप्त किया और अनेक प्रकार के मधुर, प्रेमपूर्ण वचन कहते वह उनके पीछे-पीछे चलती रही। बन्धुओं ! मन पर विजय प्राप्त करना सबसे कठिन साधना है। आप्तजनों ने कहा है-

“एगो जिए जिया पंच।” अर्थात् एक (मन) पर विजय कर लो, पाँचों (इन्द्रियों) पर सरलता से विजय प्राप्त हो जायेगी। मन चंचल है, इतना चंचल कि ‘पलक-पलक में और’ ‘अभी धरती पर, अभी आसमान में, अभी सिद्धशिला पर’। मन बड़ा हठीला भी है फिर इसे कैसे जीता जाये ? स्वच्छंद मन पर नियंत्रण कैसे हो ? मन पर नियंत्रण यदि नहीं हो तो इन्द्रियाँ भी बेकाबू हो जाती हैं। इन्द्रियाँ जब विषय-विकारों में अग्रसर होती हैं तो आत्मा पतन के गहन गह्वर में गिरती चली जाती है। कहा है—
“विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।”

□ जिनरक्षित विचलित हुआ अतः मारा गया

बंधुओं ! जिनरक्षित की भी यही दशा हुई। जिनपालित तो हर अवस्था में अविचलित रहा, मन पर उसने कठोर नियंत्रण रखा, पर जिनरक्षित का मन चलित हो गया, चंचल मन ने उसे चलायमान कर दिया, शृंगारमयी, रसभरी, प्रणययुक्त देवी की वाणी ने उसके मन को ऐसा आसक्त बनाया, ऐसा राग-रंजित किया कि उसका समस्त अन्तर्मन देवी के सौन्दर्य, उसके साथ की गई क्रीड़ा व हास-विलास की स्मृतियों में खो गया। मोह एवं अनुराग से विवश बना वह पीछे मुड़कर देवी के मुख को, शरीर को निहारने लगा। ऐसा करके उसने अपनी मृत्यु को आमन्त्रित कर लिया। यक्ष ने अवधिज्ञान से जिनरक्षित की दशा जान ली। देवी-अनुरक्त जिनरक्षित को उसने अपनी पीठ से गिरा दिया।

देवी ने उसे यक्ष की पीठ से गिरते देखा। समुद्र के जल में जाने से पूर्व क्रूरहृदया देवी ने उसे तलवार की नोंक पर झेला और ऊपर की ओर उछाला। जब वह पुनः नीचे आने लगा तब पुनः अपनी तलवार की सुतीक्ष्ण नोंक पर उसे झेल लिया। तलवार की धार से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले तथा खून से भरे जिनरक्षित के अंगोपांग को एक-एक कर आकाश में चारों दिशाओं की ओर इस तरह उछाल दिया जैसे दिशाओं को देवता मान उन्हें बलि दे रही हो।

□ अविचलित जिनपालित चम्पा में

जिनपालित अविचलित रहा। शैलक यक्ष ने उसे चम्पानगरी के बाहर एक उद्यान में उतार दिया। जिनपालित उद्यान से पैदल चलकर नगर के मुख्य मार्गों से होता हुआ

अपने घर पहुँचा। उसने रोते-विलाप करते हुए जिनरक्षित की मृत्यु का समाचार माता-पिता को सुना दिया। माता-पिता ने भी रुदन किया, शोकित हुए, विलाप प्रकट किया। स्वजन-परिजन भी सुनकर आये, सभी ने शोक प्रकट किया। मरण पश्चात् जो-जो लौकिक कार्य रीति-रिवाज के अनुसार किये जाते हैं, वे सभी किये गये।

कुछ काल पश्चात् शोक कम हुआ। धीरे-धीरे शोकरहित बनने पर जिनपालित सांसारिक कार्यों को करने लगा। धन-सम्पत्ति की कोई कमी नहीं। अतः काम-भोगों को भोगता हुआ सुखपूर्वक रहने लगा।

□ मुनि जिनपाल को मिलेगी मुक्ति

एक समय तीर्थंकर भगवान महावीर प्रभु अपने शिष्य-समुदाय सहित चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। जिनपालित प्रभु वन्दनार्थ गया। वहाँ प्रभु की धर्मदेशना सुन वह वैराग्य को प्राप्त हुआ। उसने प्रभु के सन्निकट दीक्षा अंगीकार की। ज्ञान-ध्यान, जप-तप करते हुए मुनि जिनपाल ने अन्तिम समय में एक मास का संलेखना-संधारा किया। मरणोपरान्त उनके जीव ने सौधर्मकल्प देवलोक में देव-भव लिया। वहाँ से च्यवन कर मुनि जिनपाल का जीव महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।

बंधुओं ! आपने अभी जो प्रसंग सुना, उससे एक बात निश्चित है कि प्रतिकूल उपसर्ग तो फिर भी सहन कर लिए जाते हैं, पर अनुकूल उपसर्गों में मानव-मन दृढ़ नहीं रह सकता, अत्यन्त दुष्कर है अनुकूल उपसर्गों को सहन कर समभाव में रहना, अविचलित रहना। साधक चाहे श्रमण हो, चाहे श्रावक हो यदि काम-भोगों को त्यागकर, मर्यादित बनकर पुनः काम-भोगों के आश्रित बनता है, मन चलित करता है वह इस लोक में अप्रतिष्ठित बनता है और परलोक के लिए अनन्त संसार-भ्रमण को बढ़ाता है। साधक को साधना करते हुए आसक्तिरहित बन त्रियोग पर नियन्त्रण करना चाहिए, इसी में उसकी साधना की सफलता है, मुक्ति-प्राप्ति का सुगम पथ है।

आनंद ही आनंद !



दोय धन्ना हुआ साध-मोक्ष जासे आराध

आत्म-बंधुओं !

तीर्थकर भगवन्तों की वाणी इहलोक में भी प्राणिमात्र का उद्धार करने वाली है और परलोक में भी उन्हें कल्याण प्रदान करती है। वह जन्म को सुधारती है, जीवन का निर्माण करती है और मरण को भी सुधारती है। वह संसार में नीतिपूर्वक चलकर सांसारिक-जनों को सम्बन्धों के निर्वाह हेतु विवेक-बुद्धि प्रदान करती है और साथ ही संसार से विरक्ति की भावनाओं का बीजारोपण कर जीव को संयम-पथ पर अग्रसर करते हुए मोक्ष की ओर ले जाती है। अरिहंतों की वाणी में भेद-विज्ञान का विशिष्ट स्थान है।

भेद-विज्ञान किसे कहते हैं ? मन में यह सहज जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। सीधा-सा समाधान है कि जिस विज्ञान द्वारा शरीर, इन्द्रियों से मन को हटाकर आत्म-रमण में ध्यान लगाने की शिक्षा दी जाये। बन्धुओं ! जन-साधारण जिन कार्यों को करें, वे साधारण कार्य होते हैं, पर जिन्हें जन-साधारण बहुधा न कर सकें, वे विशिष्ट महत्त्व के कार्य होते हैं और उन्हें कुछ ही विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति सम्पादित कर पाते हैं। संस्कृत में एक श्लोक आता है :

आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समाना।

□ शरीर से आत्मा भिन्न है

आहार करना, निद्रा लेना आदि ये शरीर के कार्य हैं। इनसे शरीर पलता, बढ़ता, पुष्ट व सन्तुष्ट होता है, पर जैसा कि बताया गया है, शरीर एक अलग तत्त्व है और आत्मा अलग तत्त्व। शरीर का नाश होता है, जबकि आत्मा अविनाशी है। शरीर जड़-पुद्गल है, अनित्य है, पर आत्मा तो चैतन्य है, प्राणवान है, नित्य है। शरीर का

पालन व पोषण साधारण से साधारण प्राणी भी करता ही है। फिर साधारण प्राणी व मानव में अन्तर क्या ? बंधुओं ! साधारण प्राणी शरीर से आगे किसी चीज को नहीं मानता, जबकि ज्ञानी मानव, शरीर से भिन्न आत्मा को ही परम तत्त्व मानता है।

□ दोय धन्ना हुआ साध

चल रहा है आपके समक्ष उन महानात्माओं का वर्णन, जिन्होंने आत्मा को परम तत्त्व मानकर अपने भीतर में रमण किया, शरीर के पालन-पोषण को गौण मानते हुए आत्मा के पालन-पोषण को मुख्यता दी और धर्म-तत्त्व के द्वारा आत्म-तत्त्व को पाला-पोसा। आत्म-रमण, आत्म-चिन्तन करते हुए जिन्होंने उत्कृष्ट शुद्ध भावों के साथ सिद्ध गति प्राप्त की।

धन जिनपाल मुनिवर, दोय धन्ना हुआ साध।

गया प्रथम देवलोक, मोक्ष जासे आराध॥४५॥

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी महाराज रचित 'बड़ी साधु वन्दना' के पैतालीसवें पद में वर्णित जिनपाल मुनि का प्रसंग आपने कल सुना था। इसी पद में 'धन्ना' नाम के दो साधकों का उल्लेख आया है। आइये, आज आप यह जानें कि कौन थे ये धन्ना ? क्या आदर्श थे इनके जीवन जीने के ढंग में ?

□ सांसारिक सुखों की मान्यता

प्रथम धन्य और द्वितीय धन्ना, दोनों ही राजगृह के निवासी थे। दोनों ही सार्थवाह थे और 'धन्य सार्थवाह' के नाम से लोगों में जाने जाते थे। एक धन्य सार्थवाह की पत्नी का नाम भद्रा था। अत्यन्त समृद्धशाली, निपुण व्यवसायी एवं समाज में प्रतिष्ठित होने पर भी एक कमी धन्य सार्थवाह को नित्य शूल की भाँति हृदय में खटकती, टीस दे रही थी। वह निस्संतान था। कहते हैं सातों सुख सभी को प्राप्त नहीं होते। पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर में हो माया, तीसरा सुख पुत्र आज्ञाकारी, चौथा सुख मिले सुशीला नारी। बात यहाँ आज्ञाकारी पुत्र होने की आई है, पर जहाँ पुत्र ही नहीं हो, वहाँ सुख कैसा ?

□ स्त्री की दुर्बलता पुरुष में

बन्धुओं ! आदमी और उसमें भी विशेषकर हमारी ये माताएँ, बहनें संतान-प्राप्ति के लिए कितनी लालायित रहती हैं। सन्तान में भी उन्हें पुत्र की तीव्रेच्छा बनी रहती है।

स्वयं वे स्त्री हैं, पर ध्यान उनका पुरुष-केन्द्रित, चाह उनकी पुत्र की और समर्पण पुरुष के प्रति। उनकी इसी दुर्बलता से समाज में नारी-शोषण की परम्परा रही है और आगे भी शायद रहेगी।

□ पुत्र-प्राप्ति

धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा तो केवल सन्तान चाहती थी, चाहे पुत्र हो या पुत्री, पर कुछ तो हो, कूँख तो फले, बन्ध्या तो न कही जाए। सन्तान के लिए उसने अनेक मनौतियाँ मानीं, कई देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना की, तान्त्रिकों व मान्त्रिकों के पास भी गई। जब संयोग मिला सन्तान का, तो उसे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पिता प्रसन्न, माता प्रसन्न। यह तो लोक-रीति है, आपके यहाँ भी पुत्र, पौत्र हो तो थाली बजती है, बधाई-गीत गाये जाते हैं, देवी-देवताओं को भोग लगाया जाता है, पारिवारिक-जन व इष्ट-मित्रादि बधाई देने आते हैं, आप अपनी खुशियों को 'प्रीति-भोज' का आयोजन कर सब पर प्रकट करते हैं, बाई-बेटियों को भेंट-उपहार देते हैं। उन्होंने भी अपने युग के अनुसार परम्पराओं का अवश्य निर्वाह किया होगा।

□ नामकरण—'देवदत्त'

बन्धुओं ! माता ने तो उस पुत्र को देवी-देवताओं की कृपा का प्रसाद ही समझा था। अतः जब नामकरण का समय आया तो उसका नाम रखा गया 'देवदत्त' अर्थात् देवताओं का दिया हुआ। बड़े प्यार-दुलार से उसका पालन-पोषण हुआ। धीरे-धीरे वह शिशुपन से बाल्यपन की ओर बढ़ गया। एक दिन उस बालक देवदत्त को उसकी माता ने नहलाया, गीला शरीर पोंछा, तेल-कंधी की, काजल-टीकी की, धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहनाए, स्वर्ण के अनेक आभूषणों से उसे अलंकृत किया।

आयु भी खेलने-कूदने की, हँसने-रोने की, रूठने-मनने की। माता को अनेक घरेलू कार्यों को देखना होता है, बालक तब तक खिलौने से खेलता है या हम-उम्र बालकों के साथ खेलने के लिए बाहर चला जाता है। माता भद्रा ने भी उसे बाहर खेलने हेतु जाने दिया, पर साथ में सुरक्षा की दृष्टि से गृह-दास पंथक को भेज दिया।

□ गृह-दास पंथक और बालक देवदत्त

पंथक नाम का वह दास स्वयं सर्वांग सुन्दर था, अति चंचल स्वभाव का था, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला था। सबसे बड़ा गुण उसका यह था कि वह बालकों को खेल

खिलाने में अत्यन्त निपुण था। प्रारम्भ से वही देवदत्त को अन्य बालकों के साथ खिलाने हेतु लाया करता था। देवदत्त को वह प्रतिदिन विभिन्न प्रकार से खिलाकर रिझाता था। कभी वह देवदत्त को कमर में गोदी ले लेता, कभी गले में फूलों के हार की तरह लटका लेता, कभी कंधे पर सुलाकर दोनों भुजाओं से जकड़ लेता था। इसी तरह कई बार दूसरे अनेक बालक-बालिकाओं के मध्य खेलने के लिए छोड़ देता था। कभी कोई न होता तो खुद ही उसके साथ खेल लेता था। कभी उसके लिए घोड़ा बन जाता और उसे पीठ पर सवारी कराता था। देवदत्त भी अपने इस दास-साथी से अत्यन्त प्रसन्न रहता था।

□ बालक देवदत्त पर विजय चोर की दृष्टि

एक दिन जब भद्रा ने देवदत्त को पंथक के साथ खेलने-खिलाने हेतु बाहर भेजा तो पंथक ने उस बालक को अपने कटि-प्रदेश में इस प्रकार ले लिया, जैसे माता शिशु को लेकर चलती है। वह घर से बाहर निकलकर राजमार्ग पर आया। कुछ समय तक वह उसके साथ खेलता रहा, फिर अनायास पास के उद्यान में खेल रहे बालक-बालिकाओं के एक झुण्ड की ओर आकर्षित हो, देवदत्त को एक वृक्ष के नीचे अकेला छोड़, उनके पास चला गया और खेलने लगा। खेलने में वह ऐसा मगन हुआ कि देवदत्त के वहाँ होने की बात ही बिसार बैठा।

इसी राजगृही नगरी में विजय नाम का एक चोर रहता था। वह अत्यन्त क्रूर, कुरूप, कपटी और कलुषित हृदय का था। उधर पंथक देवदत्त की तरफ से असावधान हुआ और इधर संयोग से विजय चोर का उसी तरफ आना हो गया। उसने एकान्त में बैठे इस बालक पर दृष्टि डाली। वह मन-ही-मन खुश हुआ कि बालक सभी प्रकार के आभूषणों से अलंकृत है। वह उन आभूषणों की प्राप्ति का लोभ संवरण न कर सका। उसका तो काम भी यही था।

□ अदत्तादान : तीसरा पापस्थान

बंधुओं ! चोरी करना अठारह पापों में तीसरे स्थान पर आता है। श्रावकों के लिए दो करण, तीन योग से बड़ी चोरी के प्रत्याख्यान होते हैं। खात खनकर, गाँठ खोलकर, ताले पर चाबी लगाकर, मार्ग में चलते हुए को लूटकर और रास्ते में पड़ी वस्तु जो मूल्यवान है तथा जिसके मालिक को वह जानता है, उसे लेना श्रावक के लिए बड़ी चोरी है। कोई यदि व्रतधारी है तो उसे ये पाँच काम तो किसी भी हालत में नहीं करने

चाहिए। साथ ही, चोर ने जिस वस्तु को चौर्य-कर्म से प्राप्त किया है और अधिक कीमत होते हुए भी उसे कम कीमत में बेच रहा है तो उसे नहीं खरीदना चाहिए। चौर्य-कर्म में चोर की किसी प्रकार की सहायता नहीं करनी चाहिए। राज्य के जो नियम हैं, उनके विपरीत कार्य नहीं करना चाहिए, अर्थात् चुंगीकर, बिक्रीकर, आयकर आदि बचाने के गलत रास्ते नहीं अपनाने चाहिए, न उसे झूठा तोल करना चाहिए और न झूठा माप। मिलावट करना भी एक प्रकार की चोरी है। घी में चरबी, धनिये में लीद, मिर्ची में पिसी ईंट आदि की मिलावट को अदत्तादान महापाप के अतिरिक्त घोर अनैतिक अपराध कहा जाता है। इसी के फलस्वरूप अनेक व्यक्ति रोग व अकाल मृत्यु के मुँह में पहुँच जाते हैं। श्रावक के लिए ये सभी अकरणीय हैं।

□ येन-केन-प्रकारेण धन-संचय : किसलिए ?

आप कहेंगे—“बाबजी रे काम तो कीं है नहीं, म्हां लोग थोड़ो-घणो दंद-फंद करने कमावां, धन भेलों करां, वो बाबजी ने दोरो लागे।” पर बंधुओं ! गहन चिन्तन करिए कि आपका यह दंद-फंद, यह छल-कपट किनके लिए ? क्यों आने वाली सन्तानों के सुख के लिए आप इतनी पाप की प्रवृत्तियाँ, काला धन्धा करते हैं ? क्यों सिर पर पाप का भारा बाँधकर दो नम्बर का पैसा एकत्रित करते हैं ? सोचिये-ये पूत ही आपको तुरत-फुरत घर से निकाल अग्नि में जला आयेंगे। हो सकता है मरने से पूर्व ही धनादि छीनने हेतु आपको धक्के मारकर, तिरस्कृत कर, दाने-दाने को मुहताज कर घर से बाहर निकाल दें और समस्त चल-अचल सम्पत्ति पर अधिकार कर बैठें। आप उस पाप के परिणाम से नरकादि दुर्गतियों में दारुण वेदना भोगोगे, रोओगे, चिल्लाओगे, तब जिनके लिए धन उपार्जन में पाप किया वे परिजन आपकी सार सँभाल नहीं लेंगे। ज्ञानी जनों ने संसार के इसी अनुभव को सार में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

पूत कपूत तो क्यों धन संचै ?

और

पूत सपूत तो क्यों धन संचै ?

□ बालक देवदत्त का अपहरण

तो बन्धुओं ! विजय चोर ने बालक के अपहरण का विचार कर सावधानी से चारों ओर नजर डाली। जब देखा कि किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं है तो वह चुपचाप

बालक के निकट गया, उसे उठाया, अपनी काँख में दबाया, अपने ऊपर डाले हुए ओढ़ने का जो वस्त्र था, उससे बालक को ढका जिससे वह अनायास किसी को दिखाई न दे।

अब वह अत्यधिक तेज गति से राजगृह के राजमार्गों, वीथियों, गलियों को पार करता हुआ नगर के परकोटे में बने विशाल नगर-प्रवेश-द्वार पर पहुँचा। प्रवेश-द्वार को पार कर चपल गति से वह राजगृह के बाहर स्थित एक सुनसान पड़े, पुराने उजड़े उद्यान में पहुँचा। इसी उद्यान में एक कुआँ था। वह भी अति प्राचीन, जीर्ण-शीर्ण, टूटा-फूटा, जलहीन, तल जिसका कंटक व नुकीले पत्थरों से पटा हुआ। उसी के पास जाकर विजय चोर ठहर गया।

□ आभूषण-हरण : देवदत्त का मरण

यहाँ उसने बालक के आवरण को अर्थात् अपने उस ओढ़ने के वस्त्र को जिसमें बालक को छिपा रहा था, हटाया। उसे नीचे उतारकर उसके शरीर के एक-एक आभूषण को निकाला। जब बालक अलंकरणरहित हो गया तो उस निर्दयी, नरसंघाती ने उसे जीवनरहित कर दिया, निष्प्राण, निर्जीव, निश्चेष्ट कर दिया। उस पार्थिव शरीर को उसने दोनों हाथों में लिया, ऊँचा उठाया और उस अन्धकूप में पटक दिया। इतना कुछ करने के पश्चात् वह अपने छिपने के निश्चित किये गये स्थान पर गया और रात्रि की प्रतीक्षा करने लगा।

□ धन-सम्पत्ति, स्वर्णाभूषण : हैं विनाश के कारण

बन्धुओं ! देखा आपने, ये आभूषण कैसे प्राणघातक बन जाते हैं। आप आये दिन समाचार-पत्रों में स्वर्णाभूषणों की लूट, चोरी, डकैती तथा उनके कारण कभी पति-पत्नी, कभी पूरे परिवार तो कभी यात्रा कर रहे पुरुष या महिला की हत्या के समाचार पढ़ते हैं। आश्चर्य है, इतना सब होने पर भी और जो कुछ हो रहा है, उसकी जानकारी रखने पर भी आपका आभूषण-सम्मोहन छूट नहीं रहा है। ये हमारी माताएँ और बहनें तो जैसे प्रतिपल जाप-स्मरण करती रहती हैं कि “प्राण जायें पर आभूषण नहीं जायें।”—होता यह है कि आभूषण तो जाते ही हैं, आभूषणों के पीछे प्राण देने पड़ जाते हैं।

□ 'देवदत्त नहीं मिला'—पिता धन्य सार्थवाह ने जाना

पंथक नाम का वह दास कुछ समय तक खेलने के पश्चात् वहाँ आया, जहाँ वह देवदत्त बालक को छोड़कर गया था। बालक वहाँ कहाँ ? वह वहाँ होता तो पंथक को मिलता। वह तो यहाँ से कहीं और, दूर, मृत्यु के मुँह में पहुँच चुका था। पंथक ने जब देखा कि वहाँ बालक नहीं दिखाई दिया। शायद कहीं छिप गया हो, यह सोचकर वह निकट के वृक्षों, झाड़ियों, पत्थर के टीलों, मकानों के पीछे भी देख आया, पर बालक उसे कहीं भी दिखाई नहीं दिया।

निराश और हताश होकर वह चिल्लाया—“बालक गुम हो गया, देवदत्त को कोई उठाकर ले गया।” वह चिल्लाता जाता और रोता भी जाता। अन्त में वह रोता, विलाप करता सार्थवाह के घर पहुँचा। भद्रा और धन्य सेठ को पूरी घटना बताकर वह बोला—“शायद उसे कोई उठाकर ले गया है। वह कहीं भी मिल नहीं रहा है।”

□ इष्ट-वियोग से स्थिति दयनीय

बन्धुओं ! संसार की रीति है यह कि इष्ट-योग और अनिष्ट-वियोग में प्राणी अपने आप में फूला नहीं समाता, अन्य प्राणियों को अपने आगे वह तुच्छ समझता है, अकड़कर ऐसा चलता है, जैसे सब लोगों पर उसका आधिपत्य हो और वही एकमात्र अधिकारी हो सम्पूर्ण विश्व का, पर जब अनिष्ट का संयोग और इष्ट का वियोग होता है, तब उसकी दशा अत्यन्त दयनीय, चिन्तनीय, निरीह बन जाती है। वह जीवित होते हुए भी इतना उदासीन बन जाता है, जैसे कोई चलती-फिरती लाश हो।

□ अंधकूप में मिली देवदत्त की लाश

धन्य सार्थवाह की भी यही दशा हुई। अपने प्रिय पुत्र के वियोग की बात सुन वह मूर्च्छित हो गया और कटे हुए वृक्ष की भाँति धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। माता भद्रा की भी यही दशा हुई। होश आने पर धन्य सार्थवाह ने स्वयं उसे ढूँढ़ने का प्रयत्न किया, अपने दास-दासियों से ढूँढ़वाया पर देवदत्त का पता नहीं चला। इस पर धन्य सार्थवाह ने नगर-रक्षक को सूचना दी और प्रार्थना की कि राज्य में सर्वत्र उसे खोजा जाये।

धन्य सार्थवाह की प्रार्थना पर नगर-रक्षक ने अपने अनुचरों, अन्वेषकों एवं गुप्तचरों को इस काम पर लगा दिया। नगर के सारे राजमार्ग, गलियाँ, बाजार, मुहल्ले, मन्दिर,

धर्मशालाएँ, जुआघर, शराबघर देखे गये, चोरों के अड्डों पर जाकर देखा गया तथा उनसे पूछा गया। नगर के भीतर सभी स्थानों को देखने के पश्चात् नगर-रक्षक के आदमी राजगृह से बाहर निकले। खोजते-तलाश करते वे उसी जीर्ण उद्यान में पहुँचे। वहाँ उन्हें वह भग्न, टूटा हुआ कुआँ नजर आया। उत्सुकतावश अन्दर झाँका तो कुछ होने का सन्देह हुआ।

‘देख लेने में क्या हर्ज है ?’ यही सोचकर रस्से के सहारे एक सैनिक को कुएँ के अन्दर उतारा गया। वहाँ उस निर्जीव शरीर को देख उसे बाहर निकाला। धन्य सार्थवाह ने उसे देखा तो पहचान गया, यह तो मेरी सन्तान की लाश है। जाना कि यह तो देह मात्र है, इसमें प्राणतत्व नहीं है तो शोक विह्वल बन वह रोने लगा।

□ विजय चोर के साथ धन्ना सार्थवाह भी अनायास जेल में

नगर-रक्षक ने मामले की तह तक खोजबीन करवाई। विजय चोर बालक के समस्त आभूषणों सहित पकड़ा गया। उसे खूब पीटा गया, काला मुँह कर नगर में घुमाया गया और जेल में बन्दी बनाकर डाल दिया गया। संयोग से कुछ काल पश्चात् किसी अभियोग में धन्य सार्थवाह को भी नगर-रक्षकों ने गिरफ्तार कर लिया और उसे बन्दीगृह के उसी कमरे में जहाँ विजय चोर था, डालकर एक ही बेड़ी में बाँध दिया।

□ पुत्र-घातक को भोजन देने से इन्कार

सार्थवाह की पत्नी ने पति के लिए कारागार में अनेक प्रकार के व्यंजनादि व स्वादिष्ट भोजन, शीतल पेयजल दास के साथ भेजा। धन्य ने भोजन किया, विजय चोर ने भी उससे कुछ भोजन माँगा, पर धन्य ने अपने पुत्र के हत्यारे उस पापी से घृणा करते हुए भोजन देने से इन्कार कर दिया।

□ विजय चोर को लघु-शंका निवारणार्थ सेठ का सहयोग नहीं करना

कुछ समय पश्चात् धन्य सार्थवाह को लघु-शंका की जरूरत महसूस हुई। वह चूँकि विजय चोर के साथ एक ही बेड़ी में बाँधा था, अतः सार्थवाह ने उसे साथ चलने को कहा। विजय ने सोचा मुझे भोजन नहीं दिया है तो मैं क्यों इसे सहयोग करूँ। वह चलने से इनकार कर देता है। कहता है—“जो खायेगा-पीयेगा सो जायेगा, मैं क्यों साथ चलूँ ?”

बन्धुओं ! एक के चले वगैर चलने में असमर्थ, कैसी विषम स्थिति, कैसी दुविधा, कैसी उलझन ?

□ विवश हो पुत्र-घातक को भी आहार देना पड़ा

अन्ततः धन्य सार्थवाह को हारकर अनिच्छापूर्वक कहना पड़ा—“आगे से मैं तुम्हें अपने आहार-पानी का कुछ भाग दे दूँगा, तुम मेरे साथ चलो।” यह उसकी विवशता थी, मल-मूत्र विसर्जन को तो रोका नहीं जा सकता था।

पंथक जो स्वामी को आहार देने जाता था, अगले दिन उसने जब यह देखा तो मन में बहुत दुःखित हुआ। उसने घर आकर अपनी स्वामिनी से यह बात कही। भद्रा ने सुना तो उसे भी क्रोध आया। मन-ही-मन वह जल-भुन गई कि जिस हत्यारे ने क्रूरतापूर्वक हमारे लाल की हत्या की, स्वामी उसी को भोजन-पान देकर उसका पोषण कर रहे हैं। क्रोध के साथ ही अति वेदना से वह व्यथित हो उठी। कारागृह से छूटने पर धन्य सार्थवाह अपने आवास पर आया, हवेली में प्रवेश किया, पर भद्रा ने उठकर न तो उसका स्वागत किया और न प्रसन्नता ही व्यक्त की। इस पर धन्य सार्थवाह ने भद्रा से कहा—“प्रिये मेरी बन्धन-मुक्ति से तुम्हें प्रसन्नता नहीं हुई ?” भद्रा ने रुष्ट होते हुए कहा—“आर्यपुत्र आपने पुत्र-घातक को मेरे द्वारा भेजे गये स्वादिष्ट आहार में सहभागी बनाया, क्या यह उचित है ?”

भद्रा की अप्रसन्नता का कारण जानकर धन्य ने उसे बताया कि “मैंने अपने पुत्र के हत्यारे उस पापी विजय चोर को करुणा करके या पुण्य समझकर अथवा प्रत्युपकार की दृष्टि से आहार नहीं दिया है अपितु मल-मूत्र की बाधा से निवृत्ति पाने की विवशता में मुझे यह भाग उसे देना पड़ा है।”

□ विजय नरक में, सार्थवाह धन्ना स्वर्ग में

सारी बात सुनकर भद्रा सन्तुष्ट हो गई। बन्धुओं ! विजय चोर अपने घोर पापों, अति दुष्कर्मों, अनेक हत्याओं आदि के कारण मरकर नरक में गया। धन्य सार्थवाह ने धर्मघोष स्थविर से धर्मोपदेश श्रवण कर मुनि-दीक्षा अंगीकार की, निरतिचार संयम का पालन किया, घोर तपश्चरण कर वे कालधर्म को प्राप्त कर प्रथम देवलोक के अधिकारी बने। वहाँ से अपना आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे। वहाँ उत्कृष्ट संयम की आराधना कर मोक्ष के सुखों को प्राप्त करेंगे।

□ सम्यक् साधनार्थ शरीर को आवश्यक आहार

बन्धुओं ! ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में वर्णित इस धन्य सार्थवाह के समस्त प्रकरण का जो सार-तत्त्व है, जो सीख इस प्रसंग से हमें व आपको लेनी है, वह यह है कि जिस प्रकार धन्य सार्थवाह ने स्नेह, प्रीति या करुणा के कारण विजय चोर को आहार नहीं दिया, अपितु शारीरिक बाधा की निवृत्ति रूप आवश्यकता की विवशता के कारण दिया, उसी प्रकार साधकों को चाहिए कि वे शरीर की आसक्ति में पड़कर शरीर-पोषण के लिए स्वादिष्ट व पाचक आहार का आसक्तिपूर्क सेवन न करें। उनके जीवन का तो एक मात्र ध्येय है-सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना, रक्षा, वृद्धि। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधक को अनासक्ति भाव से शरीर से धर्म-साधना हो सके मात्र इतना ही आहार-पानी ग्रहण करना, शरीर को देना चाहिए।

□ आत्म-पोषण ही मुक्ति का पथ

संयम-साधक सूत्र के इस अध्ययन को पढ़-सुनकर देह-पोषण की जगह आत्म-पोषण करें। समभावपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए, तपस्या से आत्मा को भावित बनाकर नैर्मल्य की प्राप्ति करें तो वे शाश्वत सुखों की निश्चित ही प्राप्ति कर सकेंगे।

अभी आपने जो धन्ना सार्थवाह का प्रसंग सुना, उसी प्रकार एक और धन्ना का प्रसंग ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के अठारहवें अध्ययन में वर्णित है। इसीलिए पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमल जी महाराज ने 'बड़ी साधु वन्दना' की ४५वीं कड़ी में कहा-

धन जिनपाल मुनिवर, दोय धन्ना हुआ साध।

गया प्रथम देवलोक, मोक्ष जासे आराध॥४५॥

इस अध्ययन में भी साधक को यही शिक्षा दी गई है कि भोजन शरीर का पोषण करने के लिए नहीं अपितु, आत्मा के भाजन (बर्तन) रूप शरीर की रक्षा करने के लिए किया जाता है, जिससे साधक सम्यक् प्रकार से साधना करता हुआ आत्मा के साथ लगे कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का निर्जरण कर सके।

इस अध्ययन में माँसभक्षण का जो उदाहरण मिलता है, वह धन्य सार्थवाह के प्रभु महावीर के दर्शन व उनके उपदेश से जिनवाणी में अनुरक्त बनने से पूर्व का लगता है। जैनधर्म में तो साधक अपने प्राणों की आहुति देते हुए भी अपने संकल्प से विचलित नहीं होता है और सम्पूर्ण जैनियों के माँसाहार का पूर्ण रूप से त्याग रहता है। चाहे

कैसी भी स्थिति-परिस्थिति हो वह माँसभक्षण नहीं करेगा। सारांश में आगमकारों ने मुनि वर्ग को इसमें संदेश दिया कि “मुनि आहार शरीर के पोषण के लिए नहीं, अपितु शरीर को आत्म-साधना में काम लेना है इस प्रकार चिन्तन करता हुआ आहारादि करे—तत्त्व केवली गम्य।”

□ राजगृह का धन्य सार्थवाह

राजगृह नगर के इस धन्य सार्थवाह के भी भद्रा नाम की पत्नी थी। उनके पाँच पुत्र-धन, धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित तथा एक पुत्री-सुंसुमा थी। उनके घर में एक दासी-पुत्र चिलात था, जो सुन्दर था व माँसल शरीर वाला था। वह चिलात भी पंथक की तरह बच्चों को खेलाने में कुशल था। धन्य सार्थवाह तथा भद्रा ने अपनी पुत्री की देखरेख व खेलाने हेतु उसे नियत कर दिया।

□ गृहदास-चिलात : खाली दिमाग शैतान का घर

चिलात था तो दास-पुत्र पर शैतान बहुत था। बच्चे सभी शैतान होते हैं। कुछ बच्चे गुपचुप करते हैं, कुछ बिना किसी की परवाह किए सबके समक्ष शैतानियाँ करते ही रहते हैं। कुछेक बालक ऐसे होते हैं जो गम्भीर बने रहते हैं, शैतानी नहीं करते, कुछ शान्त बैठे रहते हैं, कुछ खेलते हैं, कुछ बातें करते रहते हैं, ज्यादा छोटे हैं वे नासमझ कभी रोने भी लगते हैं।

दास-पुत्र चिलात के दिमाग में कुछ-न-कुछ हलचल चलती रहती थी। वह कभी खेलने वाले बालक-बालिकाओं की गेंद छीन लेता, कभी कौड़ियाँ उठाकर फेंक देता, कभी उनके खेलने के लाख के गोले चुपचाप आँख बचाकर हरण कर लेता तो कभी किसी का आभरण, वस्त्र, दुपट्टा, माला आदि का हरण कर लेता। शैतान दिमाग था, अतः कभी किसी की हँसी उड़ाता, कभी मीठी बातें कर किसी को ठग लेता, कभी किसी की निन्दा करता और कभी-कभी उन्हें मार-पीट भी देता।

खेल रहे सारे बालक-बालिकाएँ उसकी शैतानियों से तंग आकर अपने-अपने माता-पिताओं को शिकायत करते तब वे माता-पिता धन्य सार्थवाह तथा भद्रा के पास आते और उस दास-बालक चिलात की शैतानियाँ अत्यंत खेदित स्वर में, उलाहने के रूप में सुनाते। धन्य सार्थवाह चिलात को डाँटता, पर चिलात पर अपने मालिक की डाँट-फटकार का, तर्जना का, तिरस्कार और ताड़ना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह

तो नित्य मालिक की ताड़ना सुन लेता, पर दूसरे दिन फिर वैसा का वैसा। वे ही शैतानियाँ, वे ही खुराफातें।

□ घर से बाहर किया

एक बार अबोध कन्या सुंसुमा से अनुचित हरकत करते देखकर उसे घर में रखना हानिकारक मानकर धन्य सार्थवाह ने उसे धिक्कारते हुए घर से बाहर निकाल दिया। चिलात को भला क्या चिन्ता ? वह तो और भी उद्दंड बन गया। अपने आप को उसने स्वतंत्र महसूस किया। सोचा-‘चलो, यह अच्छा हुआ। अब कोई उलाहना नहीं देगा, कोई ताड़ेगा नहीं, फटकारेगा नहीं।’

□ स्वेच्छाचारी चिलात कुव्यसनी बना

बंधुओं ! वह दास-पुत्र चिलात बुरी संगत में फँस गया। वैसे भी वह शैतान था, अब उसे संगति भी ऐसे लोगों की मिली कि उसके दुर्गुणों, दुर्व्यसनों में वृद्धि होती गई। स्वेच्छाचारी बन उसने सबसे पहले मदिरापान प्रारम्भ किया। मदिरा के लिए धन-प्राप्ति हेतु चोरी करने लगा। संगति जैसी हो वैसी ही बातें व्यक्ति सीखता है। वह भी कुसंगति पाकर माँस खाना, जुआ खेलना, वेश्याओं के यहाँ जाना सीख गया। यहाँ तक कि वह स्त्री-लम्पट भी बन गया। सुंसुमा की आकृति, बाल सुलभ चेष्टाएँ उसको बार-बार याद आया करती थीं, पर अब सुंसुमा के पास जाना उसके बस की बात नहीं थी।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, चिलात कुख्यात होता गया। अब राजगृह के जन उसे दुत्कारते, उसे देखते ही मुँह फेर लेते, उसे अपने घरों-दुकानों के निकट नहीं आने देते। इस तरह अपने को तिरस्कृत देखकर चिलात ने राजगृह नगर को छोड़ दिया। वह नगर से बाहर निकल जंगलों में चलते हुए सिंहगुफा नामक चोरपल्ली में पहुँच गया।

□ चिलात चोरपल्ली में

यह चोरपल्ली अत्यंत सुरक्षित स्थान था। एक बार तो राजा की सेना भी आ जाए तो उसका वहाँ प्रवेश मुश्किल था। विजय नामक तस्कर-सरदार यहीं अपने पाँच सौ चोर साथियों के साथ रहता था। चिलात ने भी यहाँ पहुँचकर विजय-चोर की शरण ली और वहीं रहने लगा। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि और जैसा देश, वैसा परिवेष। चिलात भी कुछ ही दिनों में चौर्य-कर्म में अत्यंत निपुण बन गया। विजय-सरदार ने उसकी योग्यता जाँचकर उसे अनेक चोर-मंत्र, चोर-मायाएँ और चोर-विद्याएँ सिखा दीं।

□ चोरों का सरदार बना चिलात

चोरों के सरदार विजय के मरण के पश्चात् वह चिलात सरदार बना दिया गया। लम्बे समय तक अपने साथियों के साथ चोरियाँ, लूटपाट, डकैतियाँ, हत्याएँ आदि करते हुए चिलात ने एक दिन अपने पूर्व स्वामी धन्य सार्थवाह को लूटने का विचार किया। उसे धन्य की रूपवती कन्या सुंसुमा की याद हो आई। उसने अपने साथियों को एकत्रित कर पूरी योजना बता दी और कहा—“लूट में प्राप्त विपुल धन आप सब का होगा, पर धन्य सार्थवाह की सुंसुमा नाम की कन्या पर मेरा आधिपत्य माना जायेगा।”

□ सेठ धन्य सार्थवाह के घर लूट : कन्या सुंसुमा चोरों के हाथ

सभी ने स्वीकार किया। रात्रि में धन्य सार्थवाह का घर उनके द्वारा लूट लिया गया। धन्य व उसके पाँचों पुत्रों ने अपने को विवश पाया, अतः छिपकर बच गए। लूट-पाट करके भागते चोर सुंसुमा कन्या को भी अपने साथ ले गए।

□ इष्ट कन्या की प्राप्ति के लिए युद्ध

समस्त सम्पत्ति के लुट जाने और कन्या-रत्न सुंसुमा के हरण कर लिए जाने पर धन्य सार्थवाह अपनी प्रिय कन्या की वापसी के लिए नगर-रक्षकों को लेकर चोरों की खोज में निकले। उन्हें ढूँढ़ते हुए वे शस्त्रास्त्रों से सज्जित उन नगर-रक्षकों के साथ उस सिंहगुफा चोरपल्ली तक पहुँच गए। चिलात भी अपने साथियों के साथ हथियार धारण कर बाहर निकला और इन सभी से भिड़ गया।

बंधुओं ! युद्ध हुआ, युद्ध में चिलात पराजित हुआ, सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति को वहीं छोड़ सुंसुमा को बलपूर्वक कन्धे पर उठा साथ लेकर वह निकट की भयानक अटवी की राह निकल गया। उसके सारे चोर साथी भी यत्र-तत्र भाग गए।

धन्य सार्थवाह ने चिलात को सुंसुमा के साथ भागते देख लिया। अतः अपने पाँचों पुत्रों को साथ ले, कवच धारण कर वह भी अटवी की ओर चला, पैरों के चिह्न खोजता वह आगे बढ़ने लगा, चिलात व सुंसुमा का पीछा करने लगा। कुछ ही देर पीछा करने पर वे दोनों उसे नजर आ गए। उन दोनों को देख ये छहों ही गर्जन करते, चुनौती देते, पुकार लगाते हुए तेज गति से पीछा करने लगे।

□ भागते चिलात ने सुंसुमा का सिर काटा

चिलात ने पीछे मुँह फेरकर देखा तो धन्य एवं उसके पाँचों पुत्र कवच धारण किए हुए शस्त्रास्त्रों से लैस भागते हुए आते दिखाई दिए। वह था अकेला, ये थे छह, उसे सुंसुमा के प्रति मोह था। अतः तेजी से भागने लगा। वह भाग रहा था, पर उसका साहस निःशेष हो चुका था। जब उसने महसूस किया कि वह अब और नहीं भाग सकता, इतना क्लान्त हो गया है, तब उसने तलवार उठाई और सुंसुमा का सिर काट लिया। धड़ वहीं रहा, कटे सिर को उठाए वह पुनः भागने लगा। बंधुओं ! अब वह निस्तेज, निर्वीर्य, साहसहीन ही नहीं था, अपितु आशाहीन, अर्थात् पूर्णतः निराश भी था। जिस कन्या की प्राप्ति के लिए उसने राजगृह में डाका डालने का दुस्साहस किया, डाके में प्राप्त अपार धन-वैभव की तरफ मुँह उठाकर भी न देखा, केवल इस एक कन्या को ही प्राप्त कर संतुष्ट हो गया, आज वही कन्या, उसकी वही प्रियतमा उसके लिए भार-स्वरूप ही नहीं, प्राणों की ग्राहक भी बन गई थी। विचारों में जो डूबा तो रास्ता भूलकर वह अटवी में भटक गया। पागलों की तरह भटकते हुए प्यास से अत्यंत पीड़ित बन पानी के न मिलने पर उसे मौत के मुँह में जाना पड़ा।

□ पिता व भाइयों का विलाप

धन्य सार्थवाह एवं उसके पाँचों पुत्र सुंसुमा व चिलात को खोजते हुए उस अटवी में भूख व प्यास से अति पीड़ित, श्रम से अति क्लान्त और ग्लान बन चुके थे। इसी समय उन्हें सुंसुमा का कटा धड़ व कुछ दूर पर कटा सिर मिला। धन्य सार्थवाह समझ गया कि उसकी पुत्री चिलात द्वारा मार डाली गई है। पुत्री को जीवनरहित जानकर वह और उसके पाँचों पुत्र रुदन करने लगे, विलाप करने लगे, क्रन्दन करने लगे।

□ प्राण-रक्षा का प्रश्न : विकट संकट

बहुत देर तक अश्रु बहाने व क्रन्दन करने के पश्चात् अब उन्हें भूख और प्यास का ध्यान आया। आसपास कहीं भी न तो खाने के लिए किसी भी पदार्थ की और न ही पीने के लिए पानी की प्राप्ति हो सकी। छहों प्राणियों ने दूर-दूर तक ढूँढ़ा, शोध की, पर उन्हें उस अगम्य अटवी में खाने-पीने को कुछ भी न मिला। भूख-प्यास के कारण राजगृह तक पहुँचने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त न हो जाँ, इस दृष्टि से पिता ने ज्येष्ठ-पुत्र से कहा—“यहाँ इस महाभयानक जनशून्य अटवी में खाने-पीने के लिए कुछ भी नहीं मिलेगा। सभी यदि मर गए तो राजगृह तक कौन पहुँचेगा ? अतः तुम

मुझे जीवनरहित बना दो, तब तुम सभी मेरे माँस का आहार कर रुधिर से प्यास शान्त कर, स्वस्थ बन इस अटवी को पार कर लेना और राजगृह चले जाना। इसी में तुम सब की भलाई और कुल, वंश की सुरक्षा है।”

पुत्र भला पिता का वध कैसे करते ? यह कोई राजनीति का क्षेत्र और सिंहासन या सत्ता की कुर्सी हथियाने का प्रश्न तो था नहीं। आप जानते हैं, इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण आए हैं जहाँ सत्ता के लिए पुत्र ने पिता की, भाई ने भाई की, पत्नी ने पति की हत्याएँ की हैं या करवाई हैं। यहाँ तो जीवन-रक्षा का प्रश्न था। ज्येष्ठ-पुत्र ने पितृ-हंता बनने से स्पष्ट इनकार करते हुए, स्वयं अपने आप को मरण के लिए प्रस्तावित किया।

□ निर्जीव सुंसुमा की देह का माँस-भक्षण

अन्य सभी भाइयों ने इससे इनकार करते हुए अपने आप को मृत्यु की बलिवेदी पर चढ़ाने की बात रखी। सभी की ये बातें सुन पिता इस पारिवारिक एकता व एक-दूसरे के लिए त्याग की भावना को देख प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने पुत्रों से कहा—“हे पुत्रों ! ऐसा करते हैं कि हम किसी को भी जीवनरहित किए बिना, इस निर्जीव सुंसुमा की देह का माँस-भक्षण कर एवं रुधिर पीकर कुछ स्वस्थ बन राजगृह के लिए चल देते हैं।

सभी ने पिता की इस बात को स्वीकार कर उस निर्जीव शरीर के माँस का आहार किया और उसके रुधिर का पान किया। कुछ स्वस्थ बन मार्ग की शोध करते-कराते वे सभी राजगृह तक पहुँचे।

□ धन्य सार्थवाह दीक्षित बन मुक्त बने

कालान्तर में धन्य सार्थवाह ने प्रभु महावीर से धर्मोपदेश श्रवण कर मुनि-धर्म अंगीकार किया। मुनि बनने के पश्चात् वे ग्यारह अंगों के वेत्ता बने। अंतिम समय आने पर एक माह की संलेखना के साथ इस देह का विसर्जन कर सौधर्म देवलोक के देव बने। वहाँ से च्यवन कर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे, दीक्षित होंगे व संयम का पालन कर सिद्धि को प्राप्त करेंगे।

□ शरीर में, संसार में आसक्ति ही दुःखों का कारण

बंधुओं ! जैसा कि पिछले प्रवचन में बताया था, साधक के लिए शरीर गौण और आत्म-धर्म मुख्य है। वह शरीर की तरफ ध्यान नहीं देता, थोड़ा-बहुत देता भी है तो

केवल इसलिए कि उसके माध्यम से आत्म-धर्म साधा जा सके। साधक यदि इस नश्वर, क्षणिक, मरणधर्मा औदारिक-शरीर की सुख-सुविधा, इसके रूप-सौन्दर्य, इसकी हृष्ट-पुष्टता के लिए आहार करने का चिन्तन रखता हुआ शरीर व आहार, दोनों में आसक्ति बनाता है तो निश्चित ही वह इस संसार में अवहेलना का पात्र बनता है, भव-भ्रमण को बढ़ाता है और चिलात चोर की तरह अन्त समय में दुःखी होता है।

□ आहार केवल आत्म-रमण एवं आत्म-कल्याण के उद्देश्य से हो

बंधुओं ! धन्य सार्थवाह का यह प्रसंग अनासक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। एक पिता को अपनी पुत्री वह भी अतिशय प्रिय तथा भाइयों को अपनी स्नेही बहन के मृत कलेवर का भक्षण करने में भला कैसे आसक्ति हो सकती है ? वस्तुतः यहाँ खाने के प्रति कोई राग नहीं है। यहाँ तो मात्र मारणांतिक क्षुधा एवं पिपासा को शांत कर प्राणों की रक्षा करना ही उनका उद्देश्य था। नहीं करते वे ऐसा, नहीं खाते सुंसमा के मृत कलेवर का माँस, नहीं पीते उसका रक्त तो जैसे चिलात चोर के प्राण निकले, वैसे इन छह जीवों के प्राण समाप्त हो सकते थे। यही एकमात्र उपाय था जिससे वे जीवित वहाँ से राजगृह तक पहुँच पाते।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि इसी तरह छह काय जीवों के रक्षक मुनिराजों को अपने प्राणों से भी प्रिय संयम के निर्वाह के लिए आहार का उपयोग पूर्ण अनासक्त भाव से करना चाहिए, रसास्वादन या अन्य कारणों से नहीं। साधक का यह चिन्तन होना चाहिए कि मैं क्षुधा वेदनीय को शांत केवल इस उद्देश्य से कर रहा हूँ कि इस अमूल्य शरीर से संयम-साधना करते हुए आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकूँ, अपने इष्ट स्थान की प्राप्ति कर सकूँ, सर्व कर्म क्षय के अपने लक्ष्य का वेधन कर सकूँ।

□ अनासक्ति ही मुक्ति का पथ

बंधुओं ! आप भी अपना अनासक्ति भाव बढ़ाइए। संसार की जितनी भी पाप प्रवृत्तियाँ हैं, उनसे मन को हटाते जाइए। मुक्ति के पथ पर बढ़ने का यही वह तरीका है, जिसे अपनाकर हम सब शाश्वत-सुख, अखंड-आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

आनंद ही आनंद !



भेद-विज्ञान से आत्म-ज्ञान

(तीर्थकर मल्लि जिन के महाबलादि छह मुनि)

□ आत्मानंद की अनुभूति !

तीर्थकरों की अनुपम, आदेय वाणी प्राणिमात्र के लिए आह्लादकारी है, जीवमात्र के लिए मंगलकारी है। जब-जब भी जीव इस वाणी को सुनता-गुनता है, पढ़ता-मनन करता है, तब-तब उसके अन्तर् में अद्भुत आनंद की अनुपम लहरें हिलोरें लेती हैं। प्रभु-वाणी से उद्भूत यह आनंद 'आत्मानंद' के रूप में जाना जाता है। इस आनंद की प्राप्ति वही कर सकता है, जिसने आत्म-रमण का पाठ पढ़ लिया हो।

□ पुद्गलानंद और आत्मानंद

बंधुओं ! आनंद अनेक तरह के हैं। हम उन्हें मोटे रूप में दो भागों में विभाजित कर देते हैं। पहले प्रकार के आनंद में वे सारे आनंद आ जाते हैं, जिनका सम्बन्ध पुद्गलों तक है। पुद्गलों से प्राप्त आनंद में आनंद मानने वाला प्राणी कहलाता है—पुद्गलानंदी, अर्थात् संसार की उन नाशवान वस्तुओं में सुख मानने वाले लोग जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में खुशी प्रकट करते हैं और उसके वियोग में दुःखी बनकर अपने भाग्य को या भगवान को कोसते हैं, विलापात करते हैं, हाय-त्राय मचाते हैं। ठीक इससे विपरीत दशा होती है, इन प्राणियों की अनिष्ट-योग और वियोग में। अनिष्ट-योग से ये संतापित होते हैं और अनिष्ट-वियोग में प्रसन्न बन जाते हैं। यह हुआ पुद्गलानंद।

दूसरे प्रकार का जो आनंद है, उसे हम शाश्वत सुख, अव्याबाध आनंद, आत्मा की प्रसन्नता कहकर आत्मानंद का नाम देते हैं। इसका सम्बन्ध बाह्य सांसारिक पुद्गलों से

नहीं होता। इसका सम्बन्ध होता है, अन्तर के चिन्तन से, अन्तर की अनुभूति से। जब-जब जीव आत्मा के निज गुणों को प्रकट करने वाली सद्वृत्तियों को अपनाकर इन्द्रिय-शमन, मनो-नियंत्रण, वचन-संवरण, कषाय-राग-मोह के भाव-हरण में लगता है, तब-तब अन्तर् में जिस अद्भुत आनंद की लहरों का प्रवाह आता है, वे ही हैं आत्मानंद की लहरें।

□ पुद्गलानंद क्षणिक हैं, वे सुखाभास मात्र देते हैं

पुद्गलों से प्राप्त आनंद क्षणिक हैं और मेरी समझ में तो वहाँ आनंद है ही नहीं, भ्रमवश ही जीव आनंद का आभास करता है वहाँ। उस आनंद के साथ निश्चित रूप से दुःख, कष्ट, व्यथा, तड़फन का जुड़ाव होता है। आप किसी वस्तु में सुख मानकर, आनंद जानकर उसकी प्राप्ति में रात-दिन एक कर लेते हैं। वह वस्तु यदि किसी अन्य के अधिकार में है तो जब तक वह आपको प्राप्त नहीं हो जाती, आप व्यथित, बेचैन बने रहते हैं। अब यदि छीनकर, चोरी करके या अन्य किसी अवैधानिक ढंग से, अनीतिपूर्ण तरीके से आप उसे हस्तगत करते हैं तो उसकी हालत का विचार करिए जिसके पास पहले वह वस्तु थी और अब नहीं है।

□ धनार्जनार्थं किं न करोति पापं ?

संसार में रचे-पचे प्राणी को धन की चाह प्रतिपल बनी रहती है। धन आपको भी प्रिय है। सारी दौड़-भाग आपकी इस धन के लिए है। कितना श्रम, कितना दंद-फंद, कितना छल-कपट करते हैं, धन की प्राप्ति के लिए। धन आपके लिए भगवान है, धन ही आपका धर्म है, धन ही आपका जीवन है। धन मिले तो धर्म छोड़ सकते हैं, धर्म की सौगंध खा सकते हैं। हिंसा का सेवन पद-पद पर धन के लिए करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी जैसा घृणित काम भी करना पड़ता है। कर-चोरी तो आपके जीवन का मुख्य अंग है। अब मैं पूछता हूँ आपसे कि इतने अधिक कष्ट उठाकर बैंकों और तिजोरी में रखे, एकत्रित किए कष्टार्जित धन का उपभोग कितना कर सकेंगे, कब कर सकेंगे ? यदि इसके उपभोग आपके पारिवारिक जन, आपके इष्ट-मित्र आदि भी करते हैं तो आपके द्वारा अर्जित पापकर्म को भोगने में क्या वे उतने ही सहयोगी बनेंगे ?

□ क्या होगा इस पापार्जित धन का ?

अर्जित धन यदि चोरी हो जाए, आयकर विभाग छापा मारकर उस धन को अपने अधिकार में कर ले, आपकी सन्तान आपसे लड़-झगड़कर उस धन को अपनी शौक-मौज में उड़ा दे, तब आपका दुःख कितना बढ़ जाता होगा ? रातों की नींद और दिन का चैन हराम हो जाता होगा। कदाचित् आयुष्य-कर्म का भोग इस भव का पूर्ण हो गया तो वह सारा धन क्या साथ ले जायेंगे ? आज तक कोई ले नहीं गया और भविष्य में कोई लेकर जा नहीं पायेगा। सब यहीं पड़ा रह जायेगा। साथ क्या जायेगा ? साथ जायेगा पाप, साथ जायेगा पुण्य, साथ जायेगा धर्म।

□ सर्जन में भी दुःख, खर्चन में भी दुःख

धन अर्जन में दुःख, धन खर्चन में दुःख, धन संचन में दुःख, धन त्यागन में दुःख। फिर कैसे मानते हैं आप कि धन में सुख है ? क्यों भागते हैं धन के पीछे रात और दिन ? क्यों करते हैं धन के लिए वे पाप प्रवृत्तियाँ जिनके कारण जन्म-जन्म में दुःख-ही-दुःख भोगने पड़ेंगे। मैंने धन की बात कही; इसी तरह पत्नी, पुत्र, परिवार, घर-द्वार आदि संसार के समस्त सम्बन्ध, समस्त पदार्थ दुःख के मूल हैं। सच्चे आनंद की एक बूँद का भी रसास्वादन ये नहीं करा सकते।

□ आत्मानंद ही यथार्थ आनंद, अतः आत्मा को जानिए

यथार्थ आनंद है आत्मा का आनंद। जहाँ से आत्मा के आनंद की अनुभूति प्रारम्भ होती है, वहीं से संसार-सागर परित्त होने लगता है। ज्यों-ज्यों अनुभूति तीव्र होती है, त्यों-त्यों मुक्ति-रूप किनारा निकट आने लगता है। आत्मानंद की अनुभूति लेनी है तो श्रुतवाणी के श्रोता बन, पाठक बन उसका ज्ञान करिए, उस पर मनन-चिन्तन कीजिए। जिनेन्द्र भगवान की वह वाणी जो आत्मा को शाश्वत सुखों के पथ पर ले जाती है, बत्तीस आगमों में गुम्फित है। जैसे पथ पर निरन्तर चल रहे पथिक के पाँव में काँटा चुभ जाए तो उसे किसी अन्य नुकीले काँटे के द्वारा या सुई द्वारा निकाला जाता है, ठीक वैसे ही जीवात्मा में जो कर्मबंधन अनादिकाल से लगे हैं, उन्हें आगमवाणी के स्वाध्याय से, जिनवचनों के मनन-चिन्तन से तोड़ा जा सकता है। जो भी इन शास्त्रों

का अध्ययन, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन करता है, वह आत्मा के निज-स्वरूप को जान लेता है, पहचान लेता है। आचारांगसूत्र में आया है—“जे एगे जाणई, ते सब्बे जाणई।”

□ आत्म-ज्ञान ही सर्वज्ञता है

जिन तीर्थंकर भगवन्तों ने उस एक आत्मा को जाना, जिस एक आत्मा को जानकर वे सब कुछ जान गए—सर्वज्ञ बन गए, उन सर्वज्ञों ने आत्मा और शरीर के भेद का कथन किया। बंधुओं ! ज्ञान अनंत है। विज्ञान ने उस ज्ञान को बहुत कुछ शोधकर जाना, समझा। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने भी यही कहा कि जो कुछ विज्ञान के द्वारा जाना गया है, वह तो सम्पूर्ण ज्ञान की एक बूँद भी नहीं है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति आत्मा को जानने के बाद ही सम्भव है। आत्मा और शरीर के भेद को जो जान लेता है, उसके मन में इस असार संसार के प्रति तीव्र विरक्ति भाव प्रकट होता है। तीव्र विरक्ति उन्हें संयम के पथ की ओर अग्रसर करती है। निरतिचार संयम का पालन करते हुए उत्कृष्ट परिणामों के आने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिन महापुरुषों ने उन उत्कृष्ट परिणामों को प्राप्त किया, चल रहा है, आपके समक्ष ऐसे महापुरुषों का गुण-कीर्तन।

□ राजकुमारी मल्ली (तीर्थंकर मल्लि जिन) और उनके छह मित्र

पूर्व के प्रवचनों में आपने दो धन्ना नाम के साधकों का प्रसंग सुना था, अब आज—

श्री मल्लिनाथना छह मित्र, महाबल प्रमुख मुनिराय।

सर्व मुक्ति सिधाव्या, म्होटी पदवी पाय॥४६॥

भगवान श्री मल्लीनाथ के पूर्वभव महाबल एवं उनके छह मित्रों का वर्णन आया है, इस कड़ी में। भगवान मल्लि जिन का नाम वर्तमान चौबीसी (चौबीस तीर्थंकरों के नाम) में उन्नीसवें क्रम पर है, यह आप भी जानते हैं। वस्तुतः जन्म से मल्लि जिन स्त्री के रूप में अवतरित हुए। तीर्थंकरों का जन्म पुरुष के रूप में होता है, किन्तु मल्ली का जन्म महिला के रूप में होना जैन इतिहास की एक अद्भुत और आश्चर्यजनक घटना है। इसे जैन इतिहास के दस आश्चर्यों में से एक माना गया है।

□ जैन इतिहास के दस आश्चर्य

कौन-कौन-से दस आश्चर्य हैं जैन इतिहास के ? प्रत्येक जैन भाई-बहन को इसकी जानकारी रखनी चाहिए। ठाणांगसूत्र में इन दस आश्चर्यों का वर्णन मिलता है। दस में से (१) प्रथम आश्चर्य है—‘अष्टशतशिब्दा’ नियम से मध्यम अवगाहना वाले तो एक समय में १०८ तक मोक्ष में जाते हैं, पर उत्कृष्ट अवगाहना वाले नहीं। वर्तमान चौबीसी के पहले तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव भरत को छोड़कर अपने शेष निन्यानवे पुत्रों और भरत के आठ पुत्रों सहित मोक्ष में गए और इन सब की अवगाहना पाँच सौ धनुष अर्थात् उत्कृष्ट अवगाहना थी।

रिसहो, रिसहस्स सुयाः, भरहेण विवज्जिया नवनवई।

अट्ठेव भरहस्स सुयाः, सिद्धिगया एग समयम्मि॥

(जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृष्ठ ५४८)

(२) हरिवंश-कुलोत्पत्ति—पूर्वभव के वैर के कारण किसी देव ने हरिवास क्षेत्र के हरि नामक युगल को भरत क्षेत्र में लाकर चम्पापुरी का राजा व रानी बना दिया। इनके पुत्र-पौत्रादि से चली वंश-परम्परा ‘हरिवंश’ कहलाई। माँसाहार और पापकृत्यों के कारण यह हरि-युगल मरकर नरक में गया।

नियमतः युगलियों की वंश-परम्परा नहीं होती, नहीं चलती और वे नरक में नहीं जाते। अतः इस हरि-युगल के इस प्रकार वंश-परम्परा के चलन व नरक-प्राप्ति को आश्चर्य माना गया है।

(३) असंयत-वन्दन—आगमवाणी के अनुसार सदा-सर्वदा संयत ही वन्दन के योग्य होते हैं। अतः उन्हीं की वन्दना की जाती है, परन्तु इस अवसर्पिणी काल के नौवें तीर्थंकर श्री सुविधि जिन के पश्चात् साधु-साध्वी वर्ग का बिलकुल अभाव हो जाने पर कुछ काल तक असंयतों का वन्दन-अभिनन्दन होता रहा, यह भी आश्चर्य है।

(४) स्त्री-तीर्थंकर—पुरुष ही तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं, परन्तु इस अवसर्पिणी के उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लि जिन स्त्री-तीर्थंकर हुए, यह भी आश्चर्य है।

(५) श्रीकृष्ण वासुदेव का अपरकंका गमन—एक वासुदेव का दूसरे वासुदेव से मिलन होता नहीं, परन्तु बाईसवें अरिष्टनेमि जिन के समय में धातकीखंड की अपरकंका नगरी से द्रौपदी को लाने के लिए वासुदेव श्रीकृष्ण को जाना पड़ा। वहाँ से लौटते समय वहाँ के कपिल नामक वासुदेव का और श्रीकृष्ण वासुदेव का शंख-ध्वनि से मिलन हुआ, इसे भी आश्चर्य माना गया है।

(६) तीर्थकर गर्भ-हरण—तीर्थकरों का गर्भ में आने के पश्चात् गर्भ-हरण होता नहीं है, परन्तु चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर के जीव का देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि से त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में देवता द्वारा गर्भ-परिवर्तन भी एक आश्चर्य है।

(७) चमरोत्यात—चमरेन्द्र (नीचे लोक का इन्द्र) कभी ऊँचे लोक में जाता नहीं, परन्तु ध्यानस्थ खड़े भगवान महावीर की शरण लेकर एक बार चमरेन्द्र, शकेन्द्र (ऊँचे लोक के इन्द्र) से लड़ने हेतु ऊँचे लोक में गया, यह भी आश्चर्य है।

(८) अभव्या-परिषद्—केवलज्ञान, केवलदर्शन-प्राप्ति के पश्चात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थकर भगवन्त जब प्रथम धर्मदेशना करते हैं तो श्रोता-धर्म-परिषद् में कोई-न-कोई भव्य (चारित्र- धर्म ग्रहण करने वाला) होता है और दीक्षा लेता है, पर भगवान महावीर का प्रथम उपदेश खाली गया।

(९) चन्द्र-सूर्य-अवतरण—अपने निजी मूल विमान में बैठकर देव कभी मर्त्यलोक में नहीं आते, परन्तु एक बार कौशाम्बी में भगवान महावीर के समवसरण में चन्द्र-सूर्य एक साथ अपने-अपने शाश्वत (निजी) विमान में बैठकर वंदन हेतु आए, यह भी एक आश्चर्य है।

१. (महावीर चरियं, प्रस्ताव ८, पत्र १७५)

२. (आवश्यक निर्युक्ति दी., गाथा ५१८, पत्र १०५)

(१०) केवलीपन में उपसर्ग—केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् तीर्थकर भगवान को देव-मनुष्य कृत किसी भी तरह का उपसर्ग होता नहीं, जबकि भगवान महावीर को केवलज्ञान- प्राप्ति के बाद भी गौशालक-प्रदत्त तेजोलेश्या का उपसर्ग हुआ, यह भी आश्चर्य ही है।

□ तीर्थंकर मल्लि ने पूर्वभव में तपाराधन में माया (कपट) कर स्त्रीवेद का बंध किया

मल्लि जिन ने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया, पर साथ ही स्त्री-वेद मोहनीय कर्म का बंध भी। उनके इस बंध का कारण क्या था ? कारण था—माया ! माया का अर्थ है कपट। उस जीव ने धनादि के अर्जन हेतु कपट नहीं किया था, ऐसा यदि करता तो उसका भव-भ्रमण बढ़ जाता। गूढ़-माया या पाप में कपट का सेवन किया जाता है तो तिर्यच गति या नपुंसकवेद का बंध होता है। लेकिन मल्ली के जीव ने कपट किया था तपाराधन में अपने मित्रों के साथ।

□ प्रारम्भ महाविदेह से, अंत भरत क्षेत्र में

बंधुओं ! अभी तक जिन भव्यात्माओं का प्रसंग चला, उन सभी का सम्बन्ध भरत क्षेत्र से रहा, उनमें से कुछ ने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया था और कुछ एक भव के अन्तर से मोक्ष की प्राप्ति करेंगे। आज जो प्रसंग चलेगा, उसमें पहली विशेषता तो जैन इतिहास के आश्चर्य वाली है, जो आपने अभी सुनी, दूसरी विशेषता यह है कि यह प्रसंग महाविदेह क्षेत्र से चलेगा और समाप्ति इसकी इस भरत क्षेत्र में होगी।

□ तीर्थंकर मल्लि जिन का पूर्वभव

महाविदेह क्षेत्र के सलिलावती नामक विजय में वीतशोका नगरी थी। इस नगरी का राजा था बल। धारिणी आदि उसकी एक हजार रानियाँ थीं। धारिणी रानी ने किसी समय सिंह का स्वप्न देखा, गर्भ धारण किया और गर्भकाल समाप्त होने पर महाबल नामक पुत्र को जन्म दिया। युवा होने पर कमलश्री आदि पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ एक ही दिन में उसका पाणिग्रहण कराया गया।

राजा बल ने अपने युवा राजकुमार को सिंहासनारूढ़ किया। धर्मघोष मुनि के सान्निध्य में दीक्षित बन ग्यारह अंगशास्त्रों का वेत्ता बना। बहुत वर्षों तक मुनि बल ने निरतिचार संयम का पालन किया, तपाराधन किया और अंतिम समय में चारु पर्वत पर एक मास का संथारा लेकर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया। कालान्तर में वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

महाबल राजा के अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र; ये छह राजा बालमित्र थे। ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में वर्णन आया है—

“इमे छप्पिय बालवयंसगा रायाणो.....सहजाया, सहवड्ढियया, सहपंसुकीलियया, सहदारदरिसी अणमणमणुरत्ता अणमणमणुव्वयया, अणमणमणच्छंदाणुवत्तया अणमणमणहियइच्छियकारया अणमणमणोसु रज्जेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति।”
—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, अध्ययन ८

महाबल तथा उसके ये छह राजा बालमित्र साथ ही जन्मे थे, साथ ही वृद्धि को प्राप्त हुए थे, साथ ही धूल में खेले थे, साथ ही विवाहित हुए थे। वे सभी एक-दूसरे पर अनुराग रखते थे, एक-दूसरे का अनुसरण करते थे, एक-दूसरे के अभिप्राय का आदर करते थे, एक-दूसरे के हृदय की अभिलाषा को जानकर तदनुसार कार्य करते थे, एक-दूसरे के राज्यों में काम-काज करते हुए रह रहे थे।

बंधुओं ! एक समय जब वे सभी किसी एक स्थल पर एकत्रित थे, तब सभी ने मिलकर निश्चय किया कि हम सभी प्रत्येक सुख में, प्रत्येक दुःख में, विदेशगमन के प्रसंग में, धार्मिक अनुष्ठानों में, प्रव्रज्या का प्रसंग आए तो भी, सभी अवसरों पर साथ ही रहेंगे। उस समय उन सभी ने यह भी तय किया कि राज्य-शासन करते हुए भी हम सभी आत्मा के उद्धार का लक्ष्य जरूर अपने सामने रखेंगे।

□ ‘संसार प्यारो लागे’ कहना छोड़िए

बहुत कठिन है ऐसा लक्ष्य बनाना। हजार में से नौ सौ निन्यानवे व्यक्ति संसार में सार मानते हुए राग अलापते हैं—“संसार प्यारो लागे।” एक व्यक्ति यदि कभी “संसार खारो लागे” का राग अलापे तो शेष नौ सौ निन्यानवे क्या कोशिश करते हैं ? वे कोशिश करते हैं कि इसका राग विराग न बने। एक बालक या बालिका वैराग्य भाव से ज्ञान-ध्यान सीखने लग जाए तो सारा समाज नजरें गड़ाए उसे निहारेगा, बहलाएगा, फुसलाएगा, बाधाएँ खड़ी करेगा। कहाँ उन सात-सात राजाओं का, भोगों के विपुल साधनों के मध्य रहकर भी आत्म-कल्याण का चिन्तन और कहाँ आप श्रावक-श्राविकाओं का आत्म-कल्याणी पुरुषों को विभिन्न तरीकों से गिराने का चिन्तन ! गुरुदेव इसीलिए फरमाते हैं कि भावों को शुद्ध बनाइए, प्रतिपल अपने चिन्तन को ऊपर की ओर बढ़ाइए।

□ महाबल व छह मित्रों की दीक्षा

महाबल और छहों राजा-मित्र सुखपूर्वक शासन करते हुए आयुष्य भोग रहे थे। कालान्तर में कभी कमलश्री ने स्वप्न में सिंह को देखा। उसके बलभद्र कुमार का जन्म हुआ। बलभद्र बड़ा हुआ और युवराज बना।

उन्हीं दिनों धर्मघोष मुनि वीतशोका नगरी के इन्द्रकुंभ उद्यान में पधारे। जन-समूह वंदनार्थ गया। महाबल राजा भी गया। वहाँ मुनिवर का उपदेश श्रवण कर महाबल के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। राजा ने धर्मघोष मुनि से निवेदन किया—“मुनिवर ! मैं अपने छहों राजा-मित्रों से पूछ बलभद्र को राज्य-सिंहासन पर बिठा दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।”

वहाँ से महलों में आने के पश्चात् महाबल राजा ने यही किया। छह ही मित्र-राजा दीक्षा अंगीकार करने को तत्पर हो गए। सभी ने अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। सभी ने स्वयमेव लोच करते हुए मुनि धर्मघोष से प्रव्रज्या अंगीकार की।

मुनि बन वे सातों मित्र ग्यारह अंगसूत्रों के अध्येता बने और अनेक प्रकार के तप करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे। उन सभी ने निर्णय किया कि हम एक ही प्रकार की तपस्या साथ-साथ करेंगे और अपने तप का पारणा भी साथ-साथ ही करेंगे। उन सभी ने अनेक तेले, चौले, पाँच, आठ, अर्द्ध-मासक्षमण व मासक्षमण की तपस्याएँ साथ-साथ कीं। कुछ काल पश्चात् महाबल मुनि ने विचार किया कि सभी यहाँ समान तप करेंगे तो आगे फल भी समान मिलेगा। मैं विशिष्ट हूँ इनमें। अतः आगे भी मुझे विशिष्ट बनना है। इन्हीं विचारों से प्रेरित हो महाबल मुनि शेष मुनियों से छिपकर, कपटपूर्वक अधिक तप करने लगे। छह मित्र मुनि बेला करते तो वे तेला करते, सभी उपवास करते तो वे बेला करते। कपटपूर्वक छिपकर अधिक तप करने में जो कपट-भाव था, उसके कारण महाबल मुनि ने स्त्री वेद-मोहनीय कर्म का बंध किया।

तीर्थकर नाम-कर्म उपार्जन के जो बीस बोल हैं, जिनका मैंने अपने पिछले प्रवचनों में आपके सम्मुख उल्लेख किया था, उन बीस बोलों का एकाधिक बार, पुनः-पुनः सेवन करने से महाबल मुनि ने तीर्थकर गोत्र-नाम-कर्म का भी उपार्जन किया।

सातों अणगारों ने पहली से लेकर बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा क्रमशः अंगीकार की, लघु सिंहनिष्क्रीडित नाम के तप की आराधना की, महानिष्क्रीडित तप किया। इसके बाद भी सातों अणगारों ने उपवास, बेला, तेला आदि अनेक तप किए।

दीर्घ एवं उग्र तपाराधना के कारण जब महाबल आदि सातों मुनियों का शरीर शुष्क और रूक्ष हो गया। माँस-रक्त सूख गया, ऊर्जा की कमी से शरीर निष्प्रभ बनने लगा। अंतिम समय को निकट जान तब उन सातों मुनिवरों ने अपने स्थविर गुरु भगवन्त से संलेखना-संधारा की आज्ञा प्राप्त की। आज्ञा लेकर वे सभी चारु पर्वत पर चढ़ गए, जहाँ दो मास की संलेखना व अनशन रूप संधारा रखकर चौरासी लाख पूर्व का कुल आयुष्य भोगकर जयन्त नाम के तीसरे अनुत्तर विमान में देव-पर्याय में उत्पन्न हुए। वहाँ महाबल ने पूरे बत्तीस सागरोपम की स्थिति प्राप्त की, जबकि शेष छह ने कुछ कम बत्तीस सागरोपम की।

□ मल्ली राजकुमारी और छह राजकुमार

देवलोक से आयुष्य पूर्ण कर महाबल के जीव ने तो भरत क्षेत्र में मिथिला नामक राजधानी में कुंभ राजा की रानी प्रभावती की कुक्षि में मति, श्रुत और अवधि-इन तीनों ज्ञानों से युक्त होकर मल्ली राजकुमारी के रूप में जन्म लिया। शेष छह राजा के जीवों ने देव-पर्याय पूर्ण कर अलग-अलग राज्यों में राजकुमार के रूप में जन्म ग्रहण किया। उनमें छह में से एक इक्ष्वाकु वंश में, इक्ष्वाकु देश के राजा की राजधानी चम्पा में प्रतिबुद्धि नाम का राजकुमार बना। दूसरा अंग देश की राजधानी में चंद्रच्छाय, तीसरा काशी देश की वाराणसी में शंख, चौथा कुणाल देश की श्रावस्ती नगरी में रुक्मि, पाँचवाँ कुरु देश की राजधानी हस्तिनापुर में अदीनशत्रु और छठा पांचाल देश की कांपिल्यपुर नगरी में जितशत्रु नामक राजकुमार बना।

मल्ली राजकुमारी थीं, पर तीर्थकर-नाम-गोत्र का बंध था। अतः उनकी माता ने चौदह श्रेष्ठ स्वप्न देखे, छप्पन दिशाकुमारिकाओं ने अशुचि कर्म निवारण किए, इन्द्र-देवेन्द्रों ने नन्दीश्वर द्वीप में महोत्सव किया। उनका भव्य जन्माभिषेक हुआ।

□ आदमकद स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण

विदेहराज मिथिला नरेश की राजकन्या मल्ली जब युवा हुई, तब उनका रूप और लावण्य अतीव उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट था। अवधिज्ञान से मल्ली उन पूर्व के छह

बालमित्रों और वर्तमान के राजाओं को जानते-देखते रहने लगीं। अपने ज्ञान के बल से अपना व अपने पूर्व के मित्रों का पूर्वभव जाना और यह भी जाना कि भावी के गर्भ में क्या घटित होने वाला है। भावी घटना के प्रतिकार हेतु मल्ली ने ठीक अपने चेहरे व शरीर के समान दिखने वाली एक आदमकद स्वर्ण-पुतली बनवाई। उसे भीतर से खोखला रखवाया। उसके मस्तिष्क में एक छेद रखवाया और उसे कमलाकार ढक्कन से ढकने की विधि भी रखी।

□ मोहनगृह निर्माण कर उसमें रखी वह स्वर्ण-पुतली

मल्ली ने पुतली रखने के लिए एक मोहनगृह, अर्थात् मन को मोहित करने वाला अति रमणीक भवन बनवाया। भवन के मध्य में छह जालीदार कमरे अर्द्ध-वृत्ताकार समूह में बनवाए। छहों कमरों के मध्य में एक गोलाकार जाली इस तरह लगवायी कि प्रत्येक गृह से उस जाली के भीतर की वस्तु देखी जा सके। उसी जाली के भीतर एक स्वर्ण-मणिमय पीठिका पर मल्ली ने अपनी वह पुतली स्थापित करवा दी। उस पुतली को देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता था कि यह मल्ली नहीं है, मल्ली की पुतली है।

□ प्रतिदिन के भोजन का एक कवल पुतली के उदर में

इतना सब हो गया तब राजकुमारी मल्ली ने अपने द्वारा किए जाने वाले भोजन से प्रतिदिन एक कवल (कौर) उस पुतली के ढक्कन को हटाकर छिद्र में डालना प्रारम्भ किया। वह भोजन पुतली के भीतर जाकर सड़ता, उससे दुर्गन्ध आती। दिन-प्रतिदिन वह दुर्गन्ध बढ़ती गई। ढक्कन खुलता तो दुर्गन्ध बाहर आती, इतनी तीव्र दुर्गन्ध कि जैसे किसी मृत सड़े कलेवर की दुर्गन्ध हो, बल्कि उससे भी अधिक अप्रिय, अमनोरम, अनिष्ट गंध उसमें से निकलती थी। ढक्कन बंद कर देने पर दुर्गन्ध मिट जाती थी।

□ छह ही राजा मल्ली से प्रणय-बंधन हेतु तत्पर : कारण पूर्वानुराग

बंधुओं ! जिस घटना को घटित होना था, जिसे राजकुमारी मल्ली ने अपने अवधि ज्ञान से पूर्व में ही जान लिया, वही घटना प्रत्यक्ष हो गई। मल्ली राजकुमारी के पूर्वभव के छह साथी, जिनका पूर्वानुराग सम्बन्ध उनके प्रति था, वह अनुराग विभिन्न निमित्त पाकर इस भव में भी जाग्रत हो गया। उन छहों राजाओं ने मिथिला-नरेश से राजकुमारी

मल्ली की माँगनी की थी। राजा कुंभ ने उन सभी की माँगनी को अस्वीकार कर दिया था। इसी बात पर वे छहों राजा एक ही साथ कुंभ राजा के साथ युद्ध करने हेतु दल-बल सहित मिथिला नगरी पहुँचे। उन छहों राजाओं की सेना ने मिथिला के चारों ओर घेरा डाल दिया। पर न युद्ध प्रारम्भ हुआ और न कुंभ पराजित हुआ।

प्रश्न यह है कि मल्ली से विवाह की अभिलाषा इन छह राजाओं के मन में ही क्यों उत्पन्न हुई। क्या अन्यान्य राजाओं ने उसके रूप और लावण्य की उत्कृष्टता की बात नहीं सुनी होगी ? क्या यह सब सुनकर भी उनकी मिथिला-नरेश से मल्ली को पत्नी के रूप में माँगने की हिम्मत नहीं पड़ी होगी ? अथवा कोई अन्य ही कारण था ?

जरा आप सभी अपना जीवन और उसके आसपास के परिवेश को टटोलिए। क्या कभी ऐसा नहीं होता कि जिस व्यक्ति या प्राणी से इस जीवन में आपका कभी सम्पर्क ही नहीं हुआ हो और पहली बार उसे देखते ही आपके मन में रागभाव, प्रेम की स्फुरणा, वात्सल्यकी जागरणा उत्पन्न हो गई हो अथवा इसी तरह किसी अनजान व्यक्ति या प्राणी को देखते ही आपका हृदय घृणा की अनुभूतियों से भर गया हो ? ऐसा जरूर हुआ होगा, एक बार नहीं, अपितु अनेक बार ऐसा अनुभव आपको हुआ होगा। एक ओर किसी अनजान के प्रति स्नेह और दूसरी ओर किसी अनजान के प्रति घृणा—इन विरोधी भावों का साधारणतः तो कोई कारण दिखाई नहीं देता, पर वस्तुतः इस तरह के भावों का आना पूर्णतः निष्कारण भी नहीं होता।

आप जानते हैं कि जीव नया जन्म धारण करता है तो पूर्वभव के कुछ संस्कार साथ लाता है। पूर्वभवों के यही संस्कार जो वर्तमान में भी विद्यमान होते हैं, अपना प्रभाव दिखाते हैं। मान लीजिए किसी एक जन्म या पूर्व जन्म में आपका किसी जीव से रागात्मक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तो इस जन्म में अनायास ही कभी उसी जीव पर दृष्टि पड़ते ही प्रीति भाव उत्पन्न होंगे और किसी से शत्रुता का प्रगाढ़ भाव रहा है पूर्वभव में तो उसे इस जन्म में देखते ही सहसा विद्वेष की भावना उठ खड़ी होगी। यही इस घटना में भी हुआ।

□ मिथिला का घेरा, कुंभ चिन्तित

जो कुछ हो रहा था, उसे जानकर और देखकर राजा कुंभ अर्चिभित थे। पहले छह राजाओं का एक साथ राजकुमारी से वरण करने की अभिलाषा से माँगनी और इनकार

करने पर उनका इस तरह युद्ध और मिथिला को घेर लेना उन्हें असमंजस में डाल गया। वे अपने महलों में गहन चिन्ता में डूबे थे। किंकर्तव्यविमूढ़ वे विचार कर रहे थे कि ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए।

□ छह राजाओं को बोध की तैयारी : राजागण गर्भगृह में

ऐसे ही समय में राजकुमारी मल्ली उन्हें प्रणाम करने आई, पर चिन्तामग्न कुंभ को उसके आने का पता ही न चला। मल्ली ने चिन्तित पिता से चिन्ता का कारण पूछा। कारण ज्ञात होने पर राजकुमारी मल्ली ने कह दिया—“पितृवर ! आप सारी चिन्ता छोड़िए। मैं सभी को समझा दूँगी।”

कुंभ चकित हुए, पूछ बैठे—“ऐसा कैसे करोगी तुम ?”

राजकुमारी ने अपनी पूर्व तैयारी की जानकारी देते हुए पिता से कहा—“आप तो प्रत्येक राजा के पास गुप्त रूप से दूत भेजकर कहला दीजिए कि आपको ही मल्ली कुमारी दी जायेगी। आप गुप्त रूप से राजमहल में सन्ध्या समय आ जाइए।”

पिता ने पूछा—“जब वे यहाँ आ जाएँ तो क्या करना है ?”

पुत्री मल्ली ने कहा—“यहाँ आने पर उन सभी को मोहनगृह के जालीदार कमरों में अलग-अलग ठहरा दीजिए। इसके आगे मैं स्वयं उन्हें समझा दूँगी।”

बंधुओं ! ऐसा ही किया गया। दूत सन्देश लेकर गया। छहों राजा गुप्त रूप से राजमहल आए। उन्हें योजनानुसार अलग-अलग ठहरा दिया गया। यह सब काम इस तरह हुआ कि छहों राजा मन में यही समझते रहे कि केवल मुझे ही यहाँ बुलाया गया है। रात्रि में सभी उन जालीदार अपने-अपने कमरों के कक्ष में सोए। प्रातः उठे, शौचादि निवृत्त हुए तो उन्हें मल्ली की वह पुतली दिखाई दी। सबने यही समझा कि यही साक्षात् राजकुमारी मल्ली हैं। वे सभी एकटक उसी को देखने लगे।

□ असह्य दुर्गन्ध के कारण बने विकृत चेहरे

राजकुमारी मल्ली ने ठीक इसी समय पुतली के सिर पर बने छेद से ढक्कन हटा दिया। तीव्र दुर्गन्ध वहाँ फैल गई। छहों राजा भी उस दुर्गन्ध को महसूस करने लगे। उस असह्य दुर्गन्ध के कारण वे सभी घबरा गए, उनका जी मितलाने लगा, सभी ने अपनी-अपनी

नाक दबा ली, सभी के चेहरों पर विकृति-भाव उभरने लगा। उपयुक्त अवसर समझकर राजकुमारी मल्ली ने प्रश्न किया—“क्या बात है ? आप सभी इस तरह मुँह क्यों बिगाड़ रहे हैं ?” प्रश्न सुनकर सभी ने वातावरण में घुल रही असह्य बदबू से घबड़ाहट की बात कही। इस पर मल्ली राजकुमारी ने कहा—

“इमीसे कणगमईए जाव पडिमाए कल्लाकल्लिं ताओ मणुण्णाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ एगमेगे पिंडे पक्खिप्पमाणे, पक्खिप्पमाणे इमेयारूवे असुभे पोग्गल परिणामे, इमस्स पुण ओरालियसरीरस्स खेलासवस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कसोणियपूयासवस्स दुरूवऊसास-नीसासस्स दुरूव-मुत्तपूतिय-पुरीस-पुण्णस्स सडण-पडण-छेयण-विद्धंसणधम्मस्स केरिसए परिणामे भविस्सइ ? तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्जह, रज्जह, गिज्झह, मुज्झह, अज्झोववज्जह।”

—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, अध्ययन ८

□ राजकुमारी मल्लि का उद्बोधन

राजकुमारी ने जो मार्मिक कथन उन छहों राजाओं को उद्बोधित करते हुए कहा, उसका तात्पर्य था—“हे देवानुप्रियों ! इस स्वर्ण की पुतली में से यह असह्य बदबू निकल रही है। क्या आप जानते हैं कि यह बदबू किस कारण उत्पन्न हुई ? सुनिए—मैंने प्रतिदिन अपने मन की रुचि वाला भोजन करते समय, उस भोजन में से एक-एक पिण्ड इसमें नियम से डाला है। वही भोजन ऐसे अशुभ पुद्गलों में परिणमित हो गया है। सोचिए आप भी कि यह जो औदारिक शरीर है—वह कफ गिराने वाला, दुर्गन्धयुक्त वायु निकालने वाला, अमनोज्ञ मूत्र और मल से परिपूर्ण है। इसका स्वभाव है सड़ना, गलना, नष्ट होना। देवानुप्रियों ! इस शरीर का परिणमन कैसा होगा ? इस प्रश्न पर मनन-चिन्तन कर आप सभी मानव-देह सम्बन्धी समस्त कामभोगों से अपनी आसक्ति को हटाएँ, इनके प्रति अपने राग-भाव को दूर करें, मोह त्यागें, अतीव आसक्त न बनें।”

□ धर्म के रंग में रँग डालिए अपने को

बंधुओं ! इतना सब तो आप भी जानते हैं और मानते भी हैं पर मुश्किल एक ही है—इसे जीवन व्यवहार में नहीं उतारते। शरीर की इन्द्रियाँ और मन कामभोगों में धकेल

रहे हैं आपको और आप फँसे जा रहे कामभोगों में। गुरुवर कहते हैं—आओ ! मैं आपको धर्म-विमान में बिठाता हूँ, पर आप तो चाहते हैं कि विमान तो एक के बाद एक फिर आते रहेंगे, इनको छोड़ ऊपर से टपक रही शहद की एक बूँद का स्वाद तो और ले लिया जाए। ऐसी अनंतानंत बूँदों का स्वाद लेते रहे आप और धर्म-विमान छोड़ते रहे। भटक रहे हैं आप भी भव-सागर में, जन्म-मरण के चक्र हो रहे हैं पर धर्म का रंग लगता नहीं। “संसार चोखो लागे, वैराग्य खारो लागे।” लेकिन बंधुओं ! जिस दिन विरक्ति का पक्का रंग लग गया, उसी दिन आपका जीवन परिवर्तन की दिशा में चला जायेगा।

□ क्या है यह शरीर ?

बंधुओं ! क्या है यह शरीर, जिसके पीछे आप सभी पागल, दीवाने बने हैं ? एक से एक बढ़कर निकृष्ट कार्य इस देह-पोषण के लिए कर डालते हैं। जो देह मल-मूत्र, माँस, रुधिर, अस्थि, मज्जा की गठड़ी है। जिस देह के नौ-नौ द्वारों से गंदे पदार्थ बहते-झरते रहते हैं। चमड़ी से मढ़े इस देह से चमड़ी का ढक हटा दीजिए, तब देखिए इस शरीर को और बताइए मुझे कि तब आप उससे कितनी प्रीति करेंगे, उसे कितना चाहेंगे, उसे कितना सुन्दर मानेंगे ? ऐसे कण-कण में गंदगी भरे इस शरीर पर आपकी कितनी आसक्ति ? उन छहों राजाओं ने तो राजकुमारी मल्ली के इसी तरह के कथन पर अपनी दिशा को परिवर्तित कर लिया, पर आप कब करेंगे दिशा में परिवर्तन ? कब आपका राग विराग में बदलेगा ? कब आप भोग-पथ से योग-पथ की ओर ध्यान देंगे ?

□ मल्ली राजकुमारी व छहों राजा वैराग्य रंग में रँगें

राजकुमारी मल्ली ने अपने प्रेरक कथन के पश्चात् अपने पूर्वभव के उन छहों मित्रों को सजग किया। उन्हें पूर्व-जन्मों का वृत्तान्त सुनाया। पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनते-सुनते ही उन राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। वे सभी संबुद्ध बन गए। इसी समय राजकुमारी मल्ली ने दीक्षा लेने का संकल्प किया। उन छह राजाओं ने भी मल्ली के पास दीक्षा लेने की अभिलाषा प्रकट की। अब मल्ली राजकुमारी उन छहों राजाओं के साथ अपने पिता महाराज कुंभ के पास पहुँचीं। कुंभ ने उन सभी के मन की अभिलाषा जानकर विपुल सम्मान प्रदान करते हुए उन्हें विदा किया।

□ पाप के धन से भी कभी हो सकता है पुण्यार्जन

वैश्रमण देव ने शक्रेन्द्र की आज्ञा से अपने अनुचर जंभुक देवों द्वारा लाया हुआ तीन अरब अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्रा जितना धन तीर्थकर मल्ली द्वारा दीक्षा-पूर्व वर्षीदान देने हेतु महाराज कुंभ के राजभवन में पहुँचाया।

बंधुओं ! जंभुक देव अपने अवधिज्ञान के बल से धरती के भीतर गड़े उस धन को जिसका कोई स्वामी नहीं बचता, नाम-गोत्र भी जिनका समाप्त हो जाता है, जिनका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता, ऐसे बिना स्वामी के गड़े हुए धन को निकालकर तीर्थकरों के वर्षीदान हेतु पहुँचाते हैं। आज आप लोग व अन्य जन भी एकत्रित धन बैंकों में रखते हैं, शेरों में लगाते हैं, जमाबंदी कराते हैं। कई बार यह धन डूब जाता है, पापार्जित वह राशि पाप में चली जाती है। पुराने समय में लोग धन को मकान, दुकान, खेत आदि में गाड़ देते थे। अधिकांशतया वह धन नीति से अर्जित होता था, पर यदि अनीति और पाप से भी अर्जित किया गया हो, तब भी कभी संयोगवश वह तीर्थकरों के वर्षीदान के लिए निकाला जाए तो पाप के उस धन का उपयोग भी पुण्यार्जन में हो जाता है।

□ दीक्षा-महोत्सव

तीर्थकर-भव की परम्परानुसार मल्ली राजकुमारी ने एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान दिया। दीक्षा समय निकट आने पर पूर्व में मैंने जिन छह राजाओं का आपके सन्मुख उल्लेख किया था, उन्होंने भी अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को सिंहासनासीन किया। तीर्थकर मल्ली को सारस्वत, वह्नि, आदित्य, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट नामक नौ लोकान्तिक देवों ने आकर धर्म-तीर्थ स्थापित करने की विनीत प्रार्थना की।

बंधुओं ! तीर्थकर का तो दीक्षा ले लेने का संकल्प पहले से ही होता है फिर देवों द्वारा यह प्रार्थना और उद्बोधन क्यों ? तीर्थकर तो स्वयंबुद्ध होते हैं। उन्हें बोध देने की कहाँ आवश्यकता पड़ती है ? आप इसे इस रूप में समझ लीजिए कि इन देवों का यह अपना परम्परागत आचार है। उनका प्रतिबोधन वस्तुतः प्रभु के वैराग्य की संस्तुति का ही रूप है।

अरिहंत मल्ली ने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर सहस्रात्र उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे स्वयं ही पंचमुष्टिक लोचकर अष्टम भक्त करके (तेला तप) चारित्र धर्म (दीक्षा) अंगीकार किया। पौष शुक्ला एकादशी उनका दीक्षा-दिवस था। उनके साथ राजमहलों की तीन सौ स्त्रियों तथा राज्य के तीन सौ पुरुषों ने दीक्षा ग्रहण की। अरिहंत मल्ली का अनुसरण करते हुए छहों मित्र राजाओं एवं नन्द, नन्दमित्र, सुमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, अमरपति, अमरसेन और महासेन-इन आठ इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों ने भी दीक्षा अंगीकार की।

□ तीर्थ-स्थापना, धर्म-प्रसार, संथारा, मुक्ति

दीक्षा लेते ही अरिहंत मल्ली को मनःपर्यवज्ञान तथा दीक्षा के दिन ही दिन के अन्तिम भाग में केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। अरिहन्त मल्ली का छद्मस्थ काल सिर्फ एक प्रहर का रहा। सबसे कम छद्मस्थ काल इनका ही है। अरिहंत मल्ली का धर्मोपदेश श्रवण कर कुंभ राजा श्रमणोपासक बना, रानी प्रभावती ने श्रमणोपासिका धर्म अंगीकार किया। जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने दीक्षा धारण की।

अरिहंत मल्ली के किंकुश (भिषक) प्रमुख अट्ठाईस गणधर हुए, चालीस हजार साधु तथा पचपन हजार साध्वियाँ हुईं। एक लाख चौरासी हजार प्रभु के श्रावक थे तथा तीन लाख पैसठ हजार श्राविकाएँ थीं।

अरिहंत मल्ली के चौदह पूर्वधारी साधुओं की संख्या ६००, अवधिज्ञानियों की संख्या २,०००, केवलज्ञानियों की संख्या ३,२००, वैक्रियलब्धिधारियों की संख्या ३,५००, मनःपर्यवज्ञानियों की संख्या ८००, वादी साधुओं की संख्या १,४०० तथा अनुत्तरौपपातिक साधुओं की संख्या २,००० थी। अनुत्तरौपपातिक का अर्थ है सर्वार्थसिद्ध आदि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होना।

श्री मल्ली जिन ने अपने अंतिम समय में एक मास का पादोपगमन अनशन अंगीकार किया। पचपन हजार वर्ष की आयु भोगकर आप सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने। आपकी निर्वाण तिथि चैत्र शुक्ला चतुर्थी के दिन आपके साथ ही आपके पाँच सौ साधुओं व पाँच सौ साध्वियों ने भी एक मास के अनशन सहित निर्वाण पद प्राप्त किया। कालान्तर में जितशत्रु आदि छहों राजा भी मुक्ति के अधिकारी बने।

बन्धुओं ! इस प्रकार मल्ली जिन ने अपने भेद-विज्ञान से आत्म-ज्ञान का अमृतपान अपने पूर्वभव के मित्र छहों राजाओं को करवाकर उन्हें भी मोक्ष का राज प्रदान किया। आप भी इसी तरह यदि भेद-विज्ञानी बनते हैं तो एक दिन अवश्य ही आत्म-ज्ञान प्रकट करेंगे।

एक भव अवतारी आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी महाराज ने भी इसी भाँति भेद-विज्ञान को प्राप्त किया और वैराग्य के रंग में अपने आप को रँग डाला। इतना उत्कृष्ट वैराग्य कि मात्र एक प्रवचन श्रवण में दीक्षा का दृढ़ संकल्प, ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा धारण करना, मात्र तीन घण्टे में प्रतिक्रमण सूत्र पूरा कण्ठस्थ याद करना तथा दूसरे दिन दीक्षा धारण कर लेना। यह सब शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान प्राप्त करने पर ही संभाव्य है।

ऐसे प्रातः स्मरणीय जैनाचार्य श्री जयमलजी महाराज द्वारा रचित 'बड़ी साधु वन्दना' के भाव विस्तार से सुनने को मिल रहे हैं। सुनकर जो श्रोता हृदय में धारण करेगा, उसे आनन्द की प्राप्ति होगी।

आनंद ही आनंद !



पर्याय-परिवर्तन : आत्म-मंथन

(राजा जितशत्रु एवं सुबुद्धि प्रधान)

तीर्थकरों की अमृतोपम आत्म-कल्याणी जिनवाणी जीव और पुद्गल के भेद-विज्ञान को प्राप्त कराती है। जीव को जब तक भेद-विज्ञान का ज्ञान नहीं होता, आत्मा और शरीर-दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इस बात की जानकारी नहीं होती, तब तक उसकी दृष्टि जड़ बनी रहती है, बाह्य पुद्गलों पर टिकी रहती है। ऐसी बहिर्दृष्टि रखने वाला जीव अन्तर् की गहन परतों तक, भीतरी तहों तक नहीं पहुँच पाता।

□ गुण-ग्रहण की दृष्टि ही अन्तर्दृष्टि है

बंधुओं ! प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्मात्मक और अनंत गुणों का धारक होता है। केवल गुणी व्यक्ति ही पदार्थ में निहित, जीव में निहित, आत्मा में निहित इन गुणों को ग्रहण कर सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि जीव में गुण ग्रहण करने की दृष्टि बने। गुण ग्रहण की दृष्टि का जब तक किसी जीव में विकास नहीं होता, तब तक वह अनंत गुणधर्मा अपनी आत्मा को ही नहीं पहचान पाता, अर्थात् अपने आप को ही नहीं जान पाता। जो सार-तत्त्व है, जब जीव उसी को नहीं जान पाता तो वह आत्म-कल्याण के पथ पर कैसे आगे बढ़ सकेगा ?

□ पुद्गल-परीक्षा के साथ ही वाणी-परीक्षा भी करें

एक माली को फूलों की माला बनानी है, हार गूँथने हैं, गजरे आदि बनाने हैं तो वह क्या करेगा ? वह उद्यान में जाकर फूलों की क्यारियों से, पौधों से फूलों को चुनेगा, शेष काँटे आदि अन्य अवांछित तत्त्वों को त्याग देगा। आपके घरों में धान आदि सोहने का जो छाजला होता है, वह छाजला (सूप) सार-सार तत्त्वों को अपने भीतर रख लेता है और कचरा-कंकड़ आदि असार तत्त्वों को बाहर फेंक देता है। जबकि इसके विपरीत आपके ही घरों में धान वगैरह छानने की छलनियाँ सार को निकाल देती हैं, उनके

अन्दर केवल कचरा ही बचा रहता है, कारण वे अनेक छिद्र वाली होती हैं। आप जब बाजार में जाते हैं तो टके की हाँडी को भी ठोक-पीटकर, देख-भालकर, पूर्ण-परीक्षा करके लेते हैं।

ये सारी बातें घर-संसार सम्बन्धी हुईं, जहाँ आप पूरी तरह जाँच कर सारपूर्ण चीजों को ग्रहण करते हैं, क्रय करते हैं। अब आइए भीतर की तरफ, आत्म-तत्त्व की तरफ, धर्मवाणी की तरफ ! संसार में वस्तु-जाँच में इतने चतुर आप कभी वाणी की परीक्षा भी करते हैं या नहीं कि कौन-सी वाणी तारने वाली है और कौन-सी मारने, डुबाने, भव-भ्रमण कराने वाली है ? सुनते नित्य हैं तीर्थकर-भगवंतों की वाणी को पर दृष्टि अभी गुणग्राही नहीं बना सके।

□ सुनने का सार है ग्रहण करना

बंधुओं ! क्या केवल सुनने से आत्म-कल्याण संभव है ? यदि ऐसा ही होता तो हजारों, लाखों व्यक्ति हैं ऐसे जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण आयु व्यतीत कर दी आगमवाणी को सुनने में, प्रवचन-सभाओं में उपस्थिति देने में और घणीखम्मा करने में। क्या मिला उनको ? क्या सार-तत्त्व अपनाया उन्होंने उस वाणी का, अपने जीवन में ? जब तक इस वाणी को सुनकर उसके ग्रहण करने योग्य सार-तत्त्व को जीवन में नहीं उतारा जाता, गुणों का विकास नहीं हो पाता, तब तक वह सुनना भी न सुनने जैसा ही रहेगा। व्यर्थ है, निष्फल है, सारहीन है ऐसा सुनना।

□ दुनिया को सुधारने से पूर्व स्वयं को सुधारें

आप स्वयं अनीति पर चल रहे हैं, अनेक अवगुण आपके भीतर भरे हुए हैं, छल और छद्म के बिना आपका कोई क्षण नहीं बीतता, पर आप चाहते यह हैं कि आपके अधीनस्थ मुनीम, नौकर, कर्मचारी ईमानदार हों, नीतिपूर्वक चलें, गुणवान हों तो यह कैसे संभव होगा? स्वयं के गुणों का तो कोई अता-पता नहीं पर चाह गुणवानों की ! घर-व्यापार आदि में जितने भी नौकर-चाकर लगे हैं, उनकी खोजबीन करते हैं कि ईमानदार हैं या नहीं। नया नौकर रखते हैं तो पूरी खोज करते हैं, साख लेते हैं, पहचान भी कराना चाहते हैं। डर होता है भीतर कि कहीं धोखा न खा जाऊँ। अब मैं आपसे एक प्रश्न करूँ—डरता कौन है ? आप उत्तर नहीं देंगे, दे भी नहीं सकते, क्योंकि डरता

वही है जो स्वयं अधर्मी है, धोखा देता है, बेईमान है। मैं नहीं कहता कि आप सभी के लिए यह बात लागू होती है, पर इतना तो कहूँगा कि आप स्वयं अपने आप से पूछें कि आप कितने ईमानदार हैं, नीतिवान हैं, गुणवान हैं ?

□ कैसे मिटेगा रोग ?

जिनवाणी का श्रवण कर रहे हैं, पर यदि आपका सुनना केवल सुनने तक ही सीमित है तो उसका वांछित लाभ नहीं। लाभ तो तभी ज्यादा होगा, जब जीवन में उसे उतारा जाए। एक सेठजी बीमार हो गए। लोगों ने उनको सलाह दी—“डॉक्टर को दिखाकर दवाई ले लो।” सेठजी ने एक कान से उनकी बात सुनी, दूसरे से निकाल दी। बीमारी बढ़ गई तो फिर कुछ लोगों ने समझाया—“डॉक्टर को दिखा दो, नहीं तो मर जाओगे।”

सेठजी गए अस्पताल। पूछा लोगों से कि मुझे ऐसी-ऐसी बीमारी है, किस डॉक्टर को दिखाऊँ, वह कहाँ बैठता है आदि। जिस डॉक्टर को दिखाना था, उसके कमरे के बाहर बहुत-से रोगी डॉक्टर की प्रतीक्षा कर रहे थे। डॉक्टर अभी आया नहीं था, आने वाला था। सेठ साहब भी कमरे के बाहर एक स्थान पर जाकर खड़े हो गए। कुछ समय के पश्चात् डॉक्टर आया। सेठ ने डॉक्टर को देखा, हाथ जोड़े और कहा—“जय जिनेन्द्र !” डॉक्टर ने सेठ को देख, सिर हिलाकर उसका अभिवादन स्वीकार किया और कमरे के भीतर चला गया। सेठ भी वहीं से अपने घर को लौट आया।

संध्या के समय लोग मिले, आए तो पूछा सेठ से—“दिखा दिया डॉक्टर को ?”

सेठ बोला—“पूरा शरीर दिखा दिया पर अब तक तो कुछ भी लाभ नहीं हुआ।”

सेठ की बात सुनकर लोगों ने पूछा—“डॉक्टर ने क्या कहा ? क्या दवाई दी ?”

सेठ बोला—“कुछ नहीं। वह आया, मैंने जय जिनेन्द्र किया, उसने देखा और बस वह कमरे में चला गया।”

लोगों ने उसे समझाया कि “ऐसे नहीं। तुम भी लाइन में खड़े रहो। डॉक्टर अंदर जाए, तुम्हारा नम्बर आए तब तुम अंदर जाओ। डॉक्टर तुम्हारी जाँच करेगा, पर्ची लिखेगा, वह पर्ची लाओ। जैसा डॉक्टर तुम्हें समझाए वैसा करो तब ठीक होओगे।”

लोगों की बात मानकर सेठजी दूसरे दिन पुनः अस्पताल गए। डॉक्टर के कमरे के बाहर प्रतीक्षारत लोगों की लाइन में खड़े रहे। घंटे-दो घंटे बाद नम्बर आया तो डॉक्टर

से शरीर चेक-अप कराया। डॉक्टर ने कहा—“एक्स-रे कराओ, ब्लड टेस्ट कराओ, यूरिन टेस्ट कराओ।” सेठ ने सारे टेस्ट कराए, एक्स-रे भी कराया। डॉक्टर ने रिपोर्ट्स देखी और एक पर्ची बनाकर सेठ को दी। कहा—“इसे सँभालकर रखना, सात दिन बाद वापस दिखाना।”

सेठ ने घर आकर सोचा—‘डॉक्टर ने कहा था सँभालकर रखना। अतः पर्ची को तिजोरी में रखकर ताला लगा देना चाहिए। जहाँ यह सुरक्षित रहेगी।’

उसने ऐसा ही किया, पर बीमारी दूर नहीं हुई, बुखार उतरा नहीं।

पड़ोसी पुनः आए। पूछा सेठ से। सेठ ने सारी बात बता दी और कह दिया कि “मैंने पर्ची को तिजोरी में रखकर ताला लगा दिया है। सात दिन बाद पुनः जाऊँगा, डॉक्टर को दिखा दूँगा।”

सात दिन बाद तिजोरी खोली, पर्ची निकाली। देखा पर्ची को तो वह साफ-सुथरी थी, कहीं से भी फटी हुई नहीं थी। गया अस्पताल। डॉक्टर ने देखा, पर्ची भी देखी। सेठ बोला—“मैंने इसे पूरी तरह सँभालकर रखा, पर बुखार नहीं गया।”

इस पर डॉक्टर ने पूछा—“दवा ली या नहीं ?”

सेठ क्या कहता, उसने दवा तो ली ही नहीं थी।

□ कर्म काटने हैं तो जिनवाणी रूप दवा लो

बंधुओं ! यह एक दृष्टान्त है जो आप पर लागू होता है। आप छद्मस्थ जीव सेठ हैं, आपको कर्म रूप बीमारी लगी हुई है। तीर्थकर-भगवंत डॉक्टर हैं, उनकी वाणी पर्ची है। आपके गुरु-भगवंत, संत-निर्ग्रन्थ मुनि महाराज आपकी बीमारी पहचानकर आपको जिनवाणी रूप भाँति-भाँति के व्रत-प्रत्याख्यानों की दवा लेने को कहते हैं, पर आप आगम रूप जिनवाणी की पर्चियों को, ग्रंथों को आलमारियों में बंद कर ऊपर से ताला जड़ देते हैं और चाबी कन्दोरे के लटका लेते हैं। गुरु-भगवंतों से सुनते हैं तो यहाँ का यहीं पल्ला झाड़ देते हैं कि भगवन् ! ‘तेरा तुझको अर्पण !’ फिर कर्म कैसे कटेंगे ? कर्म-रोग कैसे मिटेगा ?

वाणी को जीवन में उतारना है। उपदेशों की दवा जिस दिन अन्तर् में गहरी उतर जायेगी, उस दिन से कर्मरूपी रोग भी धीरे-धीरे कम होने लगेगा। कर्म-रोग के कीटाणु

हटेंगे तो आत्मिक गुण प्रकटित होंगे। सम्पूर्ण गुणों के प्रकट होने पर जन्म-मरण मिट जायेगा, मुक्ति मिल जायेगी, आत्मा अपने शुद्ध, बुद्ध रूप में मोक्ष में जा विराजमान हो जायेगी।

□ अन्तर् के गुणों को प्रकट करिए

चल रहा है यहाँ उन्हीं उत्कृष्ट गुणी पुरुषों का गुणकीर्तन, जिन्होंने जिनवाणी को जीवन में उतारकर कर्मरोग को समूल नष्ट किया, सम्पूर्ण गुणों को प्रकट किया। गुण कीर्तन करते हुए उन गुणियों की भाँति गुणों को प्रकट करने की एक बार भी लालसा उत्पन्न हो गई तो मुक्ति के द्वार खुल जायेंगे, अवगुण स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे। आज संसार में जहाँ भी जाएँ, प्रतिष्ठा गुणियों की है। एक गाय भले ही कितनी ही सुन्दर हो, उसके गले की घंटी से कितनी ही सुमधुर, कर्णप्रिय ध्वनि निकलती हो पर यदि वह दूध नहीं देती तो कौन उसे अपने पास रखेगा ? उसे अपने बाड़े के खूँटे से बाँधेगा ? उसे चारा-पानी देकर कौन उसकी सेवा करेगा ? सुन्दर न भी हो पर यदि गाय दूध देती है तो उसके अनेक चाहने वाले, अनेक ग्राहक मिल जायेंगे। बंधुओं ! गुण प्रकट करिए, फिर सिद्धों और आप में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

□ राजा जितशत्रु और सुबुद्धि प्रधान

जितशत्रु राजा का मंत्री सुबुद्धि भी ऐसा ही गुणवान व्यक्ति था। आज 'बड़ी साधु वन्दना' के महनीय गुणियों में उसी का प्रसंग आप सुनेंगे—

वलि जितशत्रु राजा, सुबुद्धि नामे प्रधान।

पोते चारित्र लेइने, पाय्या मोक्ष निधान॥४७॥

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के बारहवें अध्ययन का नाम है, 'उदक'। उदक का अर्थ होता है पानी। इस अध्याय में पानी के दृष्टांत द्वारा पुद्गलों के गुण सड़न-गलन, विध्वंसन का निरूपण किया गया है। जो जीव धर्म का ज्ञाता तथा जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों का जानकार होता है, वह पुद्गलों के इस स्वभाव से परिचित होता है। अतः न मनोज्ञ वस्तुओं में रति होती है और न अमनोज्ञ वस्तुओं से अरति।

चम्पानगरी का राजा जितशत्रु धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ, जीवादि तत्त्वों को न जानने वाला तथा जिनमत से भी अनभिज्ञ था, पर उसका अमात्य सुबुद्धि अपने नाम के

अनुरूप ही बुद्धिमान, तत्त्वज्ञ तथा आत्म-ज्ञान में रमण करने वाला था। वह पूर्णतः जिनभक्त तथा श्रमणोपासक था।

□ आहार नीरस हो या सरस, समभाव से ग्रहण करें

एक दिन राजा जितशत्रु भोजन करने बैठा। भोजन के लिए परोसी गई सभी सामग्रियाँ, सारे व्यंजन बड़े स्वादिष्ट लगे राजा को। वह उन्हें चटखारे लेकर, प्रशंसा करता हुआ खाने लगा। भोजन में कोई स्वादिष्ट वस्तु आ जाए तो आप क्या करेंगे ? आप भी तो यही कहेंगे—यह चीज बड़ी स्वादिष्ट है, कितनी अच्छी बनी है, मसाले आदि कितने सही तरीके से डाले गए हैं। जीमणवार में कोई एकाध चीज कुछ ज्यादा ही स्वादिष्ट हो तो क्या होगा ? आने वाले, खाने वाले उसी वस्तु को बार-बार लेना चाहेंगे। एक-दूसरे को संकेत और कर देंगे कि अमुक चीज बढ़िया है। कभी-कभी तो व्रतधारी श्रावक भी सीमा तोड़ बैठते हैं, मर्यादा भूल जाते हैं और तारीफ कर-करके वह वस्तु रुचिपूर्वक खाते हैं।

बंधुओं ! आप भगवान महावीर के अनुयायी हैं। आप जानते हैं कि भोजन सरस हो या नीरस, उसे समभाव से ग्रहण करना चाहिए। वस्तु में मूर्च्छित बनकर भोजन करना निकाचित कर्मबंध का कारण बन सकता है। यह सब जानते हुए भी आपका जानना उस तोते की रटन्त जैसा है, जो कभी बिल्ली के द्वारा पकड़ा गया और आप ही की तरह के किसी सज्जन व्यक्ति द्वारा छुड़ा लिया गया। तोता घायल था, रक्तस्राव अधिक हो गया था। अनुकम्पा भाव से सज्जन पुरुष ने उस तोते का औषधोपचार किया। तोता ठीक हो गया। बिल्ली पुनः न पकड़ ले, अतः सज्जन व्यक्ति ने उसे एक पिंजरे में डाल दिया और सोचा—‘यद्यपि यह इस पिंजरे में सुरक्षित है; फिर भी कभी पिंजरे का दरवाजा खुला रह गया तो इसे फिर संकट में पड़ प्राण गँवाने पड़ सकते हैं। अतः मैं इसे ऐसा कोई मंत्र सिखाऊँ कि बिल्ली कभी यदि आए भी तो इसका मंत्र-पाठ सुनकर भाग जाए।’ सज्जन ने सिखाया, तोते ने रट लिया। अब वह हर समय इसी मंत्र-पाठ की बार-बार रटन्त लगाता—“बिल्ली आए तो उड़ जाना।” सज्जन व्यक्ति निश्चिन्त हो गया।

एक दिन भूल हो ही गई, दरवाजा खुला रह गया। बिल्ली के तो भाग्य से जैसे छींका टूटा। वह तो इसी ताक में थी। तोते ने देखा बिल्ली को पर वह निश्चिन्त बना

रहा। सोचा—‘मेरे पास तो मंत्र-विद्या है, मुझे यह बिल्ली क्या मारेगी ?’ तोता आँखें बंद कर तल्लीनता से मंत्र-पाठ करने लगा—“बिल्ली आए तो उड़ जाना, बिल्ली आये तो उड़ जाना।” बिल्ली ने देखा तोते की आँखें बंद हैं और रटन्त जारी है। वह धीरे-धीरे चौकत्री आगे बढ़ी और तोते को दबोच लिया।

बंधुओं ! सामायिक के पाठ आप भी बोलते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं तो आवश्यक सूत्र के सारे पाठ सविधि उच्चारण करते हैं, माला भी जपते हैं, भक्तामर आदि अनेक स्तोत्र भी बोलते हैं, पर जैसे यहाँ आकर केवल सुनते हैं, वैसे ही इन अवसरों पर केवल बोलते ही हैं। शास्त्रों को रट लिया, नित्य पाठ भी किया पर अर्थ नहीं जाना, मनन-चिन्तन नहीं किया, जीवन में नहीं उतारा, कुछ परिवर्तन यदि शास्त्र-ज्ञान से नहीं आया तो वह कैसा ज्ञान, वह कैसा श्रवण, वह कैसी क्रिया ? सवा लाख, नव लाख आदि महामंत्र जाप में भाग लेते हैं, पर मंत्र जाप का न अर्थ समझते हैं, न महत्त्व। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में जोर से बोल देते हैं—“तस्म मिच्छामि दुक्कडं”—पर कथनी के साथ करनी नदारद। राजा स्वाद ले-लेकर भोजन कर रहा है, भोजन में बनी वस्तुओं की प्रशंसा भी कर रहा है, भोजन बनाने वाले की भी प्रशंसा की जा रही है। आसपास में बैठे हैं अमीर-उमराव, सरदार, मंत्रीगण, सेनापति, राजदूत, राजपुरोहित, अमात्य आदि। इनमें से अनेक चापलूस हैं, अनेक वाचाल हैं, अनेक स्व-विवेकहीन हैं। ऐसे लोग क्या करते हैं, आप जानते ही हैं। हाँ में हाँ, जी-हजूरी में उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। अनादिकाल से इस तरह के जी-हजूरिए रहे हैं। आज तो युग ही चमचों का युग है, पर यह आज की रीति है सो बात नहीं, चमचों का चलन तो अनादिकाल से चल रहा है।

□ चापलूस स्वयं डूबता है, दूसरों को भी डुबोता है

बंधुओं ! यह चमचागीरी विवेक भ्रष्ट लोगों की ऐसी करतूत है जिससे वे अपना जीवन तो पतन के गर्त में गिराते ही हैं, पर जिसकी हाँ में हाँ मिलाते हैं, उसे भी आधार के बिना ही इतना ऊपर चढ़ा देते हैं कि गिरना अवश्यम्भावी हो जाए और जब वह गिरता है तो उसके फूल-पान भी कहीं मिलते नहीं। चापलूसी के कार्य में जो अनुमोदना है, वह पापकर्म के बंध का प्रबल हेतु होता है।

□ पुद्गलों का स्वभाव है परिवर्तन

राजा के निकट ही अमात्य सुबुद्धि भी बैठा है पर शान्त, मौन। राजा देखता है अमात्य को। उसे कुछ न बोलते देख पुनः खाद्य पदार्थों की तारीफ करते हुए उन्हें खाता है पर अमात्य तो वैसे के वैसे ही मौन मुद्रा में। राजा ने तीन बार भोजन के स्वादिष्ट होने की बात कही, सराहना की, स्वाद ले-लेकर खाया। शेष सभी ने भी तारीफ के पुलिन्दे बाँधे पर मंत्रीश्वर (अमात्य) नहीं बोले, शान्त ही रहे। इस पर राजा ने कहा—“अमात्य ! आपने कुछ कहा नहीं ?”

अमात्य बोले—“स्वामिन् ! ये पुद्गल हैं और पुद्गलों का स्वभाव ही संयोगानुसार परिवर्तित होना है। आज शुभ संयोग है तो ये पदार्थ स्वादिष्ट हैं, कल जब अशुभ संयोग बनेगा तो ये ही पदार्थ हेय, त्याज्य, घृणा योग्य हो जायेंगे। स्वभाव से या प्रयोग से इनके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि कभी शुभ से अशुभ तो कभी अशुभ से शुभ में बदलते रहते हैं।”

□ सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में अन्तर

बंधुओं ! यह है सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का दृष्टिकोण। बात साधारण-सी है पर राजा जितशत्रु व अन्य लोगों की विचारधारा तथा सुबुद्धि की विचारधारा के अन्तर को स्पष्ट करने वाली है। जिनकी दृष्टि बाह्य पुद्गलों तक ही सीमित रहती है, जो शरीर को ही साध्य मानते हैं, जिनके विचारों में तत्त्वज्ञान का अभाव रहता है—वे इन्द्रियों के विषय-विकारों में आसक्त बने रहते हैं। आज जैन कहे जाने वाले, श्रावकों की गिनती में गिने जाने वाले अस्सी प्रतिशत व्यक्ति भौतिकवादी, वस्तु व ऐन्द्रिक सुख में रमण को प्रधानता देकर आत्मा की अनुभूति को ठुकरा देते हैं। ऐसे लोग समत्व की बजाय ममत्व को प्रधानता देकर परिग्रह में गृद्ध बने रहते हैं। उन्हें सुन्दर रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि आकर्षित करते हैं, जबकि असुन्दर रूप आदि से वे घृणा करते हुए नाक-भौं सिकोड़ते, उसे त्याग देते हैं, उससे दूर हो जाते हैं।

□ अत्यंत बदबू वाला, दुर्गन्ध देने वाला गन्दा पानी

जितशत्रु राजा भी ऐसी ही भौतिकवादी मान्यता को जीवन में प्रमुख स्थान देने वाला था। अतः उसने अपने अमात्य के द्वारा कहे गये इस सत्य-तथ्य एवं तात्त्विक कथन पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस घटना के कई दिन पश्चात् एक बार राजा जितशत्रु

अपने अनेक भटों, सुभटों, राज-दरबारियों, सार्थवाहों व मंत्रि-मंडल के सदस्यों के साथ अश्वारूढ़ हो घुड़सवारी के लिए राज्य से बाहर निकला। जिस दिशा में राजा जा रहा था, उसी दिशा में एक खाई थी। इस खाई में कीचड़ वाला, अत्यंत बदबूदार पानी भरा हुआ था। नगर के गंदे पानी की निकासी भी इसी खाई में होती थी। खाई के पानी में अनेक स्थानों पर मरे हुए जानवरों के कलेवर बिखरे पड़े थे। पानी के भीतर अनेक कीड़े कुलबुला रहे थे। राजा जब असहनीय दुर्गन्ध से भरे पानी वाली उस खाई के निकट पहुँचा तो वातावरण में आ रही तीव्र अशुभ गंध से घबरा गया। उसने अपने उत्तरीय वस्त्र से मुँह-नाक ढक लिया। उसे लगा कि यहाँ दो-चार मिनट खड़े रहना भी बहुत मुश्किल है। उसने अपने साथ चल रहे लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा— “कितनी दुर्गन्ध है ? कैसा वीभत्स, अमनोज्ञ नाला है ? पानी कितना बदबू वाला है ? यहाँ तो ठहरना भी असंभव-सा लगता है।”

□ आज अशुभ है पर कल शुभ बन सकता है

सभी ने राजा की बात का समर्थन किया। अमात्य सुबुद्धि पहले तो मौन रहा पर जब राजा ने उसे लक्ष्य कर पुनः यही बात कही तो वह बोला—“स्वामिन् ! पानी पुद्गल है (पानी शरीर अपेक्षा से पुद्गल होता है एवं अपकाय जीवों की अपेक्षा से सचित्त जल जीव होता है।) और यह कभी स्वभाव से, कभी निमित्त से शुभ हो जाता है तो कभी अस्वाभाविक रूप से निमित्त पाकर अशुभ बन जाता है। आज जिस पानी को आप इस अशुभ रूप में देख रहे हैं, निमित्त मिलने पर यही शुभ, इष्ट, प्रिय, कान्त, मनोहर बन सकता है।

□ सुबुद्धि का सिद्धान्त राजा को मान्य नहीं

इस पर राजा ने उसे भर्त्सना करते हुए कहा—“अमात्य ! तुमने पहले भी एक बार ऐसी ही बात कही थी, आज फिर वही बात दोहरा रहे हो। लगता है तुम दुराग्रही हो। असत् को सत् के रूप में बताकर तुम मुझे और मेरे साथ-साथ अन्यान्य लोगों को भी भ्रमित बनाना चाहते हो। तुम्हारा यह व्यवहार ठीक प्रतीत नहीं होता।”

अमात्य सुबुद्धि ने सोचा—“यह राजा सत् तत्त्वरूप तथ्य नहीं जानता। इसे सद्भूत जिन-वचनों का ज्ञान नहीं है। मुझे चाहिए कि मैं इसे जिन-प्ररूपित भावों को समझाकर सत् तत्त्वरूप तथ्य को स्वीकार कराऊँ।”

□ राजा को तत्त्व का ज्ञान कराने हेतु सुबुद्धि प्रयत्नशील

तब अमात्य ने कुंभकार के यहाँ से बहुत से कोरे मिट्टी के घड़े मँगवाए। पानी छानने के लिए अनेक चौकोर वस्त्र (गरणे) मँगवाए। संध्या के समय खाई के पानी से एक घड़ा पानी भरकर मँगवाया। अब उसने एक घड़े में पत्थर-कंकड़ भरे, दूसरे में कोयला भरा, तीसरे में कोयले की चूरी भरी, चौथे में चूना भरा, पाँचवें में धूल भरी, छठे में राख भरी।

□ खाई का दुर्गंध मारता पानी मंत्री के प्रयत्नों से अति निर्मल बना

बंधुओं ! पानी को फिल्टर करने अर्थात् छानकर शुद्ध बनाने का यह एक पुराना तरीका था। सबसे नीचे एक नया खाली घड़ा, उसके ऊपर राख भरा घड़ा, उसके ऊपर धूल भरा घड़ा और इसी तरह चूने से, कोयला-चूरी से, कोयले से व कंकड़-पत्थर से भरे घड़ों को क्रमशः एक-एक कर इनके ऊपर (एक के ऊपर एक) रखवा दिया। इन सबके ऊपर वह घड़ा रखवाया जिसमें खाई का बदबूदार जल भरा हुआ था। घड़े सभी कोरे थे। बदबूदार पानी पहले घड़े के अन्दर से रिस-रिसकर एक-एक बूँद गिरता और दूसरे घड़े में समा जाता। यह क्रिया लम्बे समय तक चली। अशुभ पानी बूँद-बूँद रिसता पहले से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में.....इसी क्रम से अंतिम घड़े में फिल्टर होकर कितने ही दिनों बाद आया।

□ राजा के भोजन-समय में वही जल

दिन पर दिन व्यतीत होते रहे। अड़तालीस दिन बीतने पर देखा अमात्य ने तो सबसे नीचे वाले खाली घट में आधे के करीब पानी आ चुका था। उनचासवें दिन अमात्य ने पानी चखा। स्वाद में निर्मलता, शीतलता, मधुरता पाकर उसे संतुष्टि हुई। उस निर्मल बने जल को और अधिक मधुर, सुस्वादिष्ट, प्रियकारी बनाने हेतु अमात्य ने उसमें इलायची, लवंग, केवड़े की सुगंध आदि डाली। जब देखा कि अब यह पानी प्रशंसा के योग्य उत्तम स्वाद वाला, सुगंध वाला, रूप-रंग वाला बन गया है तो एक दिन अमात्य सुबुद्धि ने एक शुद्ध धातु के बर्तन में भरकर वह पानी राजा के जलगृह के कर्मचारी के हाथों में दिया और उसे कहा—“बंधु ! राजा जब भोजन करने बैठें, उस समय तुम यह जल उनके पीने के लिए रख देना।”

□ ऐसा मधुर, स्वादिष्ट जल पहले कभी नहीं पिया

उस दिन राजा जितशत्रु जब भोजन करने बैठा तो जलगृह-कार्मिक ने अमात्य सुबुद्धि द्वारा दिया गया वह जल राजा के पीने हेतु रख दिया। भोजन करने के पश्चात् राजा ने वह जल पिया। जल की निर्मलता, सुस्वादुपन, चित्ताकर्षक सुर्गंध से राजा अति विस्मित हुआ। उसे अनुभव हुआ कि आज तक पहले कभी उसने इतना मधुर, शीतल, स्वादिष्ट जल नहीं पिया था। जलगृह के कर्मचारी से उस जल के बारे में पूछा तो ज्ञात हुआ कि अमात्य सुबुद्धि के यहाँ से भिजवाया गया है।

□ आज यह जल कहाँ से लाया गया ?

अमात्य सुबुद्धि को बुलवाया गया। राजा ने उससे कहा—“आज तुमने जो पेय-जल मेरे लिए भेजा है, वह अत्यंत निर्मल, मधुर, सुस्वादिष्ट है। कौन-से कुँ का है यह जल ? आप तो हमेशा ऐसा उदक-अमृत पीते हैं, मुझे कभी कहा भी नहीं। मैंने तो अपने जीवन में प्रथम बार ऐसा उत्तम जल पिया है।”

अमात्य सुबुद्धि ने कहा—“राजन् ! यह उसी दुर्गंधित खाई का अशुभ जल है।”

□ ‘यही वह दुर्गंधित जल है’ सुनकर राजा चकित

राजा को विश्वास नहीं हुआ। वह बोला—“ऐसा कैसे हो सकता है ? मैं कैसे मानूँ कि यह उसी खाई का पानी है, जिसके पास उसकी दुर्गन्ध के कारण खड़े रहना भी अति मुश्किल है ?”

अमात्य सुबुद्धि ने तब कुंभकार के यहाँ से नए कोरे घड़े मँगवाने, खाई के पानी को सात-सात मटकों में विभिन्न पदार्थों के बीच से फिल्टर करने व उसे सुर्गंधित बनाने की प्रयोग की हुई समस्त विधि राजा को बतला दी।

राजा को तब भी विश्वास नहीं हुआ तो अमात्य ने कहा—“राजन् ! हाथ कंगन को आरसी क्या ? आप स्वयं ही ऐसा करके देख लें।”

राजा ने कुंभकार से घड़े मँगवाए, खाई से पानी मँगवाया, वही विधि दोहराई, पानी निथरने लगा। सात सप्ताह पश्चात् जो पानी सबसे नीचे वाले घट में एकत्रित हुआ, उसे राजा ने देखा, परखा, पिया। वह ठीक वैसा ही था जैसा राजा ने सुबुद्धि द्वारा भेजा जल पीया था। कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि अत्यधिक अशुभ की ऐसे उत्तम शुभ में परिणति हो सकती है।

□ राजा ने स्वीकार किया कि पुद्गल स्वभाव से परिवर्तनशील है

राजा ने कहा—“अमात्यवर ! आप ठीक कहते हैं कि पुद्गल का स्वभाव प्रकृति रूप से अथवा संयोगों से पर्याय परिवर्तन वाला एवं वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को बदलने वाला है। शुभ अशुभ बन जाता है और अशुभ शुभ बन जाता है।”

इस प्रयोग के बाद राजा के मन में अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुईं। सत्य तथ्य को जानने की जिज्ञासा ही सम्यक्त्व की प्रारंभिक भूमिका मानी गई है। अपनी जिज्ञासाओं को शान्त करने हेतु राजा ने सुबुद्धि से कहा—“आप तो तत्त्वज्ञानी हैं। आपने यह ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया ? तत्त्वज्ञान की कुछ बातें मुझे भी तो बताइए।”

□ उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा : महावीर का अटल सिद्धान्त

सुबुद्धि ने बताया राजा को कि वह जिन-मतानुयायी है और ऐसा तत्त्वज्ञान जिन-वचनों में, आगमों में, श्रुतवाणी में समाया हुआ है। बंधुओं ! विश्वभर के जितने भी धर्म, दर्शन, सम्प्रदाय, सिद्धान्त, तत्त्व हैं, उनमें केवल जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो उद्घोष करता है कि पुद्गल पदार्थ द्रव्य और पर्याय का मिला-जुला रूप है। किसी भी वस्तु का जो द्रव्यांश है वह नित्य, शाश्वत रहता है उसका कभी नाश नहीं होता, न उसका उत्पाद ही होता है। अतः प्रत्येक वस्तु द्रव्य की दृष्टि से ध्रुव है—चाहे वह जड़ हो, चाहे चेतन। इसी तरह पदार्थ की पर्याय नाशवान है। अतः क्षण-क्षण में उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है।

तीर्थकर-भगवंत अपने शिष्यों को यही मूल तत्त्व बताते हैं—

उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।

दुनिया में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें केवल द्रव्य हो और पर्याय न हो। इसी तरह दुनिया में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसकी पर्याय हो पर जिसका द्रव्य-स्वरूप न हो। यदि जीव-द्रव्य होगा तो यह भी ध्रुव निश्चित है कि वह जीव-द्रव्य सिद्ध, देव, मनुष्य, तिर्यच या नारक पर्याय में से किसी न किसी पर्याय में होगा ही। इसी तरह मनुष्यादि की पर्याय तो है पर जीव-द्रव्य की उसमें उपस्थिति न हो, यह असंभव है।

जिन-प्ररूपित इस विशिष्ट तत्त्व को जब जितशत्रु ने समझ लिया तो सुबुद्धि अमात्य ने जितशत्रु राजा से केवलीभाषित चातुर्याम रूप धर्म का विस्तृत कथन किया। कर्मबंध

के स्वरूप को समझाया। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप श्रावक के बारह व्रतों की व्याख्या की।

□ जितशत्रु राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना

जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि प्रधान द्वारा कहे धर्म को दत्तचित्त होकर सुना। उसके मन की अनेक जिज्ञासाओं का समाधान हुआ, वह अत्यन्त हर्षित हुआ तथा धर्म के मर्म को मन में धारण करता हुआ बोला—“मुझे जिन-वचनों पर अटूट श्रद्धा है, तुमने जो जिन-प्ररूपित धर्म कहा वह सत्य है। अतः मैं बारह व्रत अंगीकार कर श्रावक बनने की अभिलाषा रखता हूँ।”

□ जागृत बनिए आप भी और आइए आगे के गुणस्थान में

बंधुओं ! जितशत्रु राजा को किसी साधु-साध्वी के दर्शन, वन्दन का, उनकी सेवा का, उनके प्रवचनों को सुनने का कभी संयोग नहीं मिला; फिर भी उसे धर्म की लगन लग गई, सम्यक्त्व जागृत हो गया। आपको तो सारे संयोग मिल रहे हैं। कमी है तो जागृति की। आश्चर्य तो यह है कि आप जागते हुए भी सो रहे हैं। प्रतिदिन प्रवचन होता है। हम सुनाते हैं, आप सुनते हैं। हम समझाते हैं, धर्मध्यान, जप-तप, व्रत-प्रत्याख्यान करने को कहते हैं, ज्ञान सीखने को कहते हैं पर आप कहाँ मानने वाले। बंधुओं ! तत्त्वों को समझिए, समझकर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करिए और त्यागने योग्य को त्यागिए तभी पाँचवें गुणस्थान में आपका नम्बर लग सकेगा। जब तत्त्वों को जानेंगे तभी आरम्भ-परिग्रह को छोड़ सकेंगे।

□ राजा का विरक्ति-भाव

राजा जितशत्रु ने तो सुबुद्धि अमात्य से ही श्रावकों के धारण करने योग्य बारह व्रत धारण कर लिये। आपकी भी तैयारी हो तो शुभ कार्य में विलम्ब मत करिए। गुरुदेव आपके समक्ष हैं, व्रतों को सामर्थ्यानुसार धारण करके मुक्ति-पथ पर कदम रख दीजिए।

चम्पानगरी में कालान्तर में स्थविर मुनि के पधारने पर राजा व अमात्य उन्हें वन्दन करने गए। वहाँ धर्मोपदेश सुना तो सुबुद्धि विरक्त हो प्रव्रजित बनने की इच्छा रखने लगा। राजा को जब यह ज्ञात हुआ तो बोले—“अमात्यवर ! मैं भी दीक्षा लेने की अभिलाषा रखता हूँ पर मन में कुछ काल तक भोग भोगने की भी आकांक्षा बनी हुई है। ऐसा

करिए आप भी कुछ काल तक संसार में ठहरकर भोग भोगिए फिर दोनों साथ-साथ दीक्षा अंगीकार करेंगे।”

□ राजा जितशत्रु व प्रधान मुनि धर्म स्वीकार कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए

अपने स्वामी की बात को मान देते हुए अमात्य सुबुद्धि ने कुछ काल तक संसार में ठहरना स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग भोगते हुए दोनों ने बारह वर्ष बिता दिए। पुनः जब स्थविर मुनि का चम्पानगरी में पदार्पण हुआ तब दोनों ने मुनिवर के दर्शन किए, धर्मोपदेश सुना, प्रतिबोध पाया और दीक्षा अंगीकार की। दोनों ने मुनि बनकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, अनेक वर्षों तक निरतिचार संयम का पालन किया और अन्त में एक माह की संलेखना के साथ सिद्ध गति प्राप्त की। जैसे पानी की गंदगी हटाकर पानी को स्वच्छ, निर्मल, उत्तम बनाया, उसी प्रकार अपनी आत्मा की गंदगी, कर्ममल को हटाकर उसे विशुद्ध स्वरूप में स्थिर किया।

□ जहाँ चाह, वहीं राह अतः अन्तर् में चाह जगाइए

आज हम सुनते हैं कि अधिकांश मोहल्लों में नलों से आने वाला पानी बदबूयुक्त और गंदमी रंग का होता है। लोग उसकी शुद्धि के लिए बाजार से फिल्टर-यंत्र खरीदकर उससे पानी की शुद्धि करते हैं। सीधा मिनरल वाटर भी कहीं-कहीं प्रयोग में लिया जाता है। शरीर की स्वस्थता के लिए तो आप पानी को शुद्ध बना लेते हैं पर आत्मा की शुद्धि कैसे करेंगे ? उसकी गंदगी, उस पर लगे कर्मरूपी मल को कब हटाएँ ? बंधुओं ! आत्म-शुद्धि के लिए प्रयत्नशील बनिए। नए कर्मबंध को रोकिए, आरंभ-परिग्रह-आम्रव से हटिए। पूर्व में बँधे हुए कर्ममल को निर्जरा से हटाइए। जब तक ऐसा नहीं करेंगे, मुक्ति संभव नहीं है, मोक्ष नहीं मिलेगा, आत्मा का निज स्वरूप प्राप्त नहीं होगा। मोक्ष के लिए अन्तर् में चाह जगाइए। चाह होगी तो राह भी बनेगी। कदम बढ़ाकर धर्म-कार्यों में पुरुषार्थ करेंगे तो शाश्वत आनंद प्राप्त कर सकेंगे।

आनंद ही आनंद !



पोटिला प्रतिबोध्या—पाम्या केवलज्ञान

(तेतलिपुत्र)

अर्हन्तों की पतित-पावनी आत्म-कल्याणी, जीवनोद्धारिणी अमृतवाणी सर्व प्रकार के दुःखों, कष्टों से छुटकारा दिलाती है, अनंत सुख प्रदान करती है और जीवन के चरम एवं परम ध्येय तक पहुँचाती है। आगमवाणी का ज्ञान, प्राप्त ज्ञान पर श्रद्धा और उस ज्ञान को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में उतारना ही सम्यक्त्व है, जो मोक्ष की आधारशिला है। उत्तराध्ययनसूत्र के २८वें अध्ययन की तीसवीं गाथा यही बताती है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥

यदि जीवन में सम्यक् श्रद्धान् नहीं तो सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं (सम्यग्दर्शन के अभाव में प्राप्त ज्ञान भी अज्ञान ही रहता है), सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक् चारित्र के गुण नहीं आ पाते, सम्यक् चारित्र के गुण यदि नहीं तो मुक्ति नहीं मिलती और मुक्ति नहीं तो निर्वाण अर्थात् शाश्वत-आत्मानंद, अनंत सुख की प्राप्ति नहीं होती।

आगमों में तीर्थंकर भगवंतों की स्पष्ट घोषणा है—“सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।”
—सम्यग्दर्शी साधक कभी पापकर्म नहीं करता, वह तो सदैव पाप-कार्यों से बचकर ही चलता है।

मोक्ष की इस आधारशिला, अर्थात् सम्यग्दर्शन के दो प्रकार हैं—निसर्ग सम्यग्दर्शन और अधिगम सम्यग्दर्शन।

स्वतः बाह्य निमित्त के बिना जातिस्मरण ज्ञानादि से सम्यक् श्रद्धान् की प्राप्ति निसर्ग सम्यक्त्व है। सद्गुरुओं का उपदेश नहीं सुना, जिनवाणी का पठन-पाठन नहीं किया

और कदाचित् अपने आप ही प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व है यह। अधिगम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए सद्गुरुजनों के उपदेश-श्रवण, आगमवाणी-अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है और ऐसे संयोग होने से यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो तो वह अधिगम सम्यक्त्व कहलाता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता देखा गया है कि जीव में सद्गुण विद्यमान हैं पर श्रुतवाणी-श्रवण के, सद्गुरु-समागम के अवसर नहीं मिलने से उन विद्यमान सद्गुणों का भी हास होता जाता है और जीव निरन्तर विनाश के पथ पर बढ़ता जाता है। जबकि सद्गुरुजन के समागम और तीर्थकर वाणी के श्रवण के अवसर यदि प्राप्त हों तो अविद्यमान (आवृत) सद्गुण तक प्रकट हो जाते हैं और जीव आत्म-विकास के पथ पर निरन्तर बढ़ता चला जाता है।

आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर होने वाले और अपने चरम व परम ध्येय की प्राप्ति करने वाले आगम-वर्णित महापुरुषों की पावन जीवनगाथाओं पर विवेचन आप सुन रहे हैं। 'बड़ी साधु वन्दना' में जिन्हें नमन, वन्दन किया गया, आज उनमें से एक ऐसे महापुरुष की जीवनगाथा आपके सम्मुख रख रहा हूँ जो गुणाभिलाषी था और जिसने अपने आत्मिक गुणों के विकास, अप्राप्त गुणों की प्राप्ति और प्राप्त सद्गुणों का हास न हो, इसके लिए पूर्ण प्रयत्न किया और इसके लिए निमित्त जुटाने में लगे रहे।

धन्य तेतलि मुनिवर, दियो छह काय अभयदान।

पोटिला प्रतिबोध्या, पाम्या केवलज्ञान॥४८॥

तेतलिपुत्र का जन्म तेतलिपुर नगर के नागरिक श्रेष्ठि तेतलि के घर हुआ। पिता के नाम पर इन्हें तेतलिपुत्र ही कहते थे। तेतलिपुर नगर का राजा था कनकरथ। बड़ा होकर तेतलिपुत्र कनकरथ राजा का महामंत्री बना।

तेतलिपुर नगर में ही मूषिका नामक एक स्वर्णकार था, जिसके पुत्र को सभी मूषिकादारक कहते थे। इस मूषिकादारक के एक पुत्री थी, नाम था उसका पोटिटला। एक बार तेतलिपुर-अमात्य तेतलिपुत्र ने स्वर्णकार-पुत्री पोटिटला को किसी उद्यान में

सहेलियों के संग हँसते-खेलते, क्रीड़ा करते देखा। उसके लावण्य एवं उसकी चंचलता से वह आकर्षित हुआ और उसका अनुरक्त बन गया।

अमात्य ने अपनी पत्नी के रूप में पोटिला की स्वर्णकार-परिवार से माँग की और शुभ मुहूर्त में उन दोनों का विवाह हो गया। पति-पत्नी सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे। प्रारम्भ में दोनों में गहरा अनुराग रहा, पर समय के साथ-साथ वह अनुराग शुष्क होने लगा।

तेतलिपुर का राजा कनकरथ अपने राज्य, परिवार, सम्पत्ति आदि के प्रति अत्यंत आसक्तिभाव रखता था। वह अति गृद्ध व लालची था। उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ अपरिमित थीं। वह जीवन व भोगोपभोग में इतना आसक्त बना कि राज-सिंहासन पर अपने पुत्रों को भी अधिकार करते नहीं देख सकता था। उसका चिन्तन था कि मेरा कोई पुत्र योग्य हो गया तो शायद वह मुझे सिंहासन से हटाकर खुद राजा बन जाए। अतः जब भी उसके अंतःपुर में कोई पुत्र होता तो वह अपने विश्वस्त अनुचर से उसे विकलांग बनवा देता। उस समय यह नियम था कि विकलांग व्यक्ति राज-सिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता था। कनकरथ नवजात किसी पुत्र की अंगुलियाँ, किसी का अँगूठा, किसी के कान का निम्न भाग, किसी के ओष्ठ का कुछ भाग, किसी की नासिका का कोई भाग कटवा दिया करता था।

□ आसक्ति ही परिग्रह

बंधुओं ! नाशवान पदार्थों में आसक्ति सबसे बड़ा पाप है। आसक्ति ही कर्मबंध का कारण है। आसक्ति ही व्यक्ति को लोभी बनाती है, मोह-माया में उलझाती है, क्रोध दिलाती है, अभिमानी बनाती है। तीर्थंकर भगवंतों ने आसक्ति को ही परिग्रह माना है और परिग्रह को जीवन-विनाश का मूल बताया है। आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में सर्वज्ञों ने यही बताया है—

गुरु से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे।
नेव से अंतो, नेव से दूरे॥

बंधुओं ! प्रभु फरमाते हैं कि जो कामभोगों में तीव्रासक्त है, वह मृत्युग्रस्त होता है और शाश्वत सुख से दूर रहता है। जो कामासक्त नहीं होता, वह अमर व शाश्वत सुखी बन जाता है और “कामासु गिद्धं निचयं करेति।”—कामभोगों में गृद्ध व आसक्त व्यक्ति निकाचित कर्मों का बंध करता है।

दशवैकालिकसूत्र के दूसरे अध्ययन में “कामे कामाही, कमियं खु दुक्खं”—कहकर तीर्थंकर भगवंतों ने कामनाओं से दूर रहकर अनासक्ति से जीवन बिताने को ही दुःखों से दूर रहना बताया है। उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में आया है—

**कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स॥**

इस समग्र संसार में मानवों को, तिर्यंचों को, देवताओं को जो भी दुःख हैं वे सब कामासक्ति के कारण ही उद्भूत होते हैं। स्पष्ट है, जिसकी आसक्ति मिट जाती है वह कभी दुःखी नहीं होता। अतः प्रभु सूत्रकृतांगसूत्र में प्राणिमात्र को सन्देश देते हुए कहते हैं—“व्यक्ति को चाहिए कि वह गृद्ध-भाव या आसक्ति-भाव से अपने को दूर रखे, बचाए इनसे अपने को।”

□ आडम्बर का जहर कितना घातक

श्रमण-धर्म में महावीर ने पाँच महाव्रत-पालन का आचार बताया है, इनमें पाँचवाँ महाव्रत है अपरिग्रह-पालन। श्रावक-धर्म में जो बारह व्रत हैं उनमें पाँचवाँ व्रत है—‘परिग्रह-विरमण’। आज श्रमण एवं श्रमणी इस पंचम महाव्रत का तथा श्रमणोपासक व श्रमणोपासिकाएँ पाँचवें अणुव्रत का किस सीमा तक पालन कर रहे हैं, यह आपसे छिपा नहीं है। गुरु में, शिष्यों में, सम्प्रदाय में, अपने-अपने श्रावक-श्राविकाओं में तो आज का श्रमण-श्रमणी वर्ग आसक्ति की ओर बढ़ रहा है, पर साथ ही प्रसिद्धि, यश, आडम्बर, पुस्तक-प्रकाशन, समारोह-आयोजन, वस्त्र-पात्र, शरीर व स्वास्थ्य के प्रति भी आसक्ति में यह वर्ग निरन्तर वृद्धि करता जा रहा है। यही दशा श्रावक-वर्ग की भी है। आत्म-कल्याण अब कैसे संभव हो, इस दिशा में गहन चिन्तन आवश्यक है।

□ राज्यासक्ति से पिता बना पुत्र का शत्रु

राज्यासक्ति ने कनकरथ राजा को विवेकहीन बना दिया। अपने मरण को वह भूल गया। अजर-अमर मान लिया उसने अपने को और लोभ के वशीभूत बन निकाचित कर्मबंधन के भार को बढ़ाता रहा।

कनकरथ की रानी पद्मावती ने एक बार विचार किया—‘इस तरह तो मेरी एक भी संतान राज्याधिकार के योग्य नहीं रहेगी और संसार के ध्रुव नियमानुसार एक दिन मेरे पति और मुझे भी मृत्यु की शरण ग्रहण करनी होगी, तब राज्य का क्या होगा ? यदि राजा मेरे से पहले कालधर्म को प्राप्त हो गए तो भी राज्याधिकारी जाने कौन बने और तब मेरी, मेरे पुत्रों की दशा जाने क्या हो ? अतः मुझे चाहिए कि इस बार यदि मेरे पुत्र पैदा हो तो मैं उसकी येन-केन-प्रकारेण रक्षा करूँ, उसके गुप्त रूप से पालन-पोषण की व्यवस्था करूँ।’

अपने चिन्तन को मूर्तरूप देने के लिए उसने राज्य के अमात्य तेतलिपुत्र को बुलाकर अपने विचार कहे और बोली—“यदि इस बार पुत्र हो तो उसे गुप्त रूप से अन्यत्र कहीं छिपाकर उसका संरक्षण व पालन-पोषण करना है। इसी में इस राज्य की, आपकी और मेरी भी भलाई निहित है, क्योंकि उसके बड़ा होने पर हम अपनी वृद्धावस्था में उसका संरक्षण प्राप्त कर सकेंगे।”

रानी पद्मावती की बात में सत्यता थी, अमात्य ने उसकी बात को स्वीकार किया। इसके पश्चात् किसी समय महारानी पद्मावती ने गर्भ धारण किया। उधर संयोग से पोटिटला भी गर्भवती बनी। रानी के पुत्र हुआ तो पोटिटला के मृत पुत्री हुई।

पूर्व योजना के अनुसार अमात्य तेतलिपुत्र ने राजा कनकरथ के सप्राण पुत्र को अपने यहाँ और अपनी मृत पुत्री को राजा के महलों में पहुँचा दिया। राजा कनकरथ को सूचना दी गई कि रानी ने मृत पुत्री को जन्म दिया है।

□ पुत्र-जन्मोत्सव एवं नामकरण

अमात्य तेतलिपुत्र ने पोटिटला को सारी बातें समझा दी थीं। अतः वह कुछ नहीं बोली। दूसरे ही दिन बड़े ठाट के साथ अमात्य ने अपने घर में पुत्र-जन्मोत्सव मनाया

और उसका नाम कनकध्वज रख दिया। उसका कहना था कि यह बालक भले मेरे घर में आया है, पर चूँकि यह राजा कनकरथ के राज्य में उत्पन्न हुआ है, अतः इसका यही नाम उपयुक्त है। नागरिकों व राज्य-सभासदों ने इसे अमात्य की राज्यभक्ति का नाम दिया। धीरे-धीरे वह बालक अमात्य के घर बड़ा होने लगा। उसे कलाचार्य के पास भेजा गया और वह कलाओं में निपुण होने लगा।

□ रंग में पड़ा भंग

तेतलिपुत्र और पोट्टिला के दाम्पत्य सम्बन्ध किन्हीं कारणों से नीरस बनने लगे। पोट्टिला के प्रति अमात्य का अनुराग-रस सूखने लगा। पोट्टिला ने जब पति को अपने प्रति स्नेह शून्य देखा तो वह निराश हो गई, उदासीन रहने लगी, उसके अन्तर का उल्लास समाप्त होने लगा। वह प्रतिदिन चिन्तित बनी यही चिन्तन करती रहती कि किसी तरह पति का प्रेम पुनः प्राप्त किया जाए। वह उसे शृंगार द्वारा, बोल-बतलाकर रिझाने का प्रयत्न करती पर तेतलिपुत्र पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक दिन ऐसे ही किसी हाव-भाव की उपेक्षा से उदासीन बनी पोट्टिला को तेतलिपुत्र ने दानशाला में जाने, विपुल अशनादिक आहार तैयार कराने और तैयार आहार को दान देने की बात कही।

□ साध्वियों के दर्शन से मिली नयी राह

पोट्टिला ने ऐसा ही करना प्रारम्भ किया। उसकी उदासी कार्य में लगे रहने से कुछ कम हो गई। इन्हीं दिनों तेतलिपुर में आर्या सुव्रता का पदार्पण हुआ। आर्या की साध्वियाँ तीसरे प्रहर में भिक्षार्थ नगर के विभिन्न राजमार्गों से होती हुई, विभिन्न कुलीन घरों से निर्दोष आहार स्वीकार करती हुई पोट्टिला जहाँ थी, वहाँ तेतलिपुत्र की भोजनशाला में प्रविष्ट हुई। विनयपूर्वक वन्दन-नमन कर असन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि बहराकर पोट्टिला ने उन साध्वियों को अपनी पूर्ण स्थिति बताते हुए उनसे किसी तंत्र-मंत्र, कामण या चूर्ण, डोरा आदि की माँग की, जिससे पति को वश में कर पुनः उनका स्नेह प्राप्त किया जा सके।

जैन श्रमण-श्रमणी-धर्म की आचार-पद्धति में इस तरह के समस्त कर्म निषिद्ध हैं, श्रमणाचार के विरुद्ध बताए हैं। ऐसे कर्म पंचमहाव्रती के लिए पापाचरण माने

गए हैं। आज अनेक संत इस तरह के तंत्र-मंत्र, डोरा-डांडा आदि में लिप्त सुने गए हैं पर ऐसा शिथिलाचरण ही श्रमण-धर्म को निरन्तर पतन की ओर बढ़ा रहा है। आज श्रमण एवं श्रमणी वर्ग की संख्या की तुलना में श्रमण-धर्म की समाचारी-पालन का प्रतिशत अति न्यून अनुभव किया जा रहा है। आर्या सुव्रता की साध्वियों ने पोट्टिला को निर्ग्रन्थ धर्म का मर्म बताते हुए कह दिया कि हम जैन संत-सतियों को ऐसा करना तो क्या, इस तरह की बातें सुनना भी नहीं कल्पता। उन साध्वियों ने अपने कानों में अँगुलियाँ डाल दीं और पोट्टिला को केवली-प्ररूपित धर्म का उपदेश दिया।

उपदेश सुनकर पोट्टिला के हृदय में आत्म-चेतना जागृत हुई। उसने उन श्रमणी-आर्याओं से पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए। इस तरह पोट्टिला बारह व्रतधारी श्रमणोपासिका बन गई। वह अपने व्रतों का सावधानी से पालन करते हुए अब नित्य साधु-साध्वियों को प्रासुक, एषणीय व निर्दोष आहार का दान देने लगी।

श्रावक-व्रतों का पालन करते हुए और साधु-साध्वियों को निर्दोष आहार भावपूर्वक बहराते हुए एक दिन उसके मन में दीक्षा लेकर श्रमणी-धर्म पालन करने की विचारधारा जागृत हुई। अपने पति तेतलिपुत्र से उसने दीक्षार्थ अनुमति माँगी। अमात्य तेतलिपुत्र ने इस शर्त पर अनुमति देना स्वीकार किया कि श्रमणी-धर्म पालन करते हुए काल-धर्म को प्राप्त कर देवलोक में उत्पन्न होने पर वह देवलोक से आकर अमात्य तेतलिपुत्र को प्रतिबोध प्रदान करे। अमात्य तेतलिपुत्र ने अंत में कहा—“यदि तुम मुझे प्रतिबोध देने का वचन नहीं देतीं तो मैं आज्ञा नहीं देता।”

□ पोट्टिला ने पति को दिया वचन प्रतिबोध का

पोट्टिला ने प्रतिबोध देने की बात स्वीकार की। अमात्य ने दीक्षा की अनुमति दी। पोट्टिला ने आर्या सुव्रता के पास श्रमणी-धर्म स्वीकार कर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, बहुत वर्षों तक चारित्र-धर्म का पालन किया। अंत समय में, एक मास की संलेखना कर, पापकर्म की आलोचना और प्रतिक्रमण कर आयुष्य समाप्त होने पर समाधिपूर्वक काल-धर्म को प्राप्त कर देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुई।

आर्या पोट्टिला के देव बनने के कुछ काल पश्चात् तेतलिपुर का राजा कनकरथ काल-धर्म को प्राप्त हो गया। उसके पार्थिव-शरीर के अन्तिम संस्कार के बाद राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी का प्रश्न उठा। सभी सभासद, सेनापति, मंत्री, राज्याधिकारी, कौटुम्बिक जन, नगर-श्रेष्ठी आदि मिलकर तेतलिपुर-अमात्य के पास आए। आकर इस प्रकार कहने लगे—“देवानुप्रिय ! कनकरथ राजा ने राज्य में तथा राष्ट्र में आसक्त बन सभी कुमारों को विकलांग कर दिया। आप राज्यधुरा के शुभ-चिन्तक हैं। आपके ध्यान में यदि कोई कुमार राजलक्षणों से युक्त और अभिषेक के योग्य हो तो हमें बताइए जिससे हम उसका राज्याभिषेक करें।”

अमात्य ने कनकध्वज को राज-सिंहासन का योग्य उत्तराधिकारी बताते और मानते हुए उसे सिंहासनासीन करना चाहा। अमात्य ने यह भी बता दिया कि यह कनकरथ राजा और पद्मावती रानी का ही पुत्र है। अतः सर्वथा राज्याभिषेक के उपयुक्त है।

कनकध्वज का अत्यंत भव्य आयोजन के साथ राज्याभिषेक किया गया। कनकध्वज भी जान गया कि उसे यह राज्य और यह सम्पूर्ण अभंग शरीर अमात्य की कृपा से मिला है। अब वह अमात्य का अत्यंत आदर, सत्कार, सम्मान करने लगा।

□ पोट्टिल देव ने दिया प्रतिबोध

उधर पोट्टिला से पोट्टिल देव के रूप में उत्पन्न देव ने अनेक बार तेतलिपुत्र को केवली-प्ररूपित धर्म का प्रतिबोध दिया, उसकी आत्मा को धर्मोन्मुख करना चाहा, उसे धर्म में जागृत करना चाहा पर राज्य में ऐसा सम्मान, बहुमान, प्रतिष्ठा प्राप्त कर तेतलिपुत्र तो राज्य में ही रम गया। उसकी जागीरी बढ़ा दी गई तो उसकी भोग-कामना भी बढ़ गई। देव द्वारा दिया प्रतिबोध उसके मन को अच्छा नहीं लगा। इस बात का तो आप लोगों को भी अच्छा अनुभव है। घर में धन हो, परिवार हो, कारें हों, बैंक बैलेंस हो, नौकर-चाकर हों फिर आपका मन धर्मध्यान में, श्रुतवाणी-श्रवण में, स्वधर्मी-सेवा में कैसे लग सकता है ? यह भी नशा है। कुछ हो पास में तो फिर सीना तना और आँखें आसमान में ही चढ़ी रहती हैं। गुरुदेव कहते हैं—“ थोड़ा समय धर्मकार्य में लगाओ,

मन को मोड़ो, कुछ आत्मा की भी सोचो।” आप सुनेंगे। कहेंगे—“हाँ महाराज !” पर करेंगे कुछ भी नहीं। ज्यादा ही कहें तो एक छोड़ हजार बहाने तैयार हैं। बंधुओं ! संसार को घटाना है, भव-भ्रमण को सीमित करना है, जन्म-मरण से छुटकारा पाना है तो अपने को मोड़ो, मन को धर्म में जोड़ो, सांसारिक बंधनों को तोड़ो।

गुरुदेवों के पास तो सुनाने को उपदेश हैं, जिनवाणी का विवेचन है, ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधन का प्रत्यक्ष दर्शन है, अन्य कोई चमत्कार तो कल्पता नहीं कि आपको धर्म की ओर सन्मुख करने तथा संसार से विमुख करने को उसका प्रयोग कर सकें। पोटिल तो देव था। उसके पास माया थी, इन्द्रजाल था, चमत्कार था। उसने जब देखा कि पूर्वजन्म के मेरे स्वामी पर मेरे बार-बार प्रतिबोध देने का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है तो उसने राजा कनकध्वज को तेतलिपुत्र से विमुख कर दिया, कौटुम्बिक जनों, श्रेष्ठियों, राज्याधिकारियों की मति में भ्रम पैदा कर अमात्य के प्रति विपरीत भाव, स्नेह-शून्यता, सम्मानहीनता की भावना भर दी।

□ देव-शक्ति ने सम्मान को बदला अपमान में

तदनन्तर जब तेतलिपुत्र पूरे आडम्बर के साथ श्रेष्ठ अश्व की पीठ पर सवार हुआ और राज्यसभा की ओर चला तो उसने देखा कि कोई भी व्यक्ति उसे पहले की तरह आदर नहीं दे रहा है। पहले जो उसे देखकर खड़े होते थे, वे बैठे हैं। पहले जो नमस्कार करते थे, आज वे उसे देखकर मंद-मंद मुस्करा रहे हैं। राजदरबार में पहुँचने पर राजा ने भी उसे पूर्व की भाँति सम्मान नहीं दिया। तेतलिपुत्र ने राजा को दोनों हाथ बाँधकर प्रणाम किया तो राजा ने मुँह फेर लिया।

अब तेतलिपुत्र मन-ही-मन भयभीत हुआ। उसने सोचा कि ‘राजा मुझसे अप्रसन्न हो गया है। राजा का मन कौन जाने ? मुझसे रुष्ट होकर यह मुझे बुरी मौत मरवा सकता है। कहीं सच में मुझे मरवा न दे। यदि ऐसा हुआ तो मैं क्या करूँगा ?’

भयभीत तेतलिपुत्र पुनः अश्वारूढ़ हो अपने घर आया। घर पर नौकर-चाकर, कामगार, अनुचर आदि सभी ने उसकी उपेक्षा की। घर के भीतरी भाग में गया तो उसने देखा कि उसके परिजनों ने उससे मुख फेर लिया; बंधु, पुत्र, पुत्रवधू किसी ने उसका सम्मान नहीं किया; किसी ने खड़े होकर आदर प्रकट नहीं किया।

अपना ऐसा अनादर, ऐसी उपेक्षा, ऐसा तिरस्कार उसने कभी नहीं देखा था। सोचा—‘लगता है जैसे कोई मुझे पहचानता ही नहीं। क्या मैं वही तेतलिपुत्र नहीं हूँ ? क्या मेरे शारीरिक अवयवों में बदलाव है या चेहरा भिन्न हो गया है ? कुछ भी हो ऐसी उपेक्षा-अनादर के साथ मेरा जीवन व्यर्थ है। मुझे अपने आप को अब जीवनरहित कर लेना चाहिए।’

□ अपमान की पीड़ा मृत्यु-तुल्य

तेतलिपुत्र का चिन्तन चिन्ताओं की ओर बढ़ने लगा। अब तक उसने अत्यंत गौरवपूर्ण जीवन जिया था, हर व्यक्ति द्वारा वह सम्मानित हुआ करता था, पर आज ? सभी की उपेक्षा का शिकार बनकर उसे अपना जीवन भयंकर रूप से खलने लगा। राज्यसभा में, राजपथ में और घर में हुआ अपमान उसके हृदय में शूल की तरह खटक रहा था।

दुनिया कहती है—बीते को भूल जाओ सुखी हो जाओगे, किन्तु यह अनुचित है। हर मोड़ पर भूतकाल को स्मरण करना बुद्धिमत्ता है। गत काल में आचरित पापों को भूलकर स्वयं को निर्दोष मानने वाला व्यक्ति दुर्गति के दारुण दुःखों के दावानल से बच नहीं सकता है। भूतकाल व्यक्ति की पिछली घटनाओं की जिम्मेदारी लिए बार-बार पुकारता रहता है। भूतकाल दर्पण की तरह प्रतिबिम्ब को उजागर करता है, जबकि भविष्यकाल एक दूरबीन के समान है। भूतकाल उसे सावधान करता है तो वर्तमानकाल का साक्षी के रूप में महत्त्व है।

अपमान की तीव्र ज्वाला में जल रहा था तेतलिपुत्र। उसका जीवन जहर बन गया था। ‘क्यों न जहर खाकर इस निष्ठुर, निर्मम, निर्दयी दुनिया से अपना सम्बन्ध हमेशा-हमेशा के लिए तोड़ दूँ ? वह भी समय था जब हर पल, हर क्षण परिजन मधु के छत्ते को जैसे मधुमक्खियाँ घेरे रहती हैं, वैसे ही मुझे भी घेरे रहते थे और आज एक मधुरहित छत्ता जैसे इधर-उधर पैरों की ठोकरो से टुकराया जाता है, वैसे ही मैं भी सभी के द्वारा टुकरा दिया गया हूँ।’ तेतलिपुत्र अकेला एकान्त में बैठा-बैठा सोच रहा था।

□ सहा नहीं जाता और रहा नहीं जाता

“बस ! अब इससे अधिक सहा नहीं जाता और इस दुनियाँ में रहा नहीं जाता।”—मन ही मन कहते हुए तेतलिपुत्र ने अपने हाथ की अँगुली में धारण की हुई स्वर्ण-मुद्रिका को देखा। असली हीरा जड़ा था, पर तालपुट विषयुक्त था वह। मरने का शीघ्रगामी उपाय है तालपुट विष। प्राचीन युग में राजा-महाराजा, मांडलिक, प्रधान-अमात्य आदि विशिष्ट राज्याधिकारी अपनी अँगूठी में ऐसा विषयुक्त हीरा अवश्य रखते थे। घोर अपमान सहने से प्राण देना ही सहज है, सम्मानयुक्त है; अतः ऐसे समय यह विष काम आता था। ताली बजाओ उतने समय में यह विष प्राण हर लेता था।

तेतलिपुत्र ने अपना हाथ उठाया। पूरी शक्ति लगाकर विष-मुद्रिका को चूमा। एक बार, दो बार, तीन बार किया उसने ऐसा पर परिणाम नदारद था।

‘ओफ ! क्या इस भयंकर विष ने भी भयंकर उपेक्षा की कड़ी में अपने आपको जोड़ लिया है ?’—तेतलिपुत्र निःश्वास डालते हुए बड़बड़ाया। घोर निराशा ने उसे झकझोर डाला। अपने भाग्य पर तीव्र आक्रोश करने लगा वह।

बंधुओं ! आर्त्तध्यान की निष्पत्ति है रौद्रध्यान ! ये दोनों प्रकार के ध्यान व्यक्ति की विवेक-बुद्धि, सहजता व समरसता को नष्ट कर देते हैं और तब व्यक्ति अपने आत्म-भाव को भूल जाता है।

तीव्र विष निष्प्रभावी रहा, पर अन्तर में मरण-कामना अब भी तीव्र थी। नजर गई तलवार पर। तलवार का नाम था—बिजलसार ! नीलकमल के समान श्यामवर्णी। अति तीक्ष्ण धार। कितने ही युद्धों में कितने ही शत्रुओं को मौत के घाट उतारा था, उस तलवार ने। सहस्रों योद्धाओं के रक्त से नहाई हुई थी वह तलवार। तलवार की मूठ पर हाथ रखा तेतलिपुत्र ने और एक झटके के साथ उसे म्यान से बाहर निकाल लिया। बिना एक क्षण का विलम्ब किए तीव्र आक्रोशपूर्वक अपने गले पर प्रहार किया पर आश्चर्य ! मृत्यु का समय अभी आया नहीं था। आयुष्य अभी बाकी था। तलवार की तीक्ष्ण धार भी अचानक कुंठित बन गई। धड़ भू-लुंठित होने की जगह अपने ही स्थान पर खड़ा तेतलिपुत्र का उपहास कर रहा था।

तेतलिपुत्र की उद्विग्नता बढ़ने लगी। शून्य नजरों से वह अपने सबसे प्रिय भवन, जिसमें बैठकर वह मृत्यु को आमंत्रित कर रहा था, उस भवन की भित्तियों, छत व आँगन को निहारने लगा। रमणीय प्रासाद की मणिमुक्ताओं से सुसज्जित छत, रत्न एवं स्वर्ण-मंडित आँगन तथा स्फटिक शिलाओं से निर्मित भित्तियाँ उसे जैसे काटने को दौड़ रही थीं। मलयज चन्दन के बारीक उकरित कलाकृतियों वाले मखमली गद्दों से सुशोभित पलँग उसे चिढ़ा रहे थे। जिस प्रासाद के कण-कण पर उसका कभी अपार ममत्व रहा था; अब वही प्रासाद और उस प्रासाद की एक-एक वस्तु उसे श्मशान घाट की तरह, श्मशान के मुर्दों और भूतों की तरह लग रही थी।

□ फाँसी से लटकने का प्रयास

उसने उस प्रासाद को छोड़ने का निश्चय किया। मन-ही-मन कुछ बड़बड़ाता-सा वह उठा। उसके दोनों हाथों की मुट्ठियाँ तन गईं। उसकी देह की नशों में खिंचाव उत्पन्न होने लगा। प्रासाद से बाहर आकर वह सीधा अपने उद्यान में पहुँचा। आज से पूर्व जिस उपवन में आते ही उसकी शारीरिक व मानसिक थकान मिट जाया करती थी, मन जहाँ आकर प्रफुल्ल, प्रसन्न, स्वस्थ बन जाता था, आज वहाँ भी उसे शान्ति नहीं मिली। मुरझाया हुआ उसका मन और अधिक मुरझा गया।

उदास, हताश, निराश तेतलिपुत्र एक विशाल अशोक-वृक्ष के नीचे बैठ गया। वृक्ष अशोक का पर तेतलिपुत्र शोक में डूबा हुआ। अचानक उसकी नजर निकट पड़े रस्से पर गई और विचार आया—‘फाँसी ! रस्से का फन्दा ! मौत का अचूक उपाय !’

रस्सा हाथ में लेकर वह उस विशाल वृक्ष पर चढ़ गया। एक मोटी-सी शाखा पर उसने रस्से का एक सिरा लपेटना प्रारम्भ किया। जब रस्सा पन्द्रह-बीस फुट रहा तो उसने नीचे झाँका। शाखा से धरती-तल करीब तीस-चालीस फुट था। उसने रस्से का फंदा बनाकर अपने गले में डाल लिया और शाखा से नीचे कूद गया। ऊपर से गिरा तो लगा एक जोर का झटका। मजबूत समझकर जिस रस्से को काम में लिया, वह रस्सा उस झटके को सहन न कर सका और तड़ाकू करता टूट गया।

बंधुओं ! मानव-मन की यह कैसी भयंकर विडम्बना है ! वह जीने के लिए तिल-तिलकर मरता है। काम-भोग, मान-सम्मान आदि को वह जीवन का ध्येय मानता है। मिलते रहें यदि ये तो वह जीना चाहता है, मृत्यु से डरता है। चाहता है कि वह दीर्घायु हो, खूब जीए। भोगों के साधन सर्जित करते और उन्हें भोगते हुए ही वह एक दिन मर जाता है। इसके विपरीत जो आत्मार्थी साधक हैं वे पूर्ण-मरण, पंडित-मरण, समाधि-मरण के लिए जीते हैं। मृत्यु उनके लिए चुनौती नहीं, बल्कि वे स्वयं मृत्यु के लिए चुनौती बन जाते हैं। वे जन्म-मरण से मुक्त होने के लक्ष्य को लेकर चलते हैं। भोग-सामग्री, सुख-साधन, मान-सम्मान से वे बहुत दूर रहते हैं। वे न जीने की आकांक्षा करते हैं, न मरने की इच्छा।

तेतलिपुत्र की मनःस्थिति भोग-प्रधान अभिरुचि वाली थी। अतः मान-सम्मान नष्ट हो जाने पर वह घबरा गया। चुनौतियों को सामने खड़ा देख उसने जीवन से हार स्वीकार कर ली और आज वह जीवन से भाग रहा था, भगोड़ा बन गया था ! यही तो कायरता कहलाती है।

रस्सा जब टूटा तो वह धरती पर गिरा। मरने की इच्छा रखने वाला मामूली शारीरिक चोटें लग भी जाएँ तो उन पर ध्यान नहीं देता। तेतलिपुत्र तो आश्चर्यचकित था। वह कभी टूटे हुए रस्से को देख रहा था और कभी उस विशाल वृक्ष की उस शाखा को, जहाँ उस रस्से का एक सिरा अभी तक बँधा था।

उद्यान में पक्षी चहचहा रहे थे। पक्षियों की यह मधुर चहचहाहट कभी चित्त को प्रसन्नता देती थी, पर आज वह अरुचिकर बन गई। उसके हृदय की कुढ़न बढ़ गई। यही तो जीव का स्वभाव है। परिवर्तन उसकी नियति है। पुद्गल वे ही हैं, पर समय विपरीत है, स्वभाव परिवर्तित है, मन उद्विग्न है। अतः वे सुहाते नहीं। मनीषी आचार्य कहते हैं—“हे भव्यों ! किसी भी पदार्थ को अच्छा या बुरा मानकर उस पर राग या द्वेष मत लाओ, क्योंकि समय, स्थिति, नियति परिवर्तनशील है और कहावत यह है कि “जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि”, “जैसा मन वैसा अन्न” !

□ जल-प्रवाह में गिरना

तेतलिपुत्र की उद्विग्नता बढ़ी तो वह उस उद्यान से बाहर निकल लक्ष्यहीन और दिशाहीन-सा एक तरफ चल दिया। वह रास्ता बीहड़ वन में पहुँचाने वाला

रास्ता था। काफी समय चलने पर तेतलिपुत्र ने वन के मध्य एक विशाल नदी को बहते देखा। उसने सोचा—‘चलो, जीवन-लीला से यहाँ पर आसानी से छुटकारा मिल जाएगा।’

नदी में डूबने के विचार से वह किसी गहराई वाले स्थान की खोज में नदी के किनारे-किनारे चलने लगा। शीघ्र ही उसे एक स्थान पर पानी में भँवर पड़ता दिखाई दिया। उसे लगा कि यह स्थान खूब गहरा होना चाहिए। किनारे पर पड़ा एक बड़ा भारी शिलाखंड अपने उत्तरीय से कमर पर बाँधा और उस अथाह जल में कूद पड़ा।

कहते हैं भँवर में फँसने के बाद निकलना मुश्किल ही नहीं, असंभव-सा है पर यहाँ तो भाग्य-लीला कह दीजिए या देव-लीला कह दीजिए, तेतलिपुत्र न भँवर में फँसा और न पानी की अतल गहराई में डूबा। जैसे कोई चमत्कार हुआ हो, गहरा पानी भी छिछला बन गया। नदी के जल से बचकर भग्न हृदय तेतलिपुत्र महसूस करने लगा कि कहीं न कहीं कोई चमत्कार हो रहा है, कोई दैवीय शक्ति उसे बचा रही है या फिर अभी उसके मरने का समय नहीं आया है।

□ अग्नि की शरण में

स्वभाव से हठी था वह। अतः टूटकर भी अपनी मरणाभिलाषा का दामन नहीं टूटने दिया उसने। बढ़ गया जंगल में और आगे। अरण्य में एक स्थान पर प्रचुर मात्रा में लकड़ी व सूखे घास का ढेर लगा हुआ था। तेतलिपुत्र ने उसमें आग प्रज्वलित की। ज्वालाएँ बढ़ने लगीं तो वह उसमें कूद पड़ा। देवयोग से यहाँ भी वह असफल रहा। अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो गईं। उसमें शीतल सरोवर के ठंडे जल-सी शीतलता व्याप्त हो गई। तेतलिपुत्र की मुमुर्षा अर्थात् मरने की इच्छा के लिए यह एक कड़ी चुनौती थी। ज्वलन-धर्मा अग्नि ने भी उसे अस्वीकार कर दिया। “अग्नि सव्वभक्खिं।” अर्थात् अग्नि तो सर्वभक्षी होती है, पर वह अग्नि के लिए भी अभक्ष्य बन गया।

□ कौन विश्वास करेगा ?

सोचने लगा तेतलिपुत्र कि वह अपने को अभागा समझे या भाग्यशाली ? मरना चाह रहा है पर मर नहीं पा रहा है। किसी को जाकर बताऊँ भी कि मैंने भयंकर विष चूसा पर मरा नहीं, तलवार से अपने को काटा पर बच गया, फाँसी का फंदा गले में

डालकर लटका फिर भी जीवित ही रहा, पानी में कूदा तो भी डूबा नहीं और अग्नि में कूदा पर जला नहीं—तो इन सब बातों का कौन विश्वास करेगा ?

तेतलिपुत्र मन-ही-मन कहने लगा—‘श्रमण और माहण श्रद्धा करने योग्य, विश्वास करने योग्य वचन बोलते हैं। अतः सभी उन पर विश्वास करते हैं, पर मैं कैसे लोगों को अपनी बातों पर विश्वास दिलाऊँ ? मैं तो अश्रद्धेय वचन बोलता हूँ।’

“मैं अयथार्थ रूप-स्वरूप में विश्वास करता हुआ, वैसा ही कथन करता था अतः मेरे वचन पूर्णतः अविश्वास, अश्रद्धा के योग्य थे। श्रमण भगवन्तों ने जिसे निस्सार कहा, मैं उसे सारभूत मानता रहा। परिणाम सामने हैं—आज मेरा अपना कोई नहीं है।”

अहं सहपुत्तेहिं अपुत्ते, को मेदं, सद्दहिस्सइ?
सहमित्तेहिं अमित्ते, को मेदं सद्दहिस्सइ?
एवं अत्थेणं दारेणं दासेहिं परिजणेणं।

(ज्ञाताधर्मकथांग १४/४६)

“मैं पुत्र सहित हूँ पर फिर भी आज पुत्रहीन हूँ। मैं मित्र सहित हूँ फिर भी आज मित्रहीन हूँ। पत्नी, कुटुम्ब, परिवार, दास-दासी, सेवक, धन-धान्य-समृद्धि सब कुछ है, पर आज इनमें से कोई मेरा नहीं।”

“मैं अपनी यह व्यथा, यह कथा, यह बात यदि लोगों को कहूँ तो कौन विश्वास करेगा ?”

□ चिन्ता से चिन्तन की ओर

तेतलिपुत्र चिन्ता की चिता से निकलकर चिन्तन के धरातल का स्पर्श करने लगा। चिन्तन का स्पर्श पाते ही उसका चैतन्य मुखरित हो उठा। अब तक वह जिस अंधकारपूर्ण पथ पर चल रहा था, अचानक वह पथ आलोकित हो उठा।

बंधुओं ! भगवान महावीर कहते हैं कि “ये सांसारिक सम्बन्ध अस्थायी हैं, क्षण-भंगुर हैं, पानी के बुलबुले के समान लुप्त होने वाले हैं। सप्तरंगों वाला इन्द्रधनुष वर्षा में दृष्टिगोचर होता है, तब वह कितना सुहावना-लुभावना लगता है, पर वह कितनी देर

तक स्थायी रहता है ? अगले कुछ पलों में वह बेरंग होकर न जाने कहाँ नदारद हो जाता है ? फिर कोई सौन्दर्यप्रिय नेत्र भले उसे खोजे पर वह तब दिखाई नहीं देता। जीवन-वैभव की क्षण-भंगुरता भी ऐसी ही है।” प्रभु कहते हैं—

“कुसगगे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणाए।
एवं मणुयाणजीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥”

—उत्तराध्ययन १०/२

तात्पर्य यह कि कुश के अग्र भाग पर अटका हुआ ओस बिन्दु अल्पकाल तक ही वहाँ टिका रह सकता है। इसी भाँति मानव-जीवन भी क्षण-भंगुर है। संसारलुब्ध-जीव इसे चिरस्थायी समझकर अपने आत्म-भावों, निज-गुणों को भूलकर परिवार के व्यामोह में फँसकर उसे ही सर्वस्व समझ बैठता है।

□ जीवन का प्रवाह-क्रम अब कैसा होगा ?

बंधुओं ! तेतलिपुत्र के परिवर्तित शुभ विचार अस्थायी रूप से प्रकट हुए और तिरोहित हो गए। वह पुनः सोचने लगा—‘मैंने आत्मघात की कितनी चेष्टाएँ कीं, किन्तु सब व्यर्थ गईं। अब जीवन जीने की आकांक्षा नहीं, पर मृत्यु भी आती नहीं। क्या मेरे जीवन में यही प्रवाह-क्रम चलेगा ? अगर पुनः परिवर्तन आएगा जीवन में तो कैसे ?’ तेतलिपुत्र अब दुविधाओं के झूले में झूल रहा था और सोच रहा था कि मुझे अब और मरने का कोई नया उद्यम करना चाहिए या नहीं ? यदि नहीं तो जीवन की गाड़ी को किधर ले जाना चाहिए ?

□ आर्त्तध्यान त्यागें, धर्मध्यान में जागें

वह भग्नमनोरथ वाला तेतलिपुत्र अपनी हथेलियों पर मुख रखकर निःश्वास डालते हुए पुनः आर्त्तध्यान में लग गया। बंधुओं ! आर्त्तध्यान आत्म-गुणों का हास करता है। ज्ञानी कहते हैं कि आर्त्तध्यान त्यागकर मानव को धर्मध्यान के प्रति सजगतापूर्वक बढ़ते रहना चाहिए। इससे सहज ही समाधिभाव की प्राप्ति हो जाती है, जबकि आर्त्तध्यान से असातावेदनीय कर्मबंध होता है। यह आर्त्तध्यान ही आज के अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण है। उच्च रक्त चाप, निम्न रक्त चाप, हृदयाघात, मधुमेह, अम्लपित्त आदि रोगों की उत्पत्ति का मूल है—आर्त्तध्यान। धर्मध्यान व्यक्ति के विचारों को शुभ दिशा

देगा, शुभ विचारों से अनेक रोगों का स्वतः उपशमन हो जायेगा। अतः आवश्यक है कि आप अपने विचारों को शुभ बनाएँ।

□ देव द्वारा पुनः प्रतिबोध

तेतलिपुत्र को पुनः आर्त्तध्यान में लगा देख सहसा पोटिल देव ने वैक्रिय द्वारा पोटिल की विकुर्वणा की ओर तेतलिपुत्र के समक्ष न अति दूर, न अति निकट आकर इस प्रकार कहा—

“हं भो तेयलिपुत्ता ! पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थि भयं, दुइओ अचक्खुफासे, मज्झे सराणि वरिसंति, गामे पलित्ते, रत्ते पलित्ते गामे झियाइ, आउसो तेयलिपुत्ता ! कओ वयामो ?”

हे तेतलिपुत्र ! आगे की तरफ गड्ढा है और पीछे की तरफ क्रुद्ध हाथी का भय है, दोनों तरफ अगल-बगल में ऐसा घोर अंधकार है कि आँखों से कुछ भी देखना सम्भव नहीं है और मध्य भाग में तीखे बाणों की वर्षा हो रही है। गाँव में आग लगी और वन धधक रहा है, वन में आग लगी और गाँव धधक रहा है। ऐसे में कहाँ शरण प्राप्त करें ? हे आयुष्मान् ! कहाँ जायें अर्थात् चारों ओर भय ही भय छाया हुआ है। कोई स्थान निरापद नहीं है। गाँव की आग जंगल को जला रही है और जंगल की आग गाँव को जला रही है। जिसका आशय यहाँ के उपार्जित कर्मों के विपाक अन्यत्र भोगने पड़ते हैं। अन्यत्र उपार्जित विपाक को यहाँ भोगना पड़ रहा है। कहीं जीव को शान्ति नहीं है, कहीं भी कुशलता नहीं दिखाई देती है। ऐसे समय में उस व्यक्ति को क्या करना उचित है, कौन-सा मार्ग हितावह है ?

पोटिल देव ने तेतलिपुत्र को बोध देने के हेतु यह प्रश्न किया। अहो तेतलिपुत्र ! ऐसे भयावह वातावरण में जहाँ चारों ओर भय व्याप्त है, मृत्यु का ताण्डव नृत्य चल रहा है, भूमि, आकाश, दिशाएँ शरण देने में असमर्थ हों, तब कौन शरणभूत है ?

□ दीक्षा ही शरणभूत है

तेतलिपुत्र ने चिन्तन करते हुए प्रत्युत्तर दिया—“उस भयभीत पुरुष के लिये संयम अर्थात् दीक्षा ही शरणभूत है, जैसे परदेश में बसे व्यक्ति को स्वदेश की तीव्र उत्कंठा रहती है, उसके लिये स्वदेश ही शरणभूत है।”

भूखे व्यक्ति को अगर अन्य मनोरंजन करवायें तो उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती है। उसके लिये सुस्वादु भोजन-पानी ही शरणभूत है। बीमार को औषध, अपराधी को धैर्य देने वाला और मार्ग में चलते थके पथिक को वाहन का साधन, जलराशि में डूबते हुए को जहाज तथा शत्रुओं से घिरे हुए को मित्र शूर सुभट की सहायता शरणभूत है। इन्द्रिय दत्ता संयमी (जिसने राग-द्वेष को नियंत्रण में ले लिया है) को संसार में किसी से भय नहीं रहता है।

पोट्टिल देव ने कहा—“हे तेतलिपुत्र ! तुम्हारा कथन सत्य है, सराहनीय है, आदरणीय है, परन्तु इसका तुम भलीभाँति अर्थ ग्रहण करो, अर्थात् इस तथ्य को कथनी ही नहीं, करनी के रूप में परिवर्तित करो और दीक्षा धारण करके समस्त दुविधा-दुःखों, चिन्ताओं से मुक्त बनो।”

इस प्रकार पोट्टिल देव बोलकर जिस दिशा से प्रकट हुआ था उसी दिशा में लौट गया।

□ संयम-ग्रहण : ज्ञान-प्राप्ति

तेतलिपुत्र का अन्तःचिन्तन अब गतिमान बन चुका था। कौन किसका स्वामी, सेवक, पुत्र, पत्नी, परिवार—केवल यह भ्रांतियों की भीति है। मेरे लिये दीक्षा ही श्रेयस्कर है। शुभ परिणामों ने अपनी गति बढ़ायी, ऊहापोह होने लगा, अब यह दीक्षा की बातें मुझे बहुत रुचिकर, प्रीतिकर लग रही हैं। क्या मेरा इससे पूर्व में सम्बन्ध रह चुका है ? ऊहापोह से तेतलिपुत्र को जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

मैं इसी जम्बूदीप के महाविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नगरी में महापद्म नामक राजा था। वहाँ स्थविरों के पास दीक्षित हुआ, संयम की सम्यक् आराधना बहुत वर्षों तक करके चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। एकमासिकी संलेखना संथारा करके महाशुक्र नामक कल्प में उत्पन्न हुआ। वहाँ देव सम्बन्धी विपुल भोग भोगकर देव आयु पूर्ण करके यहाँ तेतली प्रधान की भद्रा भार्या के उदर में तेतलिपुत्र के रूप में अवतरित होकर यहाँ विपुल भोगों को भोगते हुए भी मुझे तृप्ति नहीं आयी, जिससे मेरे समक्ष इतनी विषमताएँ आयी थीं, अब मेरे लिए दीक्षा ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है।

पूर्वभव की वचनबद्धता के कारण तेतलिपुत्र का अपमान और अपमानित वातावरणों से लेकर आत्महत्या प्रयास को रोकने तक प्रसंगों में पोटिल देव की अहं भूमिका रही। मरने के उपक्रम के बावजूद मरने नहीं दिया एवं संयम धारण करने की भूमिका तक लाने का प्रयास किया।

तेतलिपुत्र दृढ़ संकल्प से युक्त हो गये। स्वयमेव संयम धारण कर लिया तथा जिस दिशा में प्रमद वन नामक उद्यान था, उसमें आकर श्रेष्ठ अशोक-वृक्ष तले विशाल पृथ्वी शिलापट्ट पर बैठकर शुभ चिन्तन करते हुए पूर्वभव में प्राप्त किये गये चौदह पूर्वों का ज्ञान पुनः प्राप्त किया।

शुभ परिणामों से तदावरणीय ४ घातिक कर्मों को क्षय करके अप्रतिहत परमोत्तम केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी।

मोहकर्मजनित अज्ञान के कारण तेतलिपुत्र को कितनी पीड़ाओं का अनुभव हुआ, कर्मों की विडम्बनाओं ने उसे न जाने कैसे-कैसे दृश्य दिखलाये। हताशा, निराशा, घोर अन्तर्वेदना का अहसास, पर उस मोह रिपु के क्षय होते ही अब वही तेतलिपुत्र मंत्री नहीं पर तेतलिपुत्र केवली भगवन्त बन गये, भगवत्ता उनके भीतर ही थी केवल आवरण था, क्या वह भगवत्ता आपके भीतर नहीं है ? अवश्यमेव है पर उसे प्रकट करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ आवश्यक है। सांसारिक प्रवृत्ति में सामर्थ्य से अधिक पुरुषार्थ करने का साहस दुर्गति का द्वार है। पर सद्गति दाता सम्यक् पुरुषार्थ है। इसमें इतनी शिथिलता क्यों ? उत्तर है, मोह दशा परन्तु उसे हटाइये।

केवली तेतलिपुत्र के निकट निवास करने वाले वाणव्यन्तर देव-देवियाँ अति प्रसन्न हुए, उन्होंने अपने दायित्व के अनुसार देव-दुंदुभियाँ बजाईं। “अहो ज्ञानम्-अहो ज्ञानम्” की दिव्य ध्वनियों से आकाश गूँज उठा। अचित्त पाँच वर्ण के फूलों की वर्षा करने लगे देव तथा केवलज्ञान का महोत्सव किया उन्होंने।

इस वृत्तान्त की जानकारी राजा कनकध्वज को हुई कि मेरे अपमान से व्यथित होकर तेतलिपुत्र ने श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वह चतुरंगिणी सेना लेकर वहाँ आया, सविधि वन्दना करके अपराध की क्षमा-याचना करते हुए उनकी स्तुति करने लगा।

वीतरागियों के लिए स्तुति और निन्दा का कोई भी महत्त्व नहीं है। आचार्य श्री रायचन्द जी महाराज ने अपनी मध्यम साधु वन्दना में कहा कि—

“चंदन सूं कोइ चरचे ने, कोई वसोला सूं छेदे रे।
मुनिवर समता आणने, राग-द्वेष दोई भेदे रे॥”

उन्हें किसी के द्वारा स्तुति या निन्दा प्रभावित नहीं कर सकती है। जहाँ पर पहले मान के धनी तेतलिपुत्र अपमान से तिलमिला उठे थे, किन्तु अब सम्मान, सत्कार का भी उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला था, क्योंकि उन्होंने पूर्णता को पा लिया है।

राजा कनकध्वज ने केवली तेतलीपुत्र का उपदेश सुना एवं मात्र उपदेश सुनकर ही नहीं रह गया, अपितु “सवणे नाणे विण्णाणे” के अनुसार सुनकर ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और विज्ञान से व्रतादि प्रत्याख्यान को ग्रहण कर वह बारह व्रतधारी श्रावक बन गया।

तेतलिपुत्र केवली बहुत वर्षों तक केवली-पर्याय का पालन करके अघातिक शेष कर्मों को क्षय करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए और परम आनन्द में लीन हुए।

आनंद ही आनंद !



धन्य पाँचों पाण्डव-तजी द्रौपदी नार

(पाँच पाण्डव व द्रौपदी चरित्र)

सेवो सिद्ध सदा जयकार, जासे होवे मंगलाचार॥
अज-अविनाशी अगम अगोचर, अमल अचल अविकार।
अन्तर्यामी त्रिभुवन स्वामी, अमित शक्ति भंडार॥

□ सिद्धों की सेवा का तात्पर्य

इस स्तुति-गीत में पूज्य श्री माधवमुनिजी ने सिद्धों की सेवा करने की बात कही है। क्या सिद्धों की सेवा की जा सकती है ? क्या शरीरी जीव उनकी सेवा कर सकते हैं ? नहीं। अशरीरी बनकर ही उनकी सेवा सम्भव है और सेवा भी कैसी ? वे तो सिद्ध हैं अतः अगम हैं, अगोचर हैं, अजन्मा हैं, अविनाशी हैं, अविकारी हैं। कवि का यहाँ सेवा से तात्पर्य है—उनके आदर्शों पर चलना। जिन आदर्शों के द्वारा उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, जिस पथ पर चलकर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बने, उसी राह पर कदम रखकर निरन्तर बढ़ते जाना—यही सिद्ध-सेवा है।

□ 'नर्तकीपन' छोड़कर कीर्तन में लग जाइए

सिद्ध बनने के लिए शरीर को छोड़ना होगा। कैसे छूटेगा यह शरीर ? कैसे बनेगी आत्मा ऐसी निर्मल, ऐसी शुद्ध कि उसे शरीर-धारण की आवश्यकता नहीं रहे। इसका यह बहुत ही सरल तरीका वीतराग प्रभु ने दर्शाया है और वह तरीका है—गुण-कीर्तन, स्तुति, भजन। यह आत्मा अनादिकाल से कीर्तन से वंचित है। कीर्तन से विपरीत प्रवृत्तियों में यह जीव रमण कर रहा है। कीर्तन शब्द का विपरीत करें तो बनता है—नर्तकी। जीव भी नर्तकी बना हुआ है। आत्मा के साथ कर्मों के संयोग से यह जीव संसार-रूप रंगमंच पर तरह-तरह के नृत्य अनादिकाल से करता आ रहा है।

पास में नकद-नाणा हो तो पैसा फेंककर तमाशा देखा जा सकता है, धन के बल पर अच्छी-से-अच्छी नर्तकी को नचाकर मन का मनोरंजन किया जा सकता है। इसी भाँति जीव कर्मों के बल से चार गति चौरासी लाख योनि में नर्तन-कार्य करता हुआ फिर रहा है, भटक रहा है, भँवर-चक्र में उलझ रहा है।

नाच को मिटाना है तो नर्तकी से उलटा, अर्थात् कीर्तन प्रारम्भ कर दीजिए। जैसे-जैसे कीर्तन की गति मन की लय से जुड़ती जायेगी, वैसे-वैसे कर्मबंधन कटते जायेंगे। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म आत्मा के शत्रु हैं। इन आठ में आत्मा के प्रबल घाती हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय। सभी कर्मों का राजा है मोहनीय। मोह ही नचाता है। मोह मिटा दीजिए फिर देखिए शेष कर्म स्वतः नष्ट हो जायेंगे, वैसे ही जैसे एक राजा को जीतने पर शत्रु-सेना स्वतः हार मान लेती है।

□ धर्म करिए, कर्म परास्त हो जायेंगे

आत्मा का शत्रु है कर्म और कर्म का शत्रु है धर्म। कर्म आत्मा को बंधन में डालते हैं, संसार में भटकाते हैं, मोह-माया में उलझाते हैं। धर्म बंधन से मुक्ति दिलाता है, संसार-सागर से पार लगाता है, मोह-माया को नष्ट करता है। आप भी धर्म कीजिए, कर्म परास्त हो जायेंगे। सिद्धान्त की बात है—शत्रु का शत्रु मित्र होता है। अतः आत्मा का मित्र कौन हुआ ? धर्म है आत्मा का मित्र। धर्म को जीवन में ग्रहण करें, हृदय में उतारें तो ये कर्म घात नहीं पहुँचा सकते, ये आपसे दूर हो जायेंगे।

□ सुख दियां सुख होत है

कर्मों को परास्त करना है तो अन्तर् के शत्रुओं को पहले भगाना होगा। आठ कर्म शत्रु नष्ट होंगे तो आठ आत्मिक गुण प्रकट होंगे। इन आठों गुणों को प्रकट होने पर आत्मा अव्याबाध, शाश्वत सुखों में लीन हो जायेगा, समस्त प्रकार के दुःख नष्ट हो जायेंगे। एक कहावत है—“सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होया।” दूसरों को दुःखी करना छोड़ दीजिए, किसी के अहित की बात चिन्तन में भी मत लाइए, निन्दा-विकथा आदि दुर्गुणों का त्याग करिए। अवगुण अन्दर से निकल जायेंगे तो गुण स्वतः प्रकट हो जायेंगे। अवगुण जब तक निकलते नहीं, गुण तब तक आयेंगे नहीं।

□ दुःख दियां दुःख होत : एक प्रसंग

एक महात्मा था। वह नित्य भिक्षार्थ शहर में भ्रमण करता था। वह चलते हुए निरन्तर यही कहता था—“सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होय।” शहर की एक महिला अपने घर में कभी झाड़ू निकालते, कभी खाना बनाते, कभी घर का कोई अन्य कार्य करते नित्य ही महात्मा के ये शब्द सुनती और नित्य विचार करती—‘बाबा गलत कह रहा है। दुनिया की यह रीति शायद कभी रही हो। आज तो भलाई का जमाना ही नहीं। बाबाजी की यह रट इनका हठ है।’

कभी-कभी उस महिला के मन में विचार आता—‘शायद बाबा ठीक कह रहा हो। आज भी सुख देने वाले को कहीं-कहीं शायद वापस सुख भी मिलता हो, पर मैंने तो यही देखा है कि सुख दें तो भी दुःख ही प्राप्त होता है।’

एक दिन महिला ने विचार किया कि इस महात्मा के साथ कोई ऐसा बुरा कार्य किया जाए, जिससे उसे अत्यन्त दुःख हो, देखें फिर मुझे दुःख मिलता है या नहीं।

अपने विचारों की क्रियान्विति के लिए उसने एक दिन उस बाबा को भिक्षा में दो स्वादिष्ट मधुर मोदक दिए। बादाम के इन मोदकों में उसने पहले से विष मिला दिया था। सोचा—‘फकीर मेरे दिए मोदक खाएगा तो तीव्र पीड़ा होगी, भयंकर वेदना से यह छटपटाएगा, शायद मृत्यु की गोद भी मिल जाए। जो भी हो, देखें क्या होता है?’

महात्मा ने लड्डू झोली में डाल दिए। भिक्षा लेकर वह आगे चला। अन्य घरों में भिक्षा माँगता, प्राप्त भिक्षा को ग्रहण करता महात्मा शहर के बाहर निकला। शहर के बाहर एकांत जंगल में महात्मा की कुटिया थी। अपनी कुटिया में पहुँचकर महात्मा ने झोली खोली। जो कुछ झोली में था उसे एक-एक कर बाहर निकाला। भोजन करने बैठा तो जो खाद्य पदार्थ रात्रि में रख दिए जाने पर खराब हो जाने वाले थे, उन्हें तो अपनी थाली में खाने के लिए ले लिया और जो दूसरे दिन तक वासी, दुर्गन्धित, बेस्वाद होने वाले नहीं थे, उन्हें सहेजकर कल के लिए रख लिया। रोटी-साग खा लिया। लड्डू छींके में रख दिए। पेट भर गया तो ठंडा पानी पीकर सो गया।

□ चाह गई चिन्ता मिटी, वो ही शहंशाह !

बंधुओं ! “चाह गई चिन्ता मिटी, मनवा बे परवाह, जिसको कुछ नहीं चाहिए वो ही शहंशाह।” अन्तर् की कामनाएँ, आकांक्षाएँ, इच्छाएँ मिट जाएँ; चिन्ताएँ नष्ट हो जाएँ तो व्यक्ति ऐसा मस्त बना रहता है मानो वही इस दुनिया का एक मात्र शहंशाह हो, शाहों का शाह हो। बात भी ठीक है—चाहें और चिन्ताएँ मिट जाएँ तो आदमी स्वयं ईश्वर, परमात्मा, भगवान बन जाता है।

वह महात्मा भी चाह व चिन्तारहित सो गया। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हुआ। महात्मा तंद्रित बना नींद की गोद में जाने लगा, तभी किसी की आवाज सुनाई दी। कोई कुटिया के द्वार पर खड़ा आवाज दे रहा था। उसने तंद्रा को दूर भगाया, आसन से उठा, कुटिया के द्वार पर आकर देखा दो व्यक्ति खड़े हैं। दूर देश से आए थके-थके से लग रहे थे वे। फकीर ने द्वार खोल दिया और पूछा—“कौन हो भाई, क्या चाहते हो ?”

“बाबा ! हम दूर देश से आए हैं। पास के शहर के निवासी हैं। छुट्टी लेकर अपने घर जा रहे थे। शहर पास ही है, पर प्यास इतनी तीव्र लगी हुई है कि आगे न बढ़कर आपकी कुटिया पर आ गए। सोचा—थोड़ा ठंडा पानी पीकर आगे बढ़ेंगे।”—आगन्तुकों ने कहा।

साधु बोले—“आओ, अन्दर आ जाओ। रात हो गई है, शहर सुबह जाना। आज रात यहीं बिताओ।” यह कहकर उसने बड़े प्रेम से उन्हें कुटिया में बिठाया। थोड़ी देर विश्राम करने को कहा फिर वही दो लड्डू छींके से उतारे और उनको खाने को दे दिए। ठंडा जल पास में भरकर रख दिया। आगन्तुकों के चेहरे खिल गये। उनकी सारी थकान जैसे उतर गई। दोनों ने एक-एक लड्डू खाया, ठंडा पानी पिया और वहीं, उसी कुटिया के आँगन में पसर गए। पहले निद्रालीन हुए फिर चिर निद्रालीन हो गए।

महात्मा सोच रहा था—‘तृप्त ये हो रहे हैं पर तृप्ति मुझे मिल रही है।’ संत-स्वभाव ही ऐसा होता है। “संत हृदय नवनीत समाना।” उन्हें इस तरह पसरते देख महात्मा ने सोचा—‘थके हैं, सो गए, कोई बात नहीं। थकान उतर जाने पर निद्रा जागेगी तो चले जायेंगे शहर।’ फकीर भी सो गया।

प्रातःकाल महात्मा उठा। इन्हें सोते हुए देख उठाना चाहा तो पाया कि वे तो दोनों ही निश्चेष्ट, निर्जीव पड़े हैं। शरीर की बदली रंगत देखी तो फकीर को भाँपते देर नहीं लगी कि उन लड्डुओं में जहर था। महात्मा-महात्मा थे, कुछ साधना की। चिन्तन की चाँदनी में विचार कौंधा-‘उस महिला ने दिए थे लड्डू, कहीं ये उसी के बेटे तो नहीं हैं?’

महात्मा झोली उठाकर चला शहर में। उसी मोहल्ले, उसी गली में आवाज लगाते पहुँचा-“सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होत।” महिला ने आवाज सुनी तो दौड़कर खिड़की से देखा-वही फकीर ! “तो क्या फकीर ने वे लड्डू खाए नहीं या खाए पर जहर पचा गए, कहीं किसी अन्य को तो नहीं खिला दिए। ये जीवित हैं तो फिर मेरे द्वारा दिये गये लड्डुओं का क्या हुआ ?” ऊहापोह में पड़ी उस महिला ने पुकारा बाबा को।

बाबा तो इसी पुकार की प्रतीक्षा में थे। आ गए तुरन्त। महिला ने पूछा-“बाबा ! सुनाइए कोई नई बात।”

बाबा बोले-“सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होत।” “मेरा तो कुछ नहीं हुआ पर दो राहगीर आए, लड्डू खाकर वे मृत्यु को प्राप्त हो गए।”

महिला के दिमाग में बिजली कौंध गई। मेरे दो पुत्र आने वाले थे। क्या वे ही तो नहीं हैं वे राहगीर ? पता लगाया तो ज्ञात हुआ, उसी के पुत्र थे। महिला बहुत दुःखी हुई, बहुत रोई, बहुत पश्चात्ताप किया उसने पर अब क्या हो सकता था ? दुःख देना चाहा तो स्वयं दुःखी बन गई। उसे विश्वास करना पड़ा कि फकीर का कथन सत्य है।

□ जिनवाणी के प्रति अशुभ चिन्तन अहितकारी होता है

बंधुओं ! यही बात तीर्थकर-अर्हत भगवंतों की वाणी के लिए है। इन आप्त पुरुषों के वचन कभी असत्य नहीं होते, उनके सिद्धान्त त्रिकाल सत्य होते हैं। यदि उस वाणी के लिए कभी अशुभ चिन्तन करते हैं तो आपका अहित होना निश्चित है। यदि शुभ चिन्तन करेंगे तो पुण्य-पुद्गल आपकी आत्मा के इर्द-गिर्द एकत्रित हो जायेंगे, पापकर्म के पुद्गल हैं यदि पूर्व के तो वे पुण्य पुद्गलों में परिवर्तित हो जायेंगे। इसी का नाम है

संक्रमण। यदि चिन्तन, भावना, विचार शुद्ध, सात्त्विक उत्तम हैं तो शृंखला की शृंखला परिवर्तित हो सकती है। अतः विचारों को श्रेष्ठ बनाइए।

विचारों को श्रेष्ठ बनाने का सरल और सर्वोत्तम माध्यम है—गुणी पुरुषों का गुण-कीर्तन। आचार्य सम्राट् पूज्य श्री जयमलजी महाराज की 'बड़ी साधु वन्दना' में यही किया गया है। आज प्रसंग चलेगा सती द्रौपदी का, पाँच पाण्डवों का।

धन्य पाँचों पाण्डव, तजी द्रौपदी नार।
 थेवरांनी पासे, लीधो संजम भार॥४६॥
 श्री नेमिवन्दन नो, एहवो अभिग्रह कीध।
 मास-मासखमण तप, शत्रुञ्जय जई सिद्ध॥५०॥
 धर्मघोष तणा शिष्य, धर्मरुचि अणगार।
 कीड़ियों नी करुणा, आणी दया अपार॥५१॥
 कडुवा तुम्बानो, कीधो सगलो आहार।
 सर्वार्थसिद्ध पहुंच्या, चवि लेसे भव पार॥५२॥

□ द्रौपदी का पूर्वभव : ब्राह्मणी नागश्री

बधुओं ! पाँच पाण्डवों का प्रसंग सती द्रौपदी के प्रसंग से जुड़ा हुआ है और धर्मरुचि अणगार का प्रसंग द्रौपदी के पूर्वभव से सम्बन्ध रखता है। आपने महाभारत का प्रसंग अनेकों बार सुना है, टी. वी. पर वैष्णव मत के महाभारत का सीरियल भी अनेकों ने देखा है। आचार्य भगवंत गुरुदेव स्व. श्री लालचंदजी महाराज एवं पूज्य गुरुदेव उपाध्यायप्रवर श्री पार्श्वचंदजी महाराज अनेक बार जैन-महाभारत कथा को अत्यन्त मनलुभावनी, मंत्रमुग्ध करने वाली भाषा-शैली में श्रोताओं को सुना चुके हैं। पीपाड़ के कोट में जैन-महाभारत पर गुरुदेव श्री पार्श्वचंदजी महाराज के प्रवचनों में जैन ही नहीं जैनेतर नर-नारियों की अपार भीड़ आपने देखी है।

□ कडुवे तूम्बे की विषैली सब्जी

द्रौपदी का जीव अपने पूर्वभव में नागश्री ब्राह्मणी के रूप में था। नागश्री चम्पानगरी में रहने वाले सोम की पत्नी थी। सोम, सोमदत्त और सोमभूति ये तीनों भाई वेदज्ञान में

निष्णात पंडित थे। किसी अवसर पर तीनों भाइयों का परिवार सोम के यहाँ एकत्रित हुआ। नागश्री ने उन सभी के भोजन हेतु अनेक उत्तम पदार्थ अपने हाथों से बनाए। इन पदार्थों में एक तूम्बे की सब्जी भी थी। अनेक मसालों से युक्त तथा आवश्यक चिकनाई (घी) से परिपूर्ण वह सब्जी देखने में बहुत अच्छी मालूम देती थी, फिर भी नागश्री ने अपनी आदत के अनुसार उस सब्जी की कुछ बूँदें अपनी हथेली पर टपकाकर उसे चखा तो जाना कि वह सब्जी तो अत्यंत कड़वी, खारी, विषैली है।

□ सभी चाहते हैं प्रशंसा

बंधुओं ! जैसे आज का जमाना आडम्बर और प्रदर्शन का है, जैसे आज के नर-नारी जहाँ भी जाएँ, चाहते हैं कि लोग उन्हें देखें, उनके वस्त्रों, आभूषणों की प्रशंसा करें, जैसे आज की मानव-जाति लोगों को भोजन खिलाकर भोजन में बनी चीजों की प्रशंसा सुनने के लिए लालायित रहती है। वर्तमान युग की नारी जाति का तो इस विषय में अपना विशेष पार्ट है। वैसे ही उस जमाने में भी नाम, ख्याति, प्रशंसा सुनने के लिए सभी इच्छुक रहते थे। नागश्री भी ऐसी ही कामना रखती थी पर तूम्बे की यह सब्जी उसकी चाह पर पानी फेरने के लिए पर्याप्त कारण थी।

□ निन्दा से बचने के लिए नई सब्जी

नागश्री ने विचार किया—‘यदि यह सब्जी मेरी देवरानियाँ चख लेतीं तो मैं तो कहीं मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रहती। अब भी यदि उन्हें इस सब्जी के विषय में ज्ञात हो गया तो मेरी कितनी भद्द होगी ! वे देवरानियाँ स्थान-स्थान पर मेरी निन्दा करेंगी। मैंने कितनी चतुराई से इस सब्जी को बनाया पर मेरे थोड़े-से प्रमाद ने कैसा विकट संकट उपस्थित कर दिया। मसाले बराबर हैं, चिकनाई भी खूब है, छौंका भी कैसा है—सुर्गांधि भाप के साथ स्पष्ट मालूम देती है पर उसी सुर्गांधि में यह विचित्र गंध, यह कडुवापन !’

काफी सोच-विचारकर नागश्री ने वह बनी-बनाई सब्जी छिपा दी। उस सब्जी का बर्तन ऐसी जगह रख दिया, जहाँ पर किसी की नजर न पड़े, फिर उसे अच्छी तरह पूरा-का-पूरा ढक दिया। मेहमानों के भोजनार्थ उसने दूसरा तूम्बा चखकर, उसकी सब्जी बनाई। वैसी ही सुर्गांधपूर्ण और मसालेदार।

समय पर सभी पारिवारिक जनों ने भोजन किया। देवर व देवरानियाँ—सभी ने भोजन की बहुत प्रशंसा की। आप लोग कहते हैं न कि “यार-दोस्त किसके, खाया-पिया और खिसके।” जीम-चूँटकर सोम व उसके दोनों भाई अपने-अपने काम पर तथा नागश्री की दोनों देवरानियाँ वहाँ से अपने-अपने घर चली गईं।

□ धर्मरुचि मुनिवर मासक्षमण पारणक में नागश्री के घर

उन दिनों चम्पानगरी में धर्मघोष स्थविर अपने अनेक शिष्यों के साथ विराजमान थे। धर्मघोष के धर्मरुचि नामक अणगार मास-मास का तप कर रहे थे। उस दिन मुनि धर्मरुचि के मासक्षमण का पारणा था। मुनि ने पहले प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे प्रहर में ध्यान किया। तीसरा प्रहर प्रारंभ होने पर पात्रों की प्रतिलेखना कर, गुरुदेव से आज्ञा प्राप्त कर मुनि धर्मरुचि चम्पानगरी के उच्च, निम्न, मध्यम कुलों में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए सहज भाव से नागश्री के घर में पधारे।

□ कड़वे तूम्बे की विषैली सब्जी का आहारदान

नागश्री ब्राह्मणी ने जैन संत को भिक्षा निमित्त घर में प्रवेश करते देखा तो क्षण मात्र में विचार कर लिया कि अवसर अच्छा है, कड़वी सब्जी कहीं अन्यत्र डाली तो बात शायद छिपाए न छिपे। इन मुनि के पात्र में यदि डाल दूँ तो कोई हड़का न धड़का। भोजनगृह में छिपाकर रखे उस पात्र को नागश्री ने निकाला और धर्मरुचि अनगार के पात्र में डाल दिया। मुनि कहीं रोक न दें, इस विचार से पूरी की पूरी सब्जी एक पात्र में एक साथ डाली। मुनि ने देखा, इतनी सब्जी एक साथ डाल दी है बाई ने तो क्या करते ? इन बहनों, माताओं का भाव हमेशा इस मामले में वैसे ही ऊँचा रहता है। वे अधिक से अधिक, उत्तम से उत्तम भोजन हमारे पात्रों में बहराना चाहती हैं। वे नहीं सोचतीं कि सन्त-निर्ग्रन्थों की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। कभी-कभी तो हम संत बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं।

□ नागश्री का पिंड छूटा सब्जी से पर मुनि धर्मरुचि.....?

नागश्री तो अब निश्चित थी। जिससे पिंड छुड़ाना था, सहज ही उससे पिंड छूट गया। उधर धर्मरुचि अणगार ने जब देखा कि जो आहार मिला है, वह पर्याप्त है

तो वे नागश्री के घर से कहीं और भिक्षार्थ न जाकर सीधे अपने गुरु धर्मघोष मुनिवर के पास पहुँच गए। ईर्यापथिकी का प्रतिक्रमण कर भिक्षा-पात्र खोला और भिक्षान्न गुरुजी को बताया। सब्जी में से अभी भी सुगंध फूट रही थी। गुरु धर्मघोष स्थविर उस सुगंध से उद्विग्न बन गए। उन्हें उसमें कुछ विचित्र-सी गंध आती महसूस हुई। वैसे ही ऐसे गरिष्ठ आहार की इतनी अधिक मात्रा देख उनके हृदय में एक आशंका उठ खड़ी हुई थी—किसने इस तरह भावना भाई ? सब्जी से आ रही विचित्र गंध के कारण स्थविर मुनि ने सहज भाव से एक बूँद सब्जी हथेली पर डालकर चख ली।

□ विष बन चुकी है, परठ आओ !

सब्जी तो कड़वी, तीखी, कषैली थी ही। गुरु ने समझ लिया कि यह सब्जी विष बन चुकी है। शिष्य से बोले—“देवानुप्रिय ! यह सब्जी अखाद्य है, इतनी विषैली है कि इसे खाकर प्राणों से हाथ धोने पड़ सकते हैं। तुम यह सब्जी मत खाओ। असमय में जीवनरहित हो जाओगे यदि इसे खाया तो, अतः कहीं शान्त, एकान्त, आवागमनरहित, अचित्त भूमि देखकर इसे परठ आओ।”

आचारांगसूत्र में उल्लेख मिलता है कि विवेक रखते हुए भी संयमी-साधक की भिक्षा में संयोगवश कोई ऐसी वस्तु आ जाए जो संयम-मार्ग पर आगे बढ़ने में बाधक हो या महाव्रतों में दोष लगाने वाली हो तो साधक उस वस्तु को गुरु-आज्ञा से किसी एकान्त-निर्दोष स्थान पर विवेकपूर्वक परठ देवे।

□ चींटियों पर अद्भुत अनुकम्पा-चिन्तन

धर्मरुचि अनगार गुरु-आज्ञा पाकर जंगल में गए। वहाँ एक एकान्त स्थान देखकर भूमि का शोधन किया। अचित्त एवं जीव-जन्तुरहित भूमि देखकर सब्जी परठने के लिए झोली से पात्र निकाला। परठने से पूर्व विचार किया—‘परठ तो रहा हूँ पर इसकी सुगंध से जीव-जन्तु एकत्रित हुए तो।’ इस विचार के आते ही पूरी सब्जी परठने के स्थान पर केवल एक बूँद ली और धरती पर डाल दी।

कुछ क्षण ही बीते होंगे कि योजनगंधा चींटियाँ कतारबद्ध आने लगीं, वे उस बूँद के इर्द-गिर्द एकत्रित हो गईं। मुनि ने देखा कि अनेकानेक चींटियाँ उस सब्जी

को खाकर असमय ही मरण को प्राप्त हो गई हैं। मुनि ने सोचा—‘यदि एक बूँद सब्जी से इतनी चींटियाँ मर गई हैं तो सारी सब्जी से तो हजारों-लाखों चींटियों की जीव-हिंसा हो सकती है। यह तो भयंकर हिंसा, घोरतिघोर कर्मबंधन का कारण बन सकता है।’

□ सर्वाधिक उपयुक्त स्थल है मेरा यह पेट

गुरुदेव ने कहा था—एकान्त स्थान हो, निर्दोष स्थान हो, ऐसा स्थान हो जहाँ जीव-विराधना न होती हो पर यहाँ तो भयंकर जीव-विराधना हो रही है। क्या करना चाहिए मुझे ? कहाँ परठना चाहिए इसे ? कौन-सा स्थान है ऐसा जहाँ परठने पर जीव-विराधना से बच जाऊँ ? धर्मरुचि अनगार चिन्तन की भावभूमि में बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर उतर गए। उन्हें ध्यान आया कि मेरा पेट ही इस सब्जी को परठने का एक मात्र निरवद्य, जीव-विराधनारहित, निर्दोष, एकांत, सर्वथा उपयुक्त स्थान है। श्रेयस्कर यही है कि मैं स्वयं ही इसे खा लूँ।

□ सहस्रों जीवों की रक्षार्थ विष उदरस्थ किया

धर्मरुचि अनगार ने उस सब्जी को बिना उसका रस लिए, बिना स्वाद लिए अपने उदर के कोठे में डाल दिया। सारी सब्जी उनके मुख-पथ से सीधी उदर में ऐसे उतर गई जैसे सर्प सीधा ही अपने बिल में चला जाता है। कषैली, विषैली सब्जी खाने के बाद परिणाम वही होना था, जो विष-पान से होता है। मुनिवर का शरीर अशक्त बनने लगा, निश्चेष्ट होने लगा, अंग-अंग में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई पर मुनि समभाव में बने रहे। उन्होंने चिन्तन किया कि ‘अब यह शरीर धारण नहीं किया जा सकता, मरणधर्मा यह शरीर अब निश्चित ही प्राणहीन बनेगा।’ ऐसा चिन्तन उत्पन्न होने पर धर्मरुचि अनगार ने वहीं भूमि की प्रतिलेखना की। आचार के भाण्डोपकरण पात्रादि एक ओर रखे। अरिहंतों, सिद्धों एवं धर्माचार्यजी को वन्दन, नमन किया। अपने महाव्रतों की आलोचना की, संयम-जीवन में लगे दोषों के लिए प्रतिक्रमण किया, पुनः नए रूप में महाव्रत धारण किए, यावज्जीवन के लिए अपने शरीर तक का त्याग कर संलेखना, संथारा धारण कर लिया। वे वहीं पूर्ण समाधि के साथ मरणधर्म को प्राप्त हुए।

□ एक भवावतारी बने

अंतिम समय तक वे शुद्ध संयमाराधक रहे। अतः काल कर सर्वार्थसिद्ध विमान में गए। वहाँ की तैंतीस सागरोपम की स्थिति व्यतीत कर, आयु-स्थिति-भव के क्षय होने पर च्यवकर सीधे महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे।#

□ आहारदान में पूर्ण विवेक रखिए

बंधुओं ! संत-सती वर्ग को निर्दोष संयम-पालन के लिए निर्दोष आहार देना कर्मों की निर्जरा का, संसार परित्त करने का कारण है पर यदि आहारदान में निर्दोषिता का ध्यान नहीं रखा जाए, अविवेक रखा जाए तो संसार परित्त होने की जगह संसार बढ़ जायेगा, भव-भ्रमण और अधिक विस्तार पा जायेगा। आप तो खुश होते हैं बहराकर पर आवश्यकता है आहारदान में विवेक रखने की, निर्दोष असन-पान-खादिम-स्वादिम बहराने की। उद्गम के सोलह दोष की जानकारी लेकर, उन्हें टालिए। संतों के निमित्त ही यदि वस्तु लाई या बनाई गई है और उसे दान में मुनिराज को देते हैं तो जन्म-मरण कम नहीं होगा।

□ दाता व ग्रहणकर्ता, दोनों के लिए घातक है-सदोष आहार !

यह मैं विशेष रूप से इसलिए बता रहा हूँ कि आजकल टीफन ले जाकर बहराने का चलन होता जा रहा है। लेने वाले संत तो निश्चित रूप से दोष के भागी हैं ही, पर आप जो मन-ही-मन खुश होते हैं, वचनों से खुशी का प्रकाशन भी कर देते हैं कि “आनंद आयग्यो। आज बाबजी हाथ फरस लियो। म्हारे टीफन सूं बाबजी गोचरी ले ली।” बंधुओं ! यह हाथ फरसना, यह खुशी, ये वचन और ये बहराना भी कर्मबंध का हेतु है। पाँच समिति-तीन गुप्ति का अध्ययन करिए तब आपको स्वतः बात समझ में आ जायेगी, आप जान पायेंगे कि मैंने संसार घटाया नहीं, अपितु बढ़ा लिया है। सदोष आहार अल्पायु बंध का कारण है। मनुष्य-जन्म पाकर भी अल्पायु मिली तो क्या लाभ प्राप्त किया जा सकेगा इस अमूल्य मानव भव का ?

‘सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे’-ऐसा धर्मरुचि अणगार के भव की अपेक्षा से कहा गया है। वर्तमान की अपेक्षा से चिंतन करें तो इस घटना को बहुत ही सुदीर्घ काल व्यतीत हो चुका है, अतः धर्मरुचि का जीव अपनी ३३ सागर की सर्वार्थसिद्ध की आयु पूर्ण कर मनुष्य बनकर कभी के सिद्ध हो चुके हैं। वर्तमान में उनकी आत्मा अनंत सुखों में लीन मोक्ष में विराजमान है।

□ नागश्री के पाप का भंडा फूटा

नागश्री ने अविवेक से काम लिया। विषैला होते हुए भी निन्दा से बचने के लिए वह शाक धर्मरुचि अनगार के पात्र में पूरा का पूरा डाल दिया। मासक्षमण का पारणा था मुनि के। निर्दोष आहार यदि चढ़ती भावना से दिया जाए तो ऐसे में कर्मों के दल के दल टल सकते थे, पर उस पापात्मा ने कलुषित विचार से वह विषैला आहार देकर घोर पापकर्म का बोझ अपने सिर चढ़ा लिया।

किया हुआ पाप कब तक छिपा रहता ? मुनि धर्मरुचि देवलोक सिधारे। काफी समय तक उनके न लौटने पर धर्मघोष स्थविर ने अन्य मुनियों को उनकी शोध में भेजा। खोजने पर वे मिले, पर निष्प्राण। उनके भंडोपकरण लेकर शिष्य लौट आए। जो बात थी गुरुदेव को बता दी। गुरुदेव ने कहा—“हे आर्यो ! धिक्कार है उस नागश्री ब्राह्मणी को जिसने मासक्षमण तप के पारणक में धर्मरुचि अनगार को विष-तुल्य कडुवे तूम्बे की सब्जी भिक्षा में देकर असमय में ही मृत्यु के मुँह में पहुँचा दिया।”

□ नागश्री स्व-परिजनों द्वारा अपमानित

शिष्यों को कही गई बात किसी श्रावक ने भी सुनी। उस श्रावक ने अपने मिलने वालों से यह बात कही। एक-दूसरे के पास होती हुई यह बात सोम, सोमदत्त, सोमभूति के पास भी पहुँची। नागश्री का पति, उसके देवर, उसकी देवरानियाँ सभी ने एकत्रित हो नागश्री को अनेक कटु शब्द कहे, आक्रोशयुक्त वचनों से उसे लज्जित किया, अपशब्दों से उसे अपमानित किया, उसकी हीलना-निन्दा-भर्त्सना की और अंत में उसे घर से बाहर निकाल दिया।

□ नरक का बंधन (छठी नारकी)

घर से निकाली गई नागश्री का नगर के लोगों ने भी बहुत अपमान किया। उसे धिक्कारा, उसकी गर्हा-निन्दा की, उसे कुत्सित वचन कहे। अत्यंत व्यथित, दुःखी नागश्री ने हिम्मत कर अनेक लोगों से आश्रय देने की प्रार्थना की। वह उनके समक्ष रोई, गिड़गिड़ाई पर किसी ने उसे आश्रय नहीं दिया। सभी ने उसे धिक्कारा, दुत्कारा। अत्यंत दुर्दशा पाकर, अतिहीन-दीन बनकर भिखारिन बन गई। रोटी के टुकड़े

के लिए दर-दर भटकने लगी। कुछ ही दिनों बाद सोलह रोगातंक उसके शरीर में पैदा हो गए। बुभुक्षिता, तृषिता, रुग्ण, जीर्ण-वस्त्रधारी, मैली-कुचैली, आर्त-रौद्रध्यान करती वह नागश्री काल के समय मरकर स्त्रीवेद के कारण छठी नारकी में उत्पन्न हुई। यहाँ बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट नारक-आयु भोगकर मछली बनी, शस्त्र द्वारा मारी जाकर सातवीं नरक में गई। तैंतीस सागरोपम स्थिति वहाँ व्यतीत कर पुनः मछली के रूप में जन्म लिया। शस्त्र द्वारा वध किए जाने पर उसका जीव पुनः सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। सातवीं पृथ्वी से पुनः मछली, शस्त्र से वध फिर छठी नरक में, वहाँ से उरग योनि में, जलचर, खेचर, असंज्ञी, संज्ञी आदि पर्यायों में अनेक बार जन्म-मरण की दुस्सह यातनाओं को सहन कर, सातों नरक भूमियों में दो-दो बार जाकर, बादर पृथ्वीकाय में अनेक लाख बार उत्पन्न हो अपने पूर्वकृत घने पापकर्मों को हलका बना लेने पर ८४ लाख जीवयोनियाँ बिताने के पश्चात् उस नागश्री के जीव ने मनुष्य गति में जन्म लिया।

□ अनेक भवों के पश्चात् मनुज-भव पर..... ?

नागश्री का जीव मानव-भव में चम्पानगरी के सार्थवाह सागरदत्त सेठ के घर रूपवती कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ पर कटु-कर्म-भोगावलि अभी शेष थी। अतः रूप-सौन्दर्य आदि सब कुछ होने पर भी एक कमी उसे ऐसी प्राप्त हुई कि उसकी सारी सुन्दरता, सारा रूप व्यर्थ सिद्ध हुआ। युवा होने पर भी उसके शरीर के स्पर्श में अत्यन्त खुरदरापन व कठोरता आ गई और साथ ही उसमें ऊर्जा इतनी कि जैसे एक हजार वोल्ट का विद्युत् करंट हो। माता-पिता ने उसका नाम सुकुमालिका रखा था।

□ सुकुमालिका का स्पर्श विद्युत् के समान

विवाह योग्य होने पर उसका विवाह उसी नगरी के जिनदत्त नामक सेठ के पुत्र सागर से कर दिया गया। विवाह-वेदिका पर पाणिग्रहण के समय सागर ने जब सुकुमालिका का हाथ अपने हाथ में लिया तो वह हस्त-स्पर्श उसे तलवार की धार जैसा, सुइयों की अनेक नोकों जैसा, बिच्छू के डंक जैसा तीक्ष्ण एवं अंगारे के समान, जलते लोहपिंड के समान उष्ण लगा, किन्तु उस समय तो वह सागर लोकलज्जावश बिना इच्छा के भी विवाह-मंत्रोच्चारण तक उसे सहन करता हुआ बैठा रहा।

□ विवाह तो हुआ पर स्पर्श-सुख से वंचित

मधुर मिलन की प्रथम रात्रि के समय शय्या पर सोए सागर ने सुकुमालिका का जब अंग स्पर्श किया, तब भी उसे वैसा ही अनुभव हुआ, जैसा हस्त-मिलाप के समय हुआ था। उस अमनोज्ञ, अप्रिय, अकान्त स्पर्श से वह घबरा गया। शय्या से उठा, शयनागार का द्वार खोला और चुपचाप बाहर निकलकर अन्यत्र चला गया।

□ साथ रहने को कोई पुरुष तैयार नहीं

प्रातःकाल सागर को उसके पिता ने बहुत समझाया। सागरदत्त भी आकर समझाने लगा पर सागर ने स्पष्ट कह दिया—“मैं आग में कूद सकता हूँ, समुद्र में छलौंग लगा सकता हूँ, विष पी सकता हूँ पर मैं निश्चित रूप से सुकुमालिका के संग नहीं रह सकूँगा।”

सागरदत्त ने यह सुना तो वह सुकुमालिका को वापस अपने घर ले आया। कुछ ही दिनों पश्चात् उसने एक अत्यंत दीन-हीन भिखारी को देखकर उसे अपने पास बुलाया। उसे घर के भीतर भेजा और नौकरों को बुलाकर आदेश दिया कि उसके फटे-टूटे जीर्ण वस्त्रों की जगह उसे स्नानादि कराकर नए वस्त्र पहनाओ, बढ़िया भोजन कराओ, अनेक आभूषणों से सजाओ फिर मेरे पास आओ। उसके नौकरों ने उसकी आज्ञा का पालन किया। सेठ ने अपनी पुत्री को अपने पास बुलाया फिर उस भिखारी-पुरुष से कहा—“यह मेरी सुकुमालिका कन्या है। यदि तुम इसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करते हो तो मैं तुम्हें इसे तुम्हारी पत्नी के रूप में प्रदान करता हूँ।”

भिखारी-पुरुष के स्वीकार कर लेने पर सेठ ने उन्हें सुकुमालिका के कक्ष में भेज दिया। शय्या पर सुकुमालिका के अंग-स्पर्श को उसने भी वैसा ही अनुभव किया। वह तुरन्त वहाँ से उठा और शयनागार से ऐसे भागा जैसे किसी कसाईखाने से बकरा मुक्त हो गया हो।

□ धर्म ही सहारा

मुनि को विष देने के कुकर्म का फल उसे अभी भी भोगना था। वह अत्यंत दुःखी हुई। उसके माता-पिता भी बहुत दुःखी हुए। पिता ने पुत्री से कहा—“निश्चय ही यह सब तेरे पूर्वकृत हिंसादि दृष्टकृत्यों का फल है। अतः आर्त्तध्यान छोड़, दुःखी मत हो,

धर्म में मन लगा। जहाँ हमारी भोजनशाला है, वहाँ तैयार अशनादि आहार को श्रमण-श्रमणी आदि आवें तो भावनापूर्वक उन्हें देती हुई अपने समय को व्यतीत कर।

सुकुमालिका ने ऐसा ही किया। वह वहाँ रहते हुए विपुल अशन-पान आदि दान में देने लगी। दान से पुण्योपार्जन होता है। जब पुण्य-पुँज एकत्रित हुआ तो पुण्य के प्रभाव से एक बार गोपालिका नामक आर्या-श्रमणी का अपने श्रमणी-समूह के साथ चम्पानगरी में पदार्पण हुआ। एक सिंघाड़ा भिक्षार्थ नगरी के उच्च, निम्न, मध्यम कुलों में घूमता हुआ सागरदत्त की भोजनशाला में पहुँचा।

सुकुमालिका ने उन्हें भावपूर्वक अशनादि बहराया और बोली—“पूज्य आर्याओं ! मैं अपने पति द्वारा त्यक्ता, उसके लिए अनमोज्ञ, अनिष्ट हूँ। आप ज्ञानवान हैं, साधना के धनी हैं, ऋद्धि-सिद्धियों की भंडार हैं। आप ही मुझे कोई ऐसा मंत्र-तंत्र बताइए कि जिसे सिद्ध कर मैं सागर की कान्त, प्रिय, इष्ट बन जाऊँ।”

□ तंत्र-मंत्रादि श्रमणाचार के उपयुक्त नहीं

संसार के दुःखों से तप्त, संतप्त, त्रास पाए हुए अनेक व्यक्ति साधकों के पास जाते हैं, उनकी विनय, भक्ति, सेवा करते हैं जिससे वे प्रसन्न होकर उनके दुःखों को दूर करने हेतु कोई विद्या, कोई मंत्र दे दें। कोई-कोई तांत्रिक हो तो तांत्रिक-विद्या के लिए भी जाते हैं पर बंधुओं ! साधक का यह कर्तव्य नहीं है कि वह अपनी साधना को इस तरह सांसारिकों में बाँटता फिरे, अपनी सिद्धि को इस तरह घटाए, कम करे। जैन श्रमण-वर्ग के लिए तो ऐसा करना आगम-विरुद्ध है, यह श्रमणाचार को दूषित कर देने वाला कर्म है।

□ सुकुमालिका बारह व्रतधारी श्राविका बनी

सुकुमालिका की बात सुन गोपालिका-श्रमणी ने कहा—“देवानुप्रिये ! हम निर्ग्रन्थ श्रमणियाँ पाँच समिति धारण करने वाली तथा तीन गुप्तियों से गुप्त होती हैं हमें ऐसा करना तो क्या, ऐसी बात सुनना भी नहीं कल्पता। किसी सांसारिक सुख के लिए कोई उपाय बताना हमारे विधान में पूर्णतः निषिद्ध है। इतना कहकर गोपालिका श्रमणी ने सुकुमालिका को धर्मदेशना दी। संसार के पथ को समस्त दुःखों का कारण बताते हुए

संयम के पथ को सुखों का राजमार्ग बताया। जिनवाणी की अमृतधारा में अवगाहन कर सुकुमालिका ने श्राविका के बारह व्रत अंगीकार किए।

□ दीक्षा एवं तपस्याराधना

श्रमणोपासिका बन जाने पर सुकुमालिका का दुःख भार पूर्व से बहुत कम हो गया, क्योंकि उसके चिन्तन में अन्तर आ चुका था। अब वह बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि वाली बन गई थी। कालान्तर में सुकुमालिका ने गोपालिका आर्या के पास दीक्षा ग्रहण की। समिति-गुप्ति का पालन करती हुई वह बेला, तेला, उपवास आदि की अनेक तपस्याएँ करती हुई पाद-विहार करने लगी।

□ कल्प और अकल्प

एक दिन आर्या सुकुमालिका ने अपनी गुरुणीजी से कहा—“गुरुणी मात ! आपकी आज्ञा हो तो मैं नगर से बाहर किसी उद्यान में बेले-बेले का तप करते हुए, सूर्य के सम्मुख आतापना लेना चाहती हूँ।”—श्रमणी के लिए आगमानुसारी में गाँव, नगर आदि से बाहर रहकर इस तरह तपादि करना, सूर्य की आतापना लेना नहीं कल्पता। उनके लिए दीवार या बाड़ से घिरी चहारदीवारी में, उपाश्रय स्थानक आदि में, वस्त्र से शरीर को आच्छादित रखते हुए अपनी अन्य साध्वियों के साथ पृथ्वी पर दोनों पदतल समान रखकर आतापना लेने का विधान बताया है, ऐसा बताते हुए गुरुणी ने मना कर दिया।

□ निदान—‘पाँच पति की कामना’ !

सुकुमालिका-आर्या की आत्मा पर अभी मुनि-हनन का पापकर्म-अंश शेष था। वह बिना गुरु-माता की आज्ञा के ही बाहर उद्यान में जाकर बेले-बेले की तपस्या करती हुई सूर्य-आतापना लेने लगी।

एक दिन चम्पानगर की देवदत्ता गणिका (वेश्या) एवं उस पर मुग्ध बने पाँच युवा पुरुष उस उद्यान में आए और उस उद्यान की शोभा का अवलोकन करते हुए प्रेमालाप करने लगे, मानव-सम्बन्धी कामभोग भोगने लगे। सुकुमालिका-आर्या की नजर भी उन पर पड़ी। मन में संकल्प उत्पन्न हुआ—“यह स्त्री धन्य है जो पूर्वभव के शुभ कर्मों का उत्तम फल इस तरह भोग रही है। मैं अधन्या हूँ जो अपने ही पति की अप्रिय, अकान्त हूँ। यदि इस जन्म के मेरे संयम, मेरे नियम, मेरे तप का कुछ भी हितकारी

फल शेष है तो मैं भी आगामी भव में इसी स्त्री-रत्न की तरह मनुष्यों सम्बन्धी कामभोग भोगूँ। मैंने वस्तुतः विवशता में यह दीक्षा ली है, पर मैं इसमें सुख नहीं मानती। मेरे लिए तो सुख वही है जो मेरी आँखों के समक्ष अभी प्रत्यक्ष है।’

‘निदान’ कर लिया उसने। अगले भव के लिए पाँच पति की कामना कर बैठी और इस तरह लम्बे समय के अपने दुर्लभ संयम व तप को एक ही क्षण में कौड़ियों के मोल बेच दिया। आप लोग भी अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान, यथा-सामायिक, प्रतिक्रमण, संवर, पौषध, उपवास आदि साधना व तपश्चरण करते हैं पर उस तपश्चरण के पीछे सांसारिक सुख-प्राप्ति की, प्रदर्शन की, प्रतिष्ठा-नाम-यश-प्राप्ति की अभिलाषा रहती है तो वह साधना, वह तप निष्फल चला जाता है।

□ उत्तर गुणों में शिथिलाचरण

अब सुकुमालिका-आर्या ने शारीरिक स्वच्छता पर अधिक ध्यान देना शुरू कर दिया। गोपालिका-आर्या के मना करने पर भी वह नहीं मानी। हाथ-पैर धोना, शरीर के अन्य अंग धोना, ध्यानस्थ होने से पूर्व खड़े रहने की भूमि को पानी छिड़ककर शुद्ध करना आदि कार्यो से स्वाध्याय-संयम में शिथिलता आने लगी। गुरु-माता कुछ कहतीं तो वह उनका भी अनादर कर देती। कालांतर में एक दिन खीझकर वह अपने सिंघाड़े से बाहर निकल अकेली ही संयम-पालन करने लगी।

तप वह अब भी करती, अनेक नियमों का पालन करती, पंच-महाव्रतों को उसने भंग नहीं किया, न उनमें दोष ही लगाया। अतः मूल गुण तो सुरक्षित रहे पर उत्तर गुणों में शिथिलाचरण के कारण आंशिक दोष लगते रहे। अकेली होने पर स्वच्छंद हो गई। अतः संयम में शिथिलाचरण बढ़ता गया। आगम में साधु-साध्वी का अकेले-एकाकी विचरण का कल्प नहीं है। मुनि के लिए तो स्थानांगसूत्र के आठवें स्थान में फिर भी अपवाद रूप में एकाकी विचरण का विधान बताया है। पर श्रमणी के लिए तो एकाकी रहना, विचरण करना नितान्त अकल्पनीय माना गया है।

□ प्रतिक्रमण नहीं अतः देव-गणिका बनी

अकल्पनीय होने पर भी सुकुमालिका-आर्या एकाकी रही, एकाकी विचरण किया, संयम में शिथिल बनी। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना में अवसन्न बनकर, विहार में

आलस्यमयी बनकर, अनाचार का सेवन करके एवं ऋद्धि-रस एवं साता रूप पदार्थों में आसक्त बनी उस आर्या सुकुमालिका ने अनेक वर्षों तक इस प्रकार साध्वी-पर्याय का पालन किया। अंतिम समय में पन्द्रह दिन का संलेखना-संधारा भी किया। पर अपने अनुचित आचरण की आलोचना नहीं की, अपने शिथिलाचरण का प्रतिक्रमण नहीं किया। अतः काल के समय काल करके देवलोक में जाकर भी देव-गणिका बनी।

□ द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के रूप में जन्म

देव-गणिका के भव में नौ पल्योपम का समय व्यतीत कर सुकुमालिका के जीव ने जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पांचाल जनपद में काम्पिल्यपुर नगर के राजा द्रुपद की महारानी चूलनी की कुक्षि में कन्या के रूप में जन्म लिया। द्रुपद-पुत्री होने के कारण उसे द्रौपदी नाम दिया गया। उसके युवा होने पर तात्कालीन प्रथा के अनुसार उसके ब्याह हेतु स्वयंवर का आयोजन किया गया। स्वयंवर का निमंत्रण पाकर द्वारिका से कृष्ण वासुदेव, समुद्रविजय आदि दस दशार्ह, बलदेव आदि पाँच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त बलवान, वीरसेन आदि इक्कीस हजार वीर पुरुष, महासेन आदि छप्पन हजार बलवान काम्पिल्यपुर पहुँचे।

हस्तिनापुर से युधिष्ठिर आदि पाँच पांडव, दुर्योधन आदि सौ कौरव, द्रोण, जयद्रथ, शकुनि, कर्ण, अश्वत्थामा आदि आए। चम्पानगरी से अंगराज, राजा सेल्लक व नंदिराज, शुक्तिमती से शिशुपाल नरेश व उसके पाँच सौ भ्राता, हस्तीशीर्ष नगर से दमदंत राजा, मथुरा से धर, राजगृह से जरासिंधु का पुत्र सहदेव, कौण्डिन्य से सम्मी, विराटनगर से कीचक व उसके सौ भ्राता और इसी तरह शेष अनेक ग्रामों-नगरों के सहस्रों राजा, राजकुमार आदि स्वयंवर में उपस्थित हुए।

□ स्वयंवर में द्रौपदी द्वारा पाँच पांडवों का वरण

स्वयंवर के लिए विशेष रूप से बने हुए अति रमणीय एवं अत्यंत विशाल मंडप में प्रत्येक राजा का नामांकित सिंहासन था। अतः स्वयंवर के दिन सभी अपने-अपने आसन पर आसीन हुए। पूर्व निदान के कारण स्वयंवर-मंडप में द्रौपदी ने पाँचों पाण्डवों

को फूलमालाओं से चारों ओर से वेष्टित किया और कहा—“मैंने इन पाँच पाण्डवों का वरण किया।”

राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री का पाँचों पाण्डवों के साथ पाणिग्रहण कराया, प्रभूत प्रीतिदान दिया और विदाई के समय वासुदेव प्रभृति राजाओं को विपुल सम्मान देकर विदा किया। पाँच पाण्डव एवं नववधू द्रौपदी हस्तिनापुर आए। यहाँ उनका स्वागत कर उत्सव आयोजन किया गया। पाँचों पाण्डव अपनी परिणीता द्रौपदी के साथ बारी-बारी से एक-एक दिन कामभोग भोगते हुए सुख से समय बिताने लगे।

केवलज्ञानी के आगमन होने पर इस विस्मयकारी विवाह के विषय में श्रोताओं ने प्रश्न पूछे जिस पर ज्ञानी भगवन्त ने पूर्वभव का वृत्तान्त बताया जिससे द्रौपदी को पश्चात्ताप हुआ और उसका परिमार्जन करके आत्मा को शल्यरहित किया। अन्त में उसने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

□ नारद ऋषि अनादर

एक दिन देवर्षि नारद हस्तिनापुर आए और पाण्डु राजा के महल में पहुँचे। यहाँ अन्य सभी ने उनका आदर-सत्कार किया, उन्हें वंदन-नमन किया, उनकी सेवा-पर्युपासना की पर द्रौपदी ने उन्हें असंयमी, अविरत, अप्रत्याख्यानी जानकर उनका आदर नहीं किया। नारद इसे सहन न कर सके। वे उससे बदला लेने की भावना से धातकीखंड की अपरकंका के राजा पद्मनाभ के पास पहुँचे। नारद का कार्य है आग लगाना और दूर खड़े हो तमाशा देखना। नारद ने पद्मनाभ को द्रौपदी की सुन्दरता के विषय में बताते हुए कहा—“तुम्हारा सारा अंतःपुर (सात सौ रानियाँ) देवी द्रौपदी के कटे हुए पैर के अँगूठे की सुन्दरता के सौवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकता।”

□ पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी का अपहरण करवाना

नारद तो यह कहकर चले गए पर पीछे राजा पद्मनाभ के मन में सुन्दरी द्रौपदी को येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा जगा गए। उसे पाने की उत्कट अभिलाषा से उसने पौषधशाला में तेल तप कर अपने पूर्व साथी देव का आह्वान किया और उसके आने पर हस्तिनापुर से द्रौपदी को लाने के लिए कहा। देव हस्तिनापुर गया।

अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को एक निश्चित अवधि के लिए न भंग होने वाली निद्रा में सुलाकर निद्रित अवस्था में ही उसे उठाकर पद्मनाभ के पास अपरकंका ले गया।

द्रौपदी जगी तो अर्चभित हुई। यह वह स्थान नहीं था जहाँ वह रात को सोई थी। क्या किसी ने मेरा अपहरण किया है ? मैं कहाँ हूँ ? यह स्थान कौन-सा है ? कौन है मुझे यहाँ लाने वाला ? क्या कारण है जो मुझे लाया गया ? महाबली पाँच पांडव जो मेरे पति हैं, वे कहाँ हैं ?

□ पद्मनाभ का निवेदन

द्रौपदी इन्हीं विचारों में खोई बहुत ही चिन्तित थी तभी पद्मनाभ उसके निकट आया और बोला—“देवी ! तुम धातकीखंड में अपरकंका नगरी के बलशाली राजा पद्मनाभ के महलों में हो। यहाँ तुम्हें किसी बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम चिन्तारहित बन यहाँ सभी प्रकार के भोगोपभोगों का सेवन करते हुए सुख से समय व्यतीत करो। मेरे साथ महलों में कामभोगों को भोगते हुए आनन्दित बनो।”

□ द्रौपदी द्वारा समय माँगना

द्रौपदी की चिन्ता पद्मनाभ के इस कथन से बढ़ गई। बड़े कौशल से उसने छह मास तक का समय माँगा और बोली—“छह मास की अवधि तक भी मेरे पति पाण्डव और वासुदेव श्रीकृष्ण मुझे छुड़ाने यहाँ नहीं आते हैं तो मैं आपके कथन का पालन करूँगी।”

□ श्रीकृष्ण व पांडवों द्वारा द्रौपदी की खोज

उधर प्रातःकाल शय्या पर द्रौपदी को नहीं पाया तो युधिष्ठिर आदि पाँच पांडवों, पांडु राजा आदि ने चारों तरफ उसकी शोध कराई। कहीं न मिलने पर कुन्ती ने अपनी पुत्रवधू को ढूँढ़ने के लिए श्रीकृष्ण से कहा। कुन्ती भुआ को कृष्ण ने आश्वासन दिया और अपने लोगों से द्रौपदी की शोध-गवेषणा करवाई, पर द्रौपदी का कहीं भी पता नहीं मिला। कुछ दिन बाद महर्षि नारद श्रीकृष्ण से मिलने आए तो बात-बात में श्रीकृष्ण ने पता लगा लिया कि करतूत नारदजी की है और द्रौपदी इस समय धातकीखंड की अमरकंका नगरी के विद्याधर राजा पद्मनाभ के महलों में है।

हस्तिनापुर समाचार भेजा गया और कहलवा दिया गया कि पाँचों पांडव, अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ पूर्व दिशा के लवणसमुद्र के किनारे पहुँचकर प्रतीक्षा करें।

□ धातकीखंड की अपरकंका में : पद्मनाभ से युद्ध

उधर से पांडव और इधर से श्रीकृष्ण व दस दशार्ह अपनी-अपनी सेना के साथ लवणसमुद्र के किनारे पहुँचे। समस्या थी लवणसमुद्र को पार कर धातकीखंड पहुँचने की। वासुदेव ने पौषधशाला में तेले का तप कर देव-आह्वान किया। सुस्थित देव उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण ने उससे पाँच पांडव और छठे स्वयं अपने लिए लवणसमुद्र में होकर धातकीखंड में जाने का मार्ग माँगा और कारण भी बता दिया। देव ने कहा—“आप क्यों तकलीफ करते हैं, आपका आदेश हो तो मैं द्रौपदी देवी को वहाँ से लाकर हस्तिनापुर पहुँचा दूँ। आप कहें तो पद्मनाभ राजा को उसकी नगरी, सैन्य आदि सहित लवणसमुद्र में भेज दूँ।”

श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव से कहा—“नहीं बंधु ! उसे छोड़ाकर लाने का काम हमारा है। तुमसे जितना कार्य मैंने कहा उतना कार्य तुम कर दो।” देव ने वैसा कर दिया। चतुरंगिणी सेनाएँ वापस चली गईं। श्रीकृष्ण व पाँच पांडव लवणसमुद्र पार कर अपरकंका पहुँच गए। वहाँ पाँच पांडव बोले कि पद्मनाभ से हम युद्ध करेंगे, आप हमें युद्ध करते देखें। पाँचों पांडव युद्ध के मैदान में गए और पद्मनाभ से बोले—“आज या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा।” पाँचों पांडवों ने अत्यंत वीरतापूर्वक युद्ध किया पर शीघ्र ही हार गए। युद्ध के मैदान से भागकर श्रीकृष्ण के पास आए और बोले—“हमने युद्ध किया पर पद्मनाभ ने हमें भागने पर विवश कर दिया।”

श्रीकृष्ण ने उनसे युद्ध का विवरण पूछा। सुनकर बोले—“तुम्हें कहना चाहिए, आज तो हम ही रहेंगे, पद्मनाभ हरगिज नहीं रहेगा। अब मैं युद्ध करने जाता हूँ, तुम देखना।”

□ आत्म-विश्वास की जीत

श्रीकृष्ण गए युद्ध के मैदान में। उच्च घोष करते हुए बोले—“कायर पद्मनाभ आज तू नहीं बचेगा।” इतना कह उन्होंने अपना पाञ्चजन्य शंख फूँका। शंख-ध्वनि से पद्मनाभ

की सेना का तिहाई भाग हत हो गया। तब श्रीकृष्ण ने अपना सारंग धनुष हाथ में लिया, उसकी प्रत्यंचा चढ़ाई और टंकार किया। उस धनुष की भीषण टंकार से पद्मनाभ की और एक-तिहाई सेना नष्ट हो गई। यह दृश्य देख पद्मनाभ हतोत्साह होकर, भागकर अपनी राजधानी अमरकंका नगरी में चला गया और सुरक्षा के लिए नगर के सारे द्वार बंद करवा दिए।

पद्मनाभ के पीछे-पीछे श्रीकृष्ण भी अपने रथ में बैठ वहाँ पहुँचे। वैक्रिय समुद्घात करके उन्होंने अति विशाल नरसिंह का रूप धारण किया, जोर-जोर से पृथ्वी पर पाँव पटके। उनके पैरों की पछाड़ से अमरकंका का परकोटा टूट गया, महलों के झरोखे भग्न हो गए, अनेक महल और भंडार नष्ट हो गए, कितने ही भवन सरसराट कर धरती पर गिर पड़े।

बंधुओं ! शब्दों की ताकत और आत्म-बल का परिणाम हमेशा सकारात्मक ही रहता है। किसी भी कार्य को करें तो दृढ़ इच्छा-शक्ति और प्रबल आत्म-विश्वास के साथ करें। मन में एक अटल भाव से सफलता निश्चित है। संशय जहाँ है, शंका जहाँ है, वहाँ सफलता संदिग्ध है। समकित के पाँच दूषण में पहला ही दूषण है—शंका। सन्देह का भाव ही असफलता को आमंत्रित करता है। प्रभु, तीर्थंकर भगवतों का भी यही सन्देश है कि जो भी करो दृढ़ संकल्प के साथ करो, विकल्पों की उलझनों में मत पड़ो। यदि दृष्टिकोण एवं कार्य शुभ है तो सफलता निश्चित है। कवि ने इसीलिए तो कहा है—“मन के जीते जीत है और मन के हारे हार।” पांडवों के मन में विकल्प था, “या तू या मैं” पर कृष्ण का संकल्प दृढ़ था, “तू नहीं, केवल मैं।” शत्रु चाहे आंतरिक हों चाहे बाह्य, उन्हें नष्ट करना है तो इसी दृढ़ संकल्प से उन पर विजय प्राप्त की जा सकेगी।

□ द्रौपदी पुनः पांडवों के पास

भयभीत पद्मनाभ द्रौपदी को लेकर वासुदेव श्रीकृष्ण की शरण में पहुँचा। पैरों में गिरकर अपने अपराध की हृदय से क्षमा माँगते हुए द्रौपदी को लौटाया। अनेक बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्न भेंट किए। श्रीकृष्ण ने उसे क्षमा किया, द्रौपदी को रथ पर आरूढ़ कर श्रीकृष्ण पाँच पांडवों के समीप आए और द्रौपदी को उन्हें सौंपा।

□ धातकीखंड में दूसरा वासुदेव कौन ?

युद्ध में वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा बजाए गए पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि धातकीखंड के पूर्वार्ध में स्थित चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विराजित अरिहंत-भगवंत मुनिसुव्रत के चरणों में बैठे धर्मोपदेश श्रवण कर रहे धातकीखंड के कपिल वासुदेव ने सुनी और सोचा-‘अरे ! यह वासुदेव के पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि कैसे ? मैं तो यहाँ धर्मसभा में बैठा हूँ। क्या यहाँ कोई दूसरा वासुदेव उत्पन्न हो गया है ?’

□ हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अरिहंत मुनिसुव्रत प्रभु ने कपिल वासुदेव के मन की बात जानकर उसे बताया कि यह जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र से यहाँ आए वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा फूँके गए शंख की ध्वनि है। अरिहंत प्रभु ने श्रीकृष्ण के धातकीखंड में आने का जो कारण था, वह भी बता दिया और कहा कि तुम्हारे राजा पद्मनाभ से युद्ध करते हुए उन्होंने जो शंख-ध्वनि की, वही तुमने सुनी है।

सर्वज्ञ भगवंत ने कहा कि तुम्हारा यह चिन्तन सही नहीं है कि इस क्षेत्र में दूसरा कोई वासुदेव उत्पन्न हो गया है, क्योंकि एक ही युग में, एक क्षेत्र में, एक ही समय दो तीर्थकर, दो चक्रवर्ती, दो बलदेव अथवा दो वासुदेव कभी उत्पन्न हुए नहीं, होते नहीं, होंगे नहीं। जब कपिल वासुदेव ने श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने, उन्हें देखने के लिए जाने की अभिलाषा प्रकट की तो प्रभु बोले-“ऐसा हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं कि एक तीर्थकर दूसरे तीर्थकर को देखे, एक चक्रवर्ती दूसरे चक्रवर्ती से मिले, एक बलदेव का दूसरे बलदेव से और एक वासुदेव का दूसरे वासुदेव से मिलन हो या वे एक-दूसरे को देखें। तुम यदि जाओगे भी तो लवणसमुद्र के मध्य भाग से जाते हुए कृष्ण वासुदेव के रथ की श्वेत एवं पीत ध्वजा के अग्र भाग को देख सकोगे।

□ केवल ध्वनि से मिलाप दो वासुदेवों का : दश आश्चर्यों में एक

ऐसा ही हुआ। वासुदेव कपिल जब लवणसमुद्र के तटीय भाग पर पहुँचे तो उन्हें लवणसमुद्र के मध्य भाग में जाते हुए वासुदेव श्रीकृष्ण की श्वेत व पीत ध्वजा का अग्र भाग मात्र दिखाई दिया। कपिल वासुदेव ने हर्ष में भरकर अपना पाञ्चजन्य शंख

फूँका, प्रत्युत्तर में वासुदेव श्रीकृष्ण ने भी अपना पाञ्चजन्य शंख फूँककर शंख-शब्द की समाचारी की, शंख-ध्वनि द्वारा मिलाप किया।

जैन इतिहास में जिन दस आश्चर्यों का अर्थात् ऐसी बातों का जो सिद्धांततः तो होती नहीं पर हो गयीं, स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में वर्णन मिलता है। इन दस आश्चर्यों में एक आश्चर्य दो वासुदेवों की शंख-ध्वनि का यह मिलन भी गिना गया है। एक वासुदेव का दूसरे वासुदेव से मिलन होने का एक-दूसरे को देखने की त्रिकाल नियमा नहीं है, परन्तु जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि भगवन्त के समय में यहाँ के वासुदेव कृष्ण का धातकीखंड द्वीप के भरतक्षेत्र में जब तीर्थकर मुनिसुव्रत विचरण कर रहे थे, उस क्षेत्र के वासुदेव कपिल से उस समय शंख-ध्वनि से मिलन हुआ, जब श्रीकृष्ण वासुदेव को धातकीखंड की अमरकंका नगरी में द्रौपदी को लाने के लिए धातकीखंड जाना पड़ा।

कपिल वासुदेव ने अमरकंका के राजा पद्मनाभ को उसकी काली करतूत के लिए अपने राज्य (तीन खंड) से निर्वासित कर उसके पुत्र को अमरकंका के राज-सिंहासन पर बिठा दिया।

□ श्रीकृष्ण के भुज-बल की परीक्षा

इधर श्रीकृष्ण जब पाँच पांडवों तथा अपनी भुआ की पुत्रवधू द्रौपदी के साथ लवणसमुद्र को पार करते हुए साढ़े बासठ योजन विस्तार वाली महानदी गंगा के तट पर पहुँचे तो उन्होंने पाँच पांडवों को नदी पार जाकर नौका पुनः भेजने को कहा और स्वयं लवणसमुद्र के अधिष्ठाता देव सुस्थित से मिलने हेतु रुक गए।

पाँच पांडवों ने महानदी के उस तट पर रखी एक मात्र नौका के सहारे उस विस्तृत नदी-पाट को पार किया, परन्तु नौका लेकर कोई पांडव श्रीकृष्ण को उस तट से लाने के लिए वापस नहीं गया। वे सभी वासुदेव की परीक्षा करना चाहते थे कि देखें श्रीकृष्ण नदी के इस विस्तार को अपनी भुजाओं के बल से तैरकर पार कर सकते हैं या नहीं।

श्रीकृष्ण तो वासुदेव थे, महान् आत्म-विश्वासी एवं विशिष्ट शारीरिक बल के धारक थे। अनेक देवी-देवता उनकी सेवा में थे। कई प्रकार की साधना-सिद्धि भी थी। चतुर्भुज रूप धारण करके एक हाथ में द्रौपदी बैठी थी, दूसरे हाथ में शस्त्रास्त्र और

शेष दोनों हाथों से गंगा नदी को तैरना प्रारम्भ किया। मध्य में पहुँचने पर थकान-सी अनुभव होने लगी, तब महानदी की अधिष्ठायिका गंगादेवी ने प्रकट होकर रत्नमय पीठिका तैयार करके विश्राम का अनुरोध किया, श्रीकृष्ण ने वहाँ कुछ समय विश्राम किया। देवी ने दिव्य शक्ति से उन्हें पार पहुँचने का अनुरोध किया, पर श्रीकृष्ण स्वयं के भुज-बल से ही तैरकर गये।

□ श्रीकृष्ण कुपित, पांडवों को राज्य-निर्वासन

वे जब नदी किनारे पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि पांडवों ने नौका से महानदी पार की, पर मेरे बल की जाँच करने के लिए नौका वापस नहीं भेजी तो वे अत्यंत कुपित हुए और बोले—“जब मैंने दो लाख योजन विस्तार वाले लवणसमुद्र को तुम सभी के साथ पार किया, पद्मनाभ राजा को पराजित कर अमरकंका नगरी को नष्ट किया, क्या तब तुम्हें मेरे बल का ज्ञान नहीं हुआ ? अठारह दिनों के उस महाभारत के युद्ध में तुम्हें मेरे बल का ज्ञान नहीं हुआ। अब मैं तुम्हें बताता हूँ कि मेरा बल कितना है ?” इतना कहने के पश्चात् वासुदेव ने पाँच पांडवों के रथों को चूर-चूर करते हुए उन्हें राज्य से निर्वासन की आज्ञा दी।

□ त्रिखंड से निर्वासित पांडव कहाँ जाएँ ?

बंधुओं ! महान् उपकारी का उपकार भूल जाने व शक्ति की पहचान होते हुए भी अविवेक बुद्धि से शक्तिशाली की शक्ति परखने का पाँच पांडवों को कैसा भयंकर दंड भोगना पड़ा ? वासुदेव तो होते हैं त्रिखंडाधिपति। उनके राज्य से निष्कासन का आदेश हो तो फिर रहना कहाँ ? माता कुन्ती को मालूम पड़ा तो वे गईं अपने वासुदेव-भतीजे के पास और समाधान माँगा इस समस्या का। तुम्हारा राज्य तो समग्र दक्षिणार्थ भरतक्षेत्र में, तीन खण्ड में विस्तृत है। फिर मेरे पुत्र इस राज्य से निर्वासित होकर कहाँ बसें ?

□ पाण्डु-मथुरा का निर्माण : द्रौपदी को पुत्र-प्राप्ति

बंधुओं ! तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि महापुरुषों के वचन मिथ्या नहीं होते और एक बार कहने के पश्चात् वे उन वचनों से फिर नहीं सकते, वापस नहीं ले सकते। उनके वचन पत्थर की नहीं, लोहे की लकीर होते हैं। अतः कुन्ती की बात सुन श्रीकृष्ण वासुदेव चिन्तामग्न हो गए पर कुछ ही क्षणों बाद मुस्कराते हुए

बोले—“ भुआ ! उन्हें कहना कि वे दक्षिण दिशा के समुद्रतट पर पाण्डु-मथुरा के नाम से एक नयी नगरी बसाकर वहीं सुख से रहें।”

□ श्रीकृष्ण का देह त्याग

पाँचों पांडवों ने जैसा श्रीकृष्ण ने कहलाया, वैसा ही किया। अब वे द्रौपदी के साथ दक्षिणी समुद्रतट पर अपने द्वारा निर्माण कराई गई ‘पाण्डु-मथुरा’ नामक नगरी में रहते हुए सुखों में लीन बन भोग भोगते हुए जीवन व्यतीत करने लगे। यहीं द्रौपदी ने ‘पाण्डुसेन’ नामक पुत्र का प्रसव किया। उधर बहुत काल व्यतीत हो जाने पर अग्निसूरा, द्विपायन के निमित्त से द्वारामती (द्वारिका) का दहन हो जाने पर बलभद्र के साथ में श्रीकृष्ण वासुदेव कौसंबी वन में पहुँचे। श्रीकृष्ण के तृषातुर होने पर बलभद्र जल लेने के लिए जंगल में घूमने लगे। श्रीकृष्ण पद्मशिला पर पीताम्बर ओढ़े सोये हुए थे। उनके दाहिने पैर में पद्म था जो चमक रहा था। उसे हरिण की आँख समझकर जराकुमार ने बाण मारा जो उनके पैर की पदतल में जाकर लगा। भयंकर पीड़ा होने लगी जो मार्मिक थी। वे उठकर बैठ गये सोचा कि मुझ पर बाण चलाने की किसने हिम्मत की है, उन्होंने देखा तो सामने कोई शिकारी है। उसने बाण मारा है, उन्हें याद आया। प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा था कि जराकुमार के हाथों से तेरी मृत्यु होगी। उन्होंने भील वेश में रहे जराकुमार को पहचान लिया। जराकुमार को भी अपनी भूल पर भयंकर पीड़ा हो रही थी। वह विलाप करने लगा जिस पर श्रीकृष्ण ने उसे बलभद्रजी के कोप से बचने के लिए शीघ्र ही वहाँ से चले जाने को कहा और अपना अंतिम समय आ गया है ऐसा जानकर जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि एवं पीताम्बर को आधा फाड़कर दिया और कहा—“इसे लेकर पांडु-मथुरा चले जाओ। वहाँ कुन्ती भुआ और पाण्डवों को यह काँचली और मणि दिखाकर बता देना कि श्रीकृष्ण मृत्यु को प्राप्त हुए। जा, अब जल्दी भाग वरना मेरे भ्राता बलदेव बलराम आ गए तो तेरी खैर नहीं, वे तुझे जीवित नहीं छोड़ेंगे।”

□ कृष्ण-मरण का संदेश पाकर पांडव-चिन्तन

जराकुमार पांडु-मथुरा पहुँच गया। पांडवों को कौस्तुभमणि देकर बताया कि कैसे उसके हाथों चलाए तीर से श्रीकृष्ण मृत्यु को प्राप्त हो गए। वे पांडु मथुरा ही आ रहे

थे। पांडवों ने विचार किया—‘त्रिखंडाधिपति श्रीकृष्ण जो अपरिमित बल के धारक थे, जिन्होंने सोने की द्वारिका का निर्माण कराया, सामर्थ्य जिनकी कैसी कि द्रौपदी को धातकीखंड से छोड़ा लाए। ऐसे श्रीकृष्ण को भी मरना पड़ा, मौत ने ऐसे सामर्थ्यवान को भी नहीं छोड़ा तो हम तो हैं ही क्या चीज ? एक बात तो निश्चित है कि हम सभी को भी मरना पड़ेगा। संसार, राज्य, सम्बन्धी सभी यहीं रह जायेंगे। शरीर को हमारे अपने कहे जाने वाले प्रियजन ही अग्नि में समर्पित कर देंगे।’

□ संसार से विरक्त बन पांडव श्रमण बने

चिन्तन की ऐसी ही धारा में बहते-बहते उनके मन में संसार से विरक्ति के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। अब तक पाण्डुसेन बड़ा हो चुका था, युवराज बन चुका था। अतः उसे राज-सिंहासन पर आसीन कर पाँचों पांडव धर्मघोष मुनि के पास दीक्षित हो गए। इन पांडव-श्रमणों ने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक उपवास, बेला आदि से लेकर मासक्षमण तक की अनेक तपस्याएँ कीं। एक दिन नगर में भिक्षार्थ घूमते हुए पांडव-मुनियों ने अरिहंत-तीर्थकर अरिष्टनेमि प्रभु के सुराष्ट्र जनपद में विहार-विचरण की बात लोगों के मुँह से सुनी। दर्शन की कामना से उन पांडव-मुनियों ने गुरु-आज्ञा प्राप्त की। अभिग्रह धारण किया कि “जब तक अरिहंत अरिष्टनेमि के हम दर्शन नहीं कर लेते, तब तक मासक्षमण के पारणे में मासक्षमण तप करेंगे।” ऐसा अभिग्रहण धारण करके तीर्थकर-प्रभु के दर्शनार्थ विहार कर दिया। हस्तिकल्पनगर में मासक्षमण के पारणक में भिक्षार्थ नगर में घूमते इन मुनियों ने लोगों को परस्पर यह कहते सुना कि तीर्थकर भगवंत अरिष्टनेमि गिरनार पर्वत पर एक मास का निर्जल उपवास करके पाँच सौ छत्तीस साधुओं के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

□ तीर्थकर अरिष्टनेमि का निर्वाण संदेश सुन पांडवों द्वारा संथारा और मुक्ति

ऐसा सुनकर, तथ्य की सत्यता परखकर वे मुनि सहस्राम्र उद्यान में आए। भिक्षा में लाए आहार को एकान्त स्थान में विवेकपूर्वक परठा। परठकर वे सभी शत्रुञ्जय पर्वत पर गए। दो मास की संलेखना से कर्मों का शोषण किया और पादपोषगमन अनशनपूर्वक भयंकर परीषह उपसर्गों को सहन करते हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

□ द्रौपदी का देवलोक गमन

देवी द्रौपदी ने आर्या सुव्रताजी से दीक्षा ली। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। बहुत काल तक श्रमण-पर्याय का पालन किया। अंत समय में एक मास की संलेखना कर, काल के समय काल कर ब्रह्मलोक नामक पाँचवें देवलोक में द्रुपद देव के रूप में जन्म लिया। वहाँ दस सागरोपम की स्थिति के पश्चात् महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले द्रौपदी का जीव सर्व कर्मों का अंत कर मोक्ष प्राप्त करेगा।

□ लक्ष्य मुक्ति का बने : रत्नत्रयी का आराधन हो

लक्ष्य हमारा भी मुक्ति पाना है और आपका भी यही लक्ष्य है। यदि नहीं बना है लक्ष्य तो निर्धारण करना है इस लक्ष्य को। केवल लक्ष्य बना लेना ही काफी नहीं होगा, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना होगा। मुक्ति के लिए संयम में पुरुषार्थी बनना है। सम्यक् ज्ञानाराधन हो, सम्यक् श्रद्धा अटूट बने और सम्यक् तपश्चरण की साधना की जाए, तभी यह रत्नत्रयी आपको और हमें अपने लक्ष्य पर पहुँचाएगी।

आनंद ही आनंद !

□□

न घाली धर्म मां हाण

(पुण्डरीक-कण्डरीक)

जिनेश्वर देवों की भवसागरतारिणी अमृतवाणी जीव के समस्त मनोरथों को सिद्ध करने वाली, सकल सिद्धि देने वाली, सिद्ध-गति में ले जाने वाली है। यह चेतन जब सिद्धावस्था प्राप्त करता है तो उसे शाश्वत सुख, अक्षय आनन्द मिल जाता है।

यह संसार एक कैदखाना है। इस कैदखाने में यह जीव बंधनों से जकड़ा अनन्त-अनन्तकाल से भ्रमण कर रहा है। ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्म रूप हथकड़ियों व बेड़ियों से बँधा हुआ होने पर भी जब तक जीव को सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं होती, तब तक वह अपनी मिथ्या मान्यता के वशीभूत इन बन्धनों को ही अपने आभूषण मानता है, अपनी काया का उन्हें शृंगार समझता है। जिसे सम्यक् दृष्टि मिल जाती है, जो यथार्थ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर लेता है, वह उन बन्धनों को बन्धन मानते हुए उनसे छुटकारा प्राप्त करने में प्रयत्नशील बना रहता है।

□ संसारी काल-कोठरी की कैद में

बन्धुओं ! आवश्यकता इस बात की है कि आप अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाएँ, तभी आप कर्म-बंधनों से, भव-भ्रमण से, जन्म-मरण से छूट सकते हैं। जीवात्मा बनी हुई है कैदी। उसकी कैद-कोठरी है उसकी काया, उसका तन, उसका शरीर। शरीर मिलता है तो गर्भ की काल-कोठरी में हजारों-हजार प्रार्थनाएँ करता है कि छुटकारा दिला इस अँधेरी, मल-मूत्र, सड़ाँध भरी जगह से। पुनः ऐसा कोई काम नहीं करूँगा कि इसमें आना पड़े। जब बाहर आता है तो आत्मा रोता है कि मैं यहाँ कहाँ आ गया ? किसकी कैद में जकड़ा विवश पड़ा हूँ ? जब नवजात आत्मा रोता है तो पारिवारिक जन हँसते हैं, गीत गाते हैं, बाजे बजाते हैं, मिठाइयाँ बाँटते हैं। यह सब करके जैसे कह

रहे हों—अय जन्मना जीव ! रोता क्यों है ? रो मत ! यहाँ हम तुम्हारे साथ हैं। हर कदम पर तुम्हारा साथ देंगे।

बन्धुओं ! ये हँसने और खुशी मनाने वाले, ये साथ निभाने की बात करने वाले पारिवारिक जन भविष्य में क्या व्यवहार करते हैं, यह आपसे छिपा नहीं है। जीवनभर आठ-आठ आँसू रोते और रुलाते हैं, न दुःख में काम आते हैं न विपदा में। व्यक्ति का जीव शरीर से अलग हुआ नहीं कि उसे कंधों पर चढ़ाकर श्मशान में अग्नि-चिता को सौंप देते हैं। इनका मोह, स्नेह, प्रेम ही वह पाश है, जो भव-भव तक चार गतियों में भ्रमण कराता है। ऐसे ही लोगों से भरा है यह संसार और नया पैदा हुआ जीव कुछ बड़ा होकर इन्हीं में मिल जाता है, इन्हीं के पथ पर चल पड़ता है, इसी कैद को अपना आवास-निवास मान लेता है। कोई विरला ही व्यक्ति होता है जो इससे छुटकारा पाने, इससे बाहर निकलने का प्रयत्न करता है।

आप सभी यहाँ धर्माधना करने आये हैं। धर्म करने का उद्देश्य है बन्धनों से मुक्ति, कारा से छुटकारा, कैद से आजादी। कैसे पायेंगे छुटकारा ? छुटकारा पाकर अपने निज के निवास-स्थान को कैसे प्राप्त करेंगे ? इसका एक मात्र समाधान है—धर्मपथ पर अग्रसर होना। हमें कर्मों के बन्धनों से जकड़ी आत्मा को मुक्ति दिलानी है तो सद्धर्म को जीवन में ग्रहण करना होगा। धर्मस्थान में आकर भी कर्म-बन्धन हों, ऐसे ही कर्म किए तो आपका यहाँ आना आडम्बर होगा, ढोंग होगा, दिखावा होगा। आपका यह दिखावा, यह छल आपको अनन्त-अनन्तकाल तक भव-सागर में भटकाता रहेगा।

चल रहा है उन महापुरुषों का प्रसंग जिन्होंने भव-भ्रमण से मुक्ति पाई, कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा लिया, जन्म-मरण के अनन्त चक्र से अपने को हटा लिया। एकभवावतारी पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमलजी महाराज ने 'बड़ी साधु वन्दना' में ऐसे ही अनेकानेक महापुरुषों को भाव-नमन कर उन्हीं की श्रेणी में अपने आप को अग्रसर किया था। आज आप बड़ी साधु वन्दना की ५३वीं व ५४वीं गाथा (कड़ी) में वर्णित पुण्डरीक राजा का प्रसंग सुनेंगे।

वलि पुण्डरीक राजा, कण्डरीक डिगियो जाण।

पोते चारित्र लेईने, न घाली धर्म मां हाण॥५३॥

सर्वार्थ सिद्ध पहुंच्या, चवि लेसे निर्वाण।

श्री ज्ञातासूत्र मां, जिनवर कस्या बखाण॥५४॥

घटना चक्र है महाविदेह क्षेत्र का। महाविदेह के पूर्वी भाग में पुष्कलावती विजय और उस विजय की राजधानी पुण्डरीकिणी। देवलोक सदृश मनोहर बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी पुण्डरीकिणी नगरी का राजा था महापद्म। राजा महापद्म के पद्मावती नामक पटरानी से दो पुत्र थे—पुण्डरीक और कण्डरीक। दोनों राजकुमार सुदृढ़ अवयवों वाले और शारीरिक सौन्दर्य में कामदेव सदृश थे।

□ धर्म ही शाश्वत सुख प्रदान करने वाला

एक बार पुण्डरीकिणी नगरी में धर्माचार्य स्थविर मुनि धर्मघोष का अपने पाँच सौ अणगारों के साथ पदार्पण हुआ। राजा महापद्म अपनी पद्मावती पटरानी, दोनों कुमारों तथा अन्य रानियों, राज्याधिकारियों आदि के साथ मुनि-दर्शनार्थ गया। मुनिवर को वन्दन-नमन कर सभी धर्मोपदेश-श्रवण की कामना से धर्मसभा में बैठ गये। स्थविर मुनि ने संसार की असारता और जीवन की नश्वरता का मार्मिक विवेचन करते हुए बताया कि केवल धर्म ही शाश्वत सुख प्रदान करने वाला है। मुनिजी के त्याग-वैराग्यमय उपदेश को महापद्म राजा ने अत्यन्त ध्यान लगाकर सुना।

सुन आप भी रहे हैं, पर सुनने-सुनने में अन्तर है। आपमें से कई निद्रा को समर्पित हो रहे हैं, कइयों का शरीर यहाँ है पर मन कहीं अन्यत्र भटक रहा है, कई सुन रहे हैं पर अन्तर् में नहीं उतार रहे, ऐसे व्यक्ति इस कान से सुनते हैं और उस कान से बाहर निकाल देते हैं। प्रवचन के पश्चात् उठते हैं तो बैठकर झटक देते हैं कि महाराज ! 'तेरा तुझको अर्पण'—यहाँ का यहीं छोड़कर जा रहा हूँ। हजारों-हजारों में कोई एक शूरवीर, आत्मबल का धनी निकलता है जो आगमवाणी को गुरुवर के श्रीमुख से श्रवण कर, उसके अर्थ को हृदय में धारण कर उसे जीवन-व्यवहार में स्थान देता है। आपमें से अनेक व्यक्ति, परिवार हैं जो पीढ़ियों से उपदेश सुन रहे हैं, धर्मस्थानक में उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं, गुरुदेवों को वन्दन-नमन कर उनकी वाणी सुनते हुए तहत्, घणी खम्मा, वाह ! वाह !! अमृतवाणी !!! आदि शब्दों का उच्चारण कर रहे हैं, पर उनकी गाड़ी इस जड़ धर्मस्थानक तक ही अड़ी हुई है।

□ अड़ी-खड़ी गाड़ी को आगे बढ़ायें

बन्धुओं ! इस अड़ी और खड़ी गाड़ी को आगे बढ़ाना है, अटकी और भटकी हुई जिन्दगी को सत्य-पथ पर चलाना है, मोह-माया और राग-द्वेष में जकड़ी और उलझी जीवात्मा को वीतरागता के लक्ष्य पर लाना है। श्रावक नाम धरा है तो सचमुच के श्रावक बनिए। सचमुच के श्रावक हैं तो श्रमण-धर्म की ओर कदम बढ़ाइये। जीवनभर के श्रावकपन से दो घड़ी का साधुपन कहीं भारी, श्रेष्ठ, उत्तम है। जीवन में संयम की धारा का बहाव आ गया कभी, बन गये यदि घड़ी-दो-घड़ी के लिए भी पंच महाव्रतधारी और कंचन-कामिनी के त्यागी तो निश्चित ही आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त बन जायेगा।

□ यथा नाम तथा गुणधारी-पूज्य भूधरजी महाराज

पूज्य भूधर जी ने आचार्य श्री धन्ना जी महाराज का केवल एक प्रवचन सुना था, वह भी कब ? उम्र की ढलान पर, पैसठ वर्ष की पक्की आयु में। भटक रहे थे अपनी प्रिय साँडनी (ऊँटनी) के वियोग में। खोज रहे थे कोई ऐसा ढंग जिससे उस मृत साँडनी की आत्मा को शान्ति मिले। अनेक मन्दिरों में गये, संतों से मिले, फकीरों से बात की, पर उन्हें कोई ऐसा ढंग बता नहीं सका। आचार्यश्री धन्नाजी महाराज के प्रवचन से प्रभावित हो उनके सम्मुख भी अपने मन की व्यथा प्रकट की और उस हुतात्मा की शान्ति के लिए कोई तरीका बताने की बात कही। पूछा—“महाराज ! मेरी प्रिय थी, मेरा जीवन थी, मेरी रग-रग में बसी थी पर डाकुओं से युद्ध करते हुए मेरी आँखों के सामने उसकी गर्दन कट गई। अब भी मेरी आँखों के सामने उसका वह छटपटाना, वह तड़पना सजीव दृश्यमान है। उसे कैसे शान्ति पहुँचेगी ? मैं उसकी आत्मा की शान्ति के लिए क्या करूँ ?”

आपसे कोई ऐसा प्रश्न करे तो आप क्या कहेंगे ? “बेकार की बात है, जानवर थी, मर गई तो मर गई, क्या तो उसके लिए बेचैन होना और क्या उसकी आत्मा को शान्ति पहुँचाने की चिन्ता करना। छोड़ो यह पागलपन।” या फिर “उसे जला दो, उसकी राख गंगा जी में डाल आओ।” अथवा “ऊँटनी इतनी ही प्यारी थी तो उसके लिए ‘ओम् शान्ति, ओम् शान्ति’ की एक-दो माला फेर लो।” बन्धुओं ! मरने के बाद आप रोते हैं, विलापात करते हैं, बिलखते हैं पर उसमें सत्यता कितनी और दिखावा कितना,

यह तो आप ही जानते और बता सकते हैं। “घर से मसान तक जा पाते, सुत अग्नि देकर आ जाते।” दूर की रिश्तेदारी है तो शाब्दिक शोक प्रकट कर देते हैं, पत्र लिख देते हैं कि जिनेश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे।

आचार्यश्री धन्नाजी ने भूधर जी की व्यथा को समझा और ऐसा ढंग बताया, ऐसी राह दिखाई, ऐसी बात सुझाई कि कल के कर्मवीर भूधर, सोजत के कोतवाल भूधर, राजा और प्रजा के रक्षक भूधर कर्मक्षेत्र को छोड़ धर्मक्षेत्र में प्रवेश कर गये और क्षमाधर, सत्यधर, अहिंसाधर बन भूधर नाम को वस्तुतः भूधर बना बैठे। आचार्यश्री धन्नाजी ने उनसे कहा— “अपनी आत्मा को शान्त बना लो, उसकी आत्मा शान्त हो जायेगी।” कितना सुन्दर ढंग बताया। सांसारिक व्यक्ति पिण्डदान करते हैं और समझते हैं कि उनकी आत्मा शान्त हो जायेगी। यह मिथ्या धारणा है, मिथ्यात्व है। जिन्हें सम्यक् दृष्टि प्राप्त है, वे स्वयं को शान्त बना लेते हैं। अपने अन्तर् की अशान्ति को शान्त कर देते हैं, अन्तर् में शान्ति है तो सर्वत्र स्वतः शान्ति दृष्टिगोचर होगी।

□ स्वयं शान्त तो अशान्ति दूर

कोटवाल भूधरजी ने सुना आचार्यश्री धन्नाजी का धर्मोपदेश। दृढ़ संकल्प ले लिया कि मैं स्वयं को, अपनी आत्मा को शान्त बनाऊँगा, जिससे सारी अशान्ति दूर हो जायेगी। आयु कितनी थी उनकी ? पैसठ वर्ष। यहाँ बैठे श्रोताओं में बहुत कम होंगे जो पैसठ के हो गये हों। अधिक संख्या पैंतीस से पचास वर्ष तक की उम्र वालों की है पर संसार का कोई काम होगा तो तन भी तैयार और मन तो उससे पहले ही तैयार और धर्म का काम होगा तो.... ? गुरु महाराज पधारे हैं, दर्शन को आते हैं, वन्दना कौन करे ? खड़े-खड़े ही “मत्थाएण वन्दामि महाराज।” किसी ने यदि कह दिया कि वन्दना तो ठीक से करो तो उत्तर मिलेगा “घुटनों में तकलीफ है, बहुत दर्द रहता है, झुक नहीं सकता, नम नहीं सकता, वन्दन कर नहीं सकता।” प्रतिक्रमण करने आयेँगे पर विधि युक्त वन्दन नहीं करेंगे, खड़ा होना है पर बैठे रहेंगे और पाँच पदों की भाव-वन्दना में तो ऐसे प्रमादी आसन में बैठेंगे कि आवश्यक रूप से नींद आ ही जाये।

बन्धुओं ! यह कर्मबन्ध काटने का, सर्वदुःखों के नाश का तरीका नहीं है। वेदना मिटानी है तो विधियुक्त वन्दना करनी होगी। वन्दना में भावों की उत्कृष्टता का रंग

यदि लग गया तो स्वर्ण में सुगन्ध हो जायेगी, क्योंकि जन्म-मरण की वेदना समाप्त हो जायेगी, मुक्ति मिल जायेगी, सिद्धि प्राप्त हो जायेगी और यही चाहते हैं आप। लोगस्स के पाठ में बोलते भी हैं—“सिद्धासिद्धि ममं दिसन्तु !”

□ महापद्म बने साधना से सिद्ध

स्थविर मुनि भगवंत के धर्मोपदेश को श्रवण कर संसार की असारता का अनुभव करते हुए राजा महापद्म विरक्त बन, दीक्षा लेकर, संयम के पथ पर चल पड़े। पुण्डरीक का राज्याभिषेक किया गया, कण्डरीक को युवराज घोषित किया गया। मुनि महापद्म ने अनेक वर्षों तक विभिन्न जनपदों में विहार करते हुए उत्कृष्ट श्रमण-पर्याय का पालन कर सिद्धि को प्राप्त किया।

□ एक सागारी तो दूसरा अणगारी

तदनन्तर किसी अन्य समय दूसरी बार पुनः स्थविर मुनि धर्मघोष पुण्डरीकिणी पधारे। राजा पुण्डरीक व युवराज कण्डरीक भी दर्शन, वन्दन व धर्म-श्रवण करने गये। मुनि-मुख से धर्मदेशना सुन पुण्डरीक श्रमणोपासक बना और कण्डरीक विरक्ति को प्राप्त हो दीक्षा की अभिलाषा रखने लगा।

कण्डरीक ने अग्रज राजा पुण्डरीक से दीक्षानुमति माँगी। पुण्डरीक राजा ने उसे मुण्डित होने से रोकने के लिए राजा बनाना चाहा। उसने कहा—“मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इदाणिं मुंडे जाव पव्वयाहि, अहं णं तुमं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचामि।”

कण्डरीक ने राजा बनना अस्वीकार कर दिया और कहा—“मुझे राज नहीं चाहिए, महाराज चाहिए। जिनके त्यागमय, वैराग्यमय, संयममय जीवन के आगे राजा-महाराज भी नत-मस्तक होते हैं। विवश राजा पुण्डरीक को दीक्षानुमति देनी पड़ी। कण्डरीक दीक्षा लेकर मुनि कण्डरीक बन गये और अपने गुरु स्थविर भगवंत मुनि धर्मघोष के साथ देश-देशान्तर में विचरण करने लगे। मुनि कण्डरीक ने ग्यारह अंगों का गहन अध्ययन किया। संयम-पालन करते, धर्मोपदेश देते, तपयुक्त जीवन बिताते कण्डरीक मुनि रूखे-सूखे आहार को ग्रहण करने से रुग्ण हो गए, अशक्त बन गये, दाह-ज्वर से पीड़ित रहने लगे।

□ आहार-आसक्ति : चारित्र-हानि

अणगार कण्डरीक की रुग्णावस्था काल में स्थविर मुनि धर्मघोष का एक बार पुनः पुण्डरीकिणी में आगमन हुआ। अनादिकाल से संचित वेदनीय-कर्म तपाराधना द्वारा कभी निर्जरित हो जाते हैं तो कभी उदय में आ जाते हैं। मुनि कण्डरीक के साथ भी यही हुआ। राजा पुण्डरीक दर्शनार्थ आया और कण्डरीक मुनि को जब इस तरह रोगग्रस्त, अशक्त एवं कृश-काय देखा तो अपने भ्राता-मुनि के प्रति उनका प्रेम, एक त्यागी संत-मूर्ति के प्रति उनका सेवा-भाव जागृत हो गया। राजा ने स्थविर मुनि से रुग्ण मुनि के उपचार हेतु निवेदन करते हुए कहा—“अहं णं भंते ! कण्डरीयस्स अणगारस्स अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जेहिं जाव ते इच्छ आउट्टामि, तं तुब्भे णं भंते ! मम जाणसालासु समोसरह।”

“हे भगवन् ! मैं कण्डरीक मुनि की श्रमण समाचारी के अनुकूल औषध और भेषज से चिकित्सा कराना चाहता हूँ। अतः आप कृपाकर मेरी यानशाला (चिकित्सा-भवन) में पधारें !”

स्थविर मुनि ने मुनि-चिकित्सार्थ राजा के कथन को स्वीकार करते हुए यानशाला में पदार्पण किया ! राजा पुण्डरीक ने योग्य चिकित्सकों से मुनिश्री की चिकित्सा करवायी एवं उत्तमोत्तम औषध-भेषज का प्रबन्ध कर दिया। स्वास्थ्यवर्धक औषधियों एवं मनभावन अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि की व्यवस्था ने मुनि के तन को स्वस्थ, सशक्त एवं कान्तियुक्त बना दिया।

□ द्रव्य रोग हटा मोह रोग बढ़ा

बन्धुओं ! मुनिश्री का द्रव्य रोग तो मिटते-मिटते पूर्णतः मिट गया, पर भाव रोग उत्पन्न होकर बढ़ने लगा। स्थविर मुनि ने शिष्य को स्वस्थ देख वहाँ से विहार के लिए कहा तो मुनि कण्डरीक ने, जो गरिष्ठ आहार और उद्दीपन देने वाली दवाइयों से आसक्त बन गये थे, विहार से मना कर दिया। वे बोले—“गुरुदेव ! अभी मैं अशक्त हूँ, पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो पाया हूँ, विहार करने में मैं अभी समर्थ नहीं हूँ। अतः यहीं रहना चाहता हूँ।”

स्थविराचार्य ने विहार कर दिया। मुनि कण्डरीक वहीं रहने लगे। वे संयम में शिथिलाचारी बन स्वादिष्ट खान-पान में तल्लीन हो गये। राजा पुण्डरीक ने इस सारी

घटना को समझा तो विचार किया—‘इसमें तो भ्राता के मुनिधर्म की हानि हो रही है। आत्म-कल्याण तो दूर आत्मा और भारी बन रही है। मुझे ही कुछ करना चाहिए।’

□ पुण्डरीक वचन से मोह का उपशमन

राजा पुण्डरीक ऐसा विचार कर एक दिन मुनि कण्डरीक के दर्शनार्थ आते हैं, वन्दन-नमन कर उन्हें कहते हैं—“मुनिवर ! धन्य हैं आप, धन्य है आपका संयम। राज्य और अंतःपुर का त्यागकर आपने प्रव्रज्या धारण की और अपने दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक बनाया। भगवन् ! मैं अधन्य हूँ, अकृतार्थ हूँ, हीनपुण्य हूँ जो राज्य, परिवार, धन-माया में उलझा हुआ हूँ।”

अपने सांसारिक बड़े भ्राता के मुँह से इन वचनों को सुन इच्छा न होते हुए भी अपने गौरव और राजा पुण्डरीक के मान-सम्मान की रक्षार्थ अत्यन्त विवश बन मुनि कण्डरीक ने वहाँ से विहार कर दिया। उग्र विहार कर वे जहाँ स्थविर धर्मघोष मुनि थे, वहाँ पधार गये और कुछ काल तक उनके साथ उग्र विहार करते रहे। उनका तन यहाँ संयम यात्रा में, परन्तु मन अभी पुण्डरीकिणी के राजमहलों में भटक रहा था। वे तन से विहार कर रहे थे, पर मन से कल्पना में नित्य वही आहार, वही औषधियाँ देखा करते थे।

□ मन संकल्प से विकल्प में

कुछ काल व्यतीत होने पर गुरु का संग त्याग मुनि कण्डरीक पुनः पुण्डरीकिणी नगरी में आ गये। राजमहलों में जाने की तो एकदम हिम्मत हुई नहीं। अतः राजोद्यान में विराजे और मुनिचर्या में समय व्यतीत करने लगे। वहाँ की दासी ने उन्हें देखा तो उसने राजा पुण्डरीक को बता दिया कि आपके भ्राता-मुनि राजोद्यान में विराजमान हैं।

सूचना पाकर राजा मुनि वन्दनार्थ गये। वहाँ उन्हें चिन्तित, उदास, भग्न-हृदय देखा। वन्दन-नमन कर पुनः साधु जीवन को महान् बताते हुए मुनि को धन्य तथा अपने को अधन्य कहने लगे। मुनि सुनकर भी चुप रहे। उनकी आँखों में राजा को श्रमणत्व की उदासीनता के भाव दिखाई दिये। उनके चेहरे से लगा कि इनका भाव-संयम तो चला गया और द्रव्य-संयम ही शेष है तो बोले—“मुनिवर ! लगता है आपका चित्त चंचल,

मन अस्थिर है। लगता है आपको श्रमणत्व अप्रिय होने लगा है। क्या आपकी मनोकामना भोगों की ओर दौड़ रही है? क्या आप विषय-भोग भोगना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो मेरा राज्य आपके चरणों में न्योछावर है, पर मुनिवर ! सोच लीजिए कि मुनिधर्म की श्रेष्ठता के आगे ये भोग नगण्य हैं।”

पुण्डरीक ने मुनिधर्म की श्रेष्ठता को अनेक तरह से सिद्ध करते हुए कण्डरीक मुनि को पुनः संयम में स्थिर करना चाहा। इस पर लज्जा और संकोच त्यागकर कण्डरीक मुनि ने कहा—“यदि संयम इतना महान् है, मुनिधर्म ऐसा ही श्रेष्ठ है तो तुम खुद मुनि क्यों नहीं बनते ?”

मुनि के मुँह से इन शब्दों को सुनकर राजा पुण्डरीक ने कहा—“मुनिवर ! खेदित न हों। आज से यह राज्य आपका है, आप मेरे समस्त राज्य के मालिक हैं और मैं आपके रिक्त स्थान की पूर्ति हेतु यहीं दीक्षा धारण करता हूँ। आप राज-सुख भोगिये, भोग और ऐश्वर्यमय जीवन बिताइये। मैं इन सबका त्याग करता हूँ, मुनि-मर्यादा धारण करता हूँ।”

□ संयम धारा भाई के बदले भाई ने

कण्डरीक ने तब मुनि-पर्याय का त्यागकर राजकीय वेश धारण किया। उनका राज्याभिषेक हुआ और वे राजा बन राज-सुख भोगने लगे। राजा पुण्डरीक ने राज्याभूषणों और राज्योचित चिह्नों का त्यागकर मुनिवेश धारण किया, स्वयमेव पंचमुष्टिक लोच किया और चातुर्याम धर्म अंगीकार कर मुनि कण्डरीक के भण्डोपकरण ले वहाँ से विहार कर दिया। “कण्डरीक की तथा राजकुल की निन्दा, हीलना न हो। लोक में बदनामी न हो। धर्म की स्खलना न हो।”—इन सबके लिए पुण्डरीक त्याग और वैराग्य के पथ पर बढ़ गये।

□ न घाली धर्म मां हाण

आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज ने भी ऐसा ही तो किया था। शिष्य ने संथारा लिया। कुछ काल बाद स्वस्थता अनुभव कर संथारे में ही खाने-पीने की कामना जगी। संथारा छोड़ना चाहा। आचार्यश्री के पास सन्देश पहुँचा तो उन्होंने कहलवाया मेरे पहुँचने तक रुको। उग्र विहार कर, विहार-पथ में अन्न-जल की बिना परवाह किये पहुँचे शिष्य के

निकट। पूछा—“वत्स ! क्या बात है ?” शिष्य ने कहा—“गुरुदेव ! कुछ खाये-पीये बिना रहा नहीं जा रहा है। बस, एक बार भोजन करा दीजिए फिर भले ही पुनः संधारे पर बिठा दीजियेगा।”

आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज ने शिष्य को बहुत समझाया, भाँति-भाँति से उसे व्रत, संयम, संधारे में स्थिर करना चाहा। वे बोले—“वत्स ! अनादिकाल से इस जीव ने अनेक शरीर धारण कर अनन्त-अनन्त बार भोजन किया है। अनादिकाल से अब तक इसने इतना खाया है कि गोदाम के गोदाम भी उसके आगे कम हैं। जो पानी पिया उसके आगे तालाब और समुद्र भी कम हैं। तुम संयमी हो, रत्नत्रयी के धारक हो, पंच-महाव्रत पालक हो। इस प्रकार भोजन-पानी की लालसा रखकर तुम अपने जीवनभर के तप-संयम पर पानी फेर दोगे। तुम्हारी सारी साधना निष्फल चली जायेगी। ध्यान रखो वत्स, जीवनभर के शुद्ध संयम पालन से भी अधिक फल होता है दो घड़ी का संधारा सीझने का।”

शिष्य पर आचार्य गुरु भगवन् के उपदेश का असर नहीं हुआ। वह तो भूख और प्यास की मृग-मरीचिका में भटक रहा था। बोला—“गुरुदेव ! बस, एक कौर (कवल) खिला दीजिए, फिर मैं स्वतः पुनः संधारे पर बैठ जाऊँगा।”

आचार्यश्री धर्मदासजी उग्र विहार कर आये थे। रास्ते में कहीं कुछ जन गोठ का आयोजन कर रहे थे। दाल-बाटी बनी हुई थी, प्रासुक थी, भावना भी भाई गई। अतः भोजन ले लिया। गरम दाल, गरम बाटी। शीघ्र पहुँचने की विचारधारा में खा लिया उसे पर प्रासुक पानी उपलब्ध नहीं हुआ था।

अब यहाँ शिष्य प्रासुक जल लाये तो आचार्य भगवन् ने कहा—“पहले उसे समझा लूँ, फिर पीऊँगा पानी।”

शिष्य समझाने पर भी नहीं समझा, नहीं माना तो आचार्य ने उसे हाथ पकड़कर उठा दिया। कहा—“उठ कायर ! यह महावीर का धर्म है, वीरों की साधना का मार्ग है, तुम जैसा कायर क्या चलेगा इस वीर-पथ पर !”

इतना कहकर स्वयं उसी आसन पर बैठ गये और संधारे के प्रत्याख्यान ले लिये। भावों की उत्कृष्टता से वे अपनी आयुष्य के पुद्गलों को अल्पावधि में ही भोग लेते हैं।

जैसे कपड़ा बिना मोड़, बिना पुट लगाये सीधा सुखाया जाये तो जल्दी ही सूख जाता है पर यदि उसी कपड़े के दो, चार, आठ पुट लगे हों तो सूखने में समय लगता है। बन्धुओं ! इसी तरह आयुष्य कर्म रोम-रोम से भोगना शुरू करें तो अन्तर्मुहूर्त में भी भोग लिया जाता है। आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज का संथारा भी सात दिवस के अल्प समय में ही पूर्ण हुआ और वे कालधर्म को प्राप्त हुए।

□ संयम-संकल्प दिलायेगा सिद्धि

हमने ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के जिस प्रसंग को आज सुना और गुना है, उसमें मुनि पुण्डरीक स्वयं दीक्षित बन उग्र विहारकर जहाँ स्थविर गुरु भगवन्त थे, वहाँ पहुँचते हैं। उन्हें सारी बात बताकर उनके श्रीमुख से चातुर्याम धर्म अंगीकार करते हैं। दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए जाते हैं। भिक्षा में रूक्ष, नीरस आहार प्राप्त करते हैं। उस रसहीन, रूक्ष आहार को समभाव से ग्रहण करते हैं तथा धर्म जागरण करते हुए दुस्सह तपाराधना का पालन करते हैं।

इस प्रकार उग्र तप करते हुए पुण्डरीक मुनि जब शरीर से निस्तेज, निर्बल पर आत्म-तेज से युक्त बन जाते हैं तो पुनः अठारह पापस्थान का त्यागकर, शरीर का भी त्यागकर आलोचना, प्रतिक्रमण कर संलेखना-संथारा अंगीकार कर कालमास में काल करके सर्वार्थसिद्ध नाम के अनुत्तर विमान में देव-पर्याय में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से देवायु भोगकर, च्यवन होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त कर सर्वदुःखों का अन्त करेंगे।

□ संयम-विकल्प ले गया नरक

उधर सरस एवं पौष्टिक आहार में गृद्ध बन निरन्तर विषय-भोगों में अति जागरण और मात्रा से अधिक भोजन करने से राजा कण्डरीक भी स्वस्थ नहीं रह पाते। आहार पूर्णतः परिणत नहीं होने, नहीं पचने से कभी मध्य-रात्रि में उसे दुस्सह वेदना और प्रचण्ड दाह उत्पन्न होती है। राज्य, भोग-ऐश्वर्य, अन्तःपुर तथा खान-पान में अत्यन्त आसक्त बन राजा कण्डरीक इस रुग्णता में आर्तध्यान के वशीभूत हो न चाहते हुए भी कालमास में काल करके सातवीं नरक में उत्कृष्ट स्थिति वाले नारक के रूप में उत्पन्न होते हैं।

□ व्रतों के संकल्प में दृढ़ बनें

बन्धुओं ! यह जीव अनन्त-अनन्त बार नरक, तिर्यच आदि गतियों में संसार भ्रमण कर चुका है। अब यह दुर्लभ धर्मसाधना करने योग्य मानव तन मिला है। चिन्तन करें—व्रत और प्रत्याख्यान कर रहे हैं या नहीं ? करते हैं तो मन शिथिल तो नहीं बनता ? विषम परिस्थितियाँ आने पर व्रत से चलायमान तो नहीं होते आप ? रात्रि भोजन-त्याग के प्रत्याख्यान लिए पर जीमण है रात्रि-भोज है फिर क्या करना ? जायेंगे तो नहीं ? संत-दर्शन को यात्रा में निकले। रास्ते में गाड़ी खराब हो गई। रात घिर आई। आपके रात्रि-भोजन-त्याग का व्रत है। मिल गये मनुहार करने वाले तो यह तो नहीं कहेंगे कि साहब मैं तो मनवार रा काचा हं।

व्रत भंग यदि करते हैं तो तीव्र कर्मबन्धन निश्चित है। निरतिचार व्रतों का पालन हो रहा है तो उत्तम देवगति भी सुनिश्चित है, संसार परित बन सकता है, मोक्ष में रिजर्वेशन हो सकता है। सभी मोक्ष पाना चाहते हैं, कर्म काटना चाहते हैं। इसके लिए संसार से अनासक्त बन विरक्ति भाव जागृत करिए, धर्मध्यान में रमण करिए, जिनवाणी को जीवन में ग्रहण कीजिए, तभी आत्म-कल्याण संभव है।

आनंद ही आनंद !

□□